हिन्दी-गद्य-काव्य

डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश',

रीडर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

प्रथम संस्करण, १९५८
द्वितीय संस्करण, १९६८

मूल्य : [illegible] रुपये   मूल्य २०.००

प्रकाशक :
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
दिल्ली-६

मुद्रक :
नवीन प्रेस, दिल्ली-६

आदरणीय गुरुवर
पण्डित जगन्नाथजी तिवारी को सादर

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

गद्य-काव्य की परिभाषा

(पृष्ठ १७ से पृष्ठ ४१ तक)

द्वितीय अध्याय

हिन्दी-गद्य-काव्य का इतिहास

(पृष्ठ ४२ से पृष्ठ ६४ तक)

तृतीय अध्याय

गद्य-काव्यात्मक कृतियों का प्रवृत्तिगत विभाजन

(पृष्ठ ६५ से पृष्ठ ११५ तक)

चतुर्थ अध्याय

भाषा, अलंकार, रस और भाव-व्यंजना-शैली के रूप

(पृष्ठ ११६ से पृष्ठ १५७ तक)

पंचम अध्याय

गद्य-काव्य और मनोविज्ञान

(पृष्ठ १५८ से पृष्ठ १८१ तक)

षष्ठ अध्याय

गद्य-काव्य और दर्शन

सप्तम अध्याय

उपसंहार

परिशिष्ट-१

गद्य-काव्य के प्रमुख लेखक

परिशिष्ट-२

कुछ पत्र

परिशिष्ट-३

कालक्रमानुसार गद्य-काव्य की कृतियाँ

परिशिष्ट-४

लेखकानुसार गद्य-काव्य की कृतियाँ

परिशिष्ट-५

सहायक ग्रन्थ-सूची

पुनश्च :

भूमिका

हिन्दी के अध्ययनशील विद्वान् और भावुक कवि पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' द्वारा प्रस्तुत यह प्रबन्ध हिन्दी-साहित्य की अति प्रचलित विधा—गद्य-काव्य की गवेषणापूर्ण विवेचना है। संस्कृत में कथा और आख्यायिका के लिए गद्य-काव्य शब्द का प्रयोग किया गया है। भामह और दण्डी के ग्रन्थों में इसका इसी अर्थ में उल्लेख है। संस्कृत के आचार्यों ने इसके चार भेद निर्दिष्ट किए हैं—(१) समासरहित मुक्तक, (२) पद्यांशों वाली वृत्तगन्धि, (३) लम्बे समासों वाली उत्कलिका और (४) छोटे समास वाला चूर्णक। इन भेदों में हम आधुनिक गद्य-काव्य के विविध रूपों को परिगणित कर सकते हैं। समासरहित मुक्तक में एक भाव-केन्द्रित गद्य-काव्य, पद्यांशों वाली वृत्तगंधि में लय-समन्वित गीत-काव्य (म्युज़िकल प्रोज़), लम्बे समासों वाली उत्कलिका में काव्यात्मक भाषा-प्रवाह-समन्वित आख्यायिका अथवा निबन्ध, और छोटे समास वाले चूर्णक में एकभावात्मक लयमय गद्य-काव्य (लिरिकल प्रोज़) का समावेश किया जा सकता है।

काव्यात्मक गद्याभिव्यक्ति के लिए हिन्दी में गद्य-गीत और गद्य-काव्य—ये दो शब्द अधिक प्रचलित हैं। गद्य-गीत का स्वरूप यद्यपि गद्य का होता है, तो भी उसकी आत्मा में भाव-विशेष की गीतात्मकता अन्तर्हित रहती है। गद्य-काव्य की यह विधा छन्दोबद्ध गीति-काव्य (लिरिक) की समानधर्मा है। गीति-काव्य और गद्य-गीत के उपकरणों में प्रायः एकता है। दोनों के लिए आवश्यक हैं (१) भावावेश, (२) अनुभूति की तलस्पर्शिणी गहनता, (३) अलंकृत अथवा अनलंकृत प्रवाही भाषा। जिस प्रकार 'लिरिक' में एक ही भाव लहर उठता है, उसी प्रकार गद्य-गीत में भी एक ही भाव की अनुभूति तीव्र होकर भावावेश के सहारे व्यक्त होती है। भाषा के प्रवाही होने से भाव गा उठता है। कोमल भावनाएँ—शृंगार, करुण-गद्य-गीत को सरस बनाती हैं। गद्य-काव्य गद्य-गीति की तरह एक भाव में बद्ध नहीं रहता और न वह केवल कोमल भावों की ही अभिव्यक्ति का साधन बनता है। उसमें परुष भाव भी ग्रथित हो सकते हैं। उसमें गेयताभास की भी आवश्यकता नहीं है। उस पर सीमा का भी बन्धन लागू नहीं होता। वह बिहारी के दोहे के समान द्विपदी हो सकता है और बाण की 'कादम्बरी' के समान बहुसंख्यपदी भी। गद्य-गीत में भावावेश की प्रधानता होती है और गद्य-काव्य में कल्पना-तत्त्व की। पद्य के समान ही गद्य-काव्य अथवा गद्य-गीत आत्मनेपदी और परस्मैपदी हो सकता है। उसमें क्रमशः आत्मोल्लास अथवा आत्मविषाद तथा पर-दुःख-सुख-प्रकाश पाया जाता है। बाह्य-वृत्ति-निरूपक (परस्मैपदी) गद्य-गीत या गद्य-काव्य में गद्य-कवि वस्तु का दर्शक-मात्र रहता है और अन्तरवृत्ति-निरूपक (आत्मनेपदी) गद्य-गीत अथवा गद्य-काव्य में दृश्य और द्रष्टा में कोई भेद नहीं रह जाता। बाह्य जगत् भी कवि के अन्तर-जगत् में सायुज्य मुक्ति-लाभ करता है। ऐसी स्थिति में अन्तरवृत्ति-निरूपक गद्य-गीत अथवा गद्य-काव्य में सृष्टि का सुख-दुःख स्रष्टा का सुख-दुःख बनकर निःसृत होता है।

जब गद्य भी कवि की अन्तर्प्रेरणा से सत्यानुभूति को प्रकाशित करने लगता है तब उसका पद्य से अन्तर खोजना कठिन हो जाता है। व्यवहार की सुविधा के लिए ही हमने ललित भावों की अभिव्यक्ति को बाह्य रूप के आधार पर गद्य और पद्य का नाम दे रखा

है। जहाँ तक इन दोनों की आत्मा का सम्बन्ध है, उनमें भेद के स्थान पर अभेद ही दृष्टि-गोचर होता है। रवीन्द्रनाथ साहित्य के अन्तर्द्रष्टा थे। इसीलिए उन्होंने लिखा है, "गद्य-साहित्य के आरम्भ से ही उसके अन्तर में प्रविष्ट हुई है छन्द की अन्तःसलिला धारा", फिर भी वे गद्य को रागिनी नहीं मानते, क्योंकि उसमें "ताल, तान और सुर का आभास मात्र है।" परन्तु यह अमान्यता गद्य के बाह्य रूप के कारण ही प्रतीत होती है। जब उससे "अन्तःसलिला धारा प्रवाहित होती है" तब उसकी गति में संगीत नहीं है, इसे हम कैसे मान सकते हैं? और गद्य जब गीत की कोटि में पहुँच जाता है तब वह बेसुरा, बेतान और बेताल रह भी कैसे सकता है? फिर तान, ताल तथा सुर का लक्ष्य भी क्या है? मन-रंजन ही न? यदि गद्य-गीत है तो उसमें बाहरी ताल, तान और सुर भले ही न हों, मन को प्रसादित करने की क्षमता तो है ही। इस प्रकार हम अतुकान्त गद्य-गीत और तुकान्त पद्य-गीत में कोई मौलिक भेद नहीं देखते। बाह्य दृष्टि से ही उनमें छन्दमुक्तता और छन्दोबद्धता का भेद लक्षित होता है। और फिर हम यह कैसे मान लें कि गद्य-गीत निश्छन्द है? क्या उसके भाव हृदय-तन्त्री पर हल्का आघात करके उसे झनझना नहीं देते? यह झनझनाहट क्या बिना किसी लय के सम्भव है? ध्वनि ही तो प्रतिध्वनित होती है और जिस ध्वनि में हृदय को रागमय बना देने की क्षमता है वह क्या छन्द नहीं है? छन्द, छद् धातु से बना है, जिसका अर्थ आच्छादित अथवा आह्लादित करना है। आह्लाद नपी-तुली पंक्तियों से ही सम्भव नहीं है। जब भाव की रागिनी बजने लगती है, हृदय-कमल की एक पंखुड़ी मुकुलित होने लगती है और अंग-अंग में विभोरता छाने लगती है। गद्य-गीत के छन्द को हम पिंगल शास्त्र से कोई नाम भले ही न दे सकें, पर उसमें छन्द की प्रभविष्णुता अवश्य है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। जब कलाकार के अन्तर में सत्य ज्वारभाटे की तरह हहर उठता है तब वह छन्द, अलंकार, रीति, गुण आदि सभी शास्त्रीय बाँधों को तोड़कर बाहर फूट पड़ता है।

जहाँ तक गद्य और पद्य की सृष्टि के क्रम का सम्बन्ध है, दोनों में कवि की मान-सिक क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं पाया जाता। दोनों के भाव-विभाव समान रूप से मन को उस भूमिका में ले जाते हैं जहाँ से रस की निर्झरिणी प्रवाहित होती है।

प्रस्तुत प्रबन्ध-लेखक ने गद्य-काव्य की व्याख्या, व्याप्ति और सीमा पर सम्यक् रूप से प्रकाश डालकर यह ठीक ही निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दी में गद्य की यह विधा स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है और उसका विकास बहुत-कुछ अपनी ही पद्धति पर हुआ है। रवीन्द्र-नाथ की 'गीतांजलि' से हिन्दी में गद्य-काव्य का प्रारम्भ हुआ, यह बात सर्वांश में ठीक प्रतीत नहीं होती। उसे हिन्दी में गद्य-काव्य की प्रेरक-शक्ति इसी अर्थ में माना जा सकता है कि उसने छायावादी युग के कवियों को एक शैली-विशेष में लिखने के लिए आकर्षित किया और एक रुचि-विशेष को प्रसारित किया। हिन्दी में 'गीतांजलि' के अवतरित होने के पूर्व से गद्य-काव्य की परिपाटी चल पड़ी थी। हरिश्चन्द्र के नाटकों में, विशेषकर 'चन्द्रावली' नाटिका में स्थल-स्थल पर गद्य-काव्य की मधुरिमा अनुभूत होती है। अतएव लेखक के इस कथन से किसी को मतभेद नहीं हो सकता कि हिन्दी-गद्य-काव्य के वास्तविक जन्मदाता 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' हैं। यों ऐतिहासिक दृष्टि से उनके पूर्व भी ललित गद्य की

रचना हुई है और गद्य-काव्य भी अवतरित हुआ है। उदाहरण के लिए अपभ्रंश तथा आधुनिक हिन्दी के संक्रान्तिकाल में रचित विद्यापति की 'कीर्तिलता' में जो गद्य है वह यद्यपि ऐतिहासिक वर्णन है तो भी कवि की आत्मा से उच्छ्वसित है। उसका गद्य काव्य से रंजित है। उसमें नागर-वेश्याओं का कितना कवित्वपूर्ण वर्णन है। उसका कुछ अंश इस दृष्टि से उद्धृत किया जाता है कि उसमें हिन्दी का आभास भी मिलता है—

"तान्हि वेश्यान्हि करो सुख सार मण्डन्ते अलक तिलका पत्रावली खंडन्ते, दिव्याम्बर पिन्धन्ते, उभारि-उभारि केशपास बन्धन्ते। सखि जन प्रेरन्ते, हँसि हेरन्ते।··· तान्हि केस कुसुम वस, जनु मान्यजनक लज्जावलम्बित मुखचन्द्र चन्द्रिका करी अधओगति देखि अन्धकार हँस। नयनांजल संचारे भ्रूलता भंग, जनु कज्जल कल्लोलिनी करी वीचि विवर्त बड़ी-बड़ी शफरी तरंग। अति सूक्ष्म सिन्दूर रेखा निन्दन्ते पाप, जनु पंचशर करो पहिल॥ प्रताप। दोखे हीनि, माझ खीनि, रसिकें आनलि जूआ जीति, पयोधर के भरे भागए चाह, नेत्र करे त्रितिय भाग भुअण साह। ससँर वाज, राअन्हि छाज। काहु होअ अइसिनो आस, कइसे लागत आंचर वतास। तान्हि करी कुटिल कटाक्षछटा कन्दर्पशरश्रेणी जओ नागरन्हि॥ का मन गाड, गो बोलि गमारन्हि छाड।"

(वे वेश्याएँ सुखपूर्वक मंडन करती हैं, अलकों को सजातीं, तिलक और पत्रावली के खंड लगातीं, दिव्य वस्त्र धारण करतीं, खोल-खोलकर केश-पाश बाँधतीं, सखियों से छेड़खानी करतीं, हँसते हुए एक-दूसरे को देखतीं।···उनके केश में फूल गुँथे होते। ऐसा लगता मानो मानजनित लज्जा के कारण झुके हुए मुखचन्द्र की चन्द्रिका की अधोगति देखकर अंधकार हँस रहा है। नेत्रों के संचार से भौंहें तिर्यक् हो जातीं मानो कज्जल जला सरिता की लहरों में बड़ी-बड़ी मछलियाँ (हों) सिन्दूर की अतिसूक्ष्म रेखा पाप (वेश्या जीवन) की निन्दा करती थीं। यह रेखा मानो कामदेव के प्रताप का प्रथम चिह्न है। दोष-हीन, क्षीण कटि वाली, मानो रसिकों ने जूए में जीतकर प्राप्त किया है? पयोधर के भार से भागना चाहती है, नेत्र के तीसरे (श्याम, श्वेत, रक्त) भाग से वह संसार को अनुशासित करती है। सस्वर बाजे बजते हैं, यह सब राजों (?) को शोभा देने योग्य है। कोई भी ऐसी आशा रखता है कि किसी तरह आँचल की हवा लग जाती। उनकी तिर्यक् कटाक्ष-छटा कामदेव की बाण-पंक्ति की तरह सभी नागरों के मन में गड़ जाती। बैल कहकर गँवारों को छोड़ देती।)[1]

विद्यापति के सरस गद्य से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिन्दी-गद्य-काव्य संस्कृत और अपभ्रंश की परम्परा से ही अवतरित हुआ है। विद्यापति को हिन्दी का सरस गीति-कवि माना जाता है। क्या उन पर हिन्दी के प्रथम गद्य-कवि का भी सेहरा बाँधा जा सकता है? आपत्ति यही हो सकती है कि 'कीर्तिलता' के गद्य पर 'अवहट्ट' की छाप लगी हुई है।

लेखक ने गद्य-काव्य-कृतियों का प्रकृतिगत विभाजन किया है। इसमें विवेचन की सुविधा की दृष्टि जान पड़ती है। वास्तव में गद्य और पद्य के जो विषय हो सकते हैं वे सब गद्य-काव्य की छटा लेकर अवतीर्ण हो सकते हैं। उनका विषय मानव-जगत् हो सकता है।

१. शिवप्रसाद सिंह 'कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा', पृष्ठ ४० और ७३-७४।

"न स शब्दो न तद्वाच्यं, न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥

दो प्राणों का परस्पर आकर्षण नित्य सत्य है। अतः यही अधिकांश गद्य-गीतों का विषय रहा है। यह रति-भाव मानव या प्रकृति के माध्यम से अज्ञात सत्ता के प्रति भी व्यंजित हुआ है। जहाँ दिनेशनन्दिनी के सदृश गद्य-कवि ससीम में असीम को तीव्रता से अनुभव करने लगता है वहाँ गद्य-गीत में भावावेश स्वभावतः प्रधान हो जाता है। जो गद्य-गीत आत्मपरक होते हैं, उनमें गीत-काव्य की सरसता सहज दृष्टिगोचर होती है। विद्वान् लेखक ने हिन्दी-साहित्य के सभी प्रवृत्तिमय गद्य-गीतों का विश्लेषण किया है। मेरा अपना मत है कि गद्य-गीत की रचना में दिनेशनन्दिनी और गद्य-काव्य की रचना में माखनलाल-सी भावुकता और कल्पनाशीलता बहुत कम गद्य-कवियों में परिलक्षित होती है। सूक्तिकार की दृष्टि से माखनलाल का प्रतिद्वन्द्वी कदाचित् ही कोई हिन्दी-कवि हो। विरोधाभास की सरस साधना भी उन्हीं के बाँटे पड़ी है।

लेखक ने चतुर्थ अध्याय में गद्य-काव्य की शैली की चर्चा की है। वास्तव में काव्य की विवेचना के समय शैली से जो अर्थ हम ग्रहण करते हैं, वही अर्थ गद्य-काव्य-शैली में भी निहित है। लेखक ने भाषा-शैली की दृष्टि से शब्द-संगठन और प्रवाह की रूपरेखा प्रस्तुत की है, जिससे उसकी सूक्ष्म निरीक्षण-प्रवृत्ति का पता चलता है। उसने प्रवाह के चार भेद किए हैं—धारा, तरंग, विक्षेप और प्रलाप; जो उसकी अपनी सूझ है। धारा-प्रवाह शब्द तो प्रचलित है ही। जिस रचना में भावों की धारा एक गति से चलती है वह धारा-प्रवाही रचना कहलाती है। ऐसी कृति अकृत्रिम और सरल होती है। "तरंग-शैली के भाव लहराते हुए प्रतीत होते हैं और तरंग की भाँति उठते-गिरते-से लगते हैं।" विक्षेप-शैली में तारतम्य-नियन्त्रण का अभाव रहता है और प्रलाप-शैली में "भावावेश का वेग मर्यादा से बाहर हो जाता है।" प्रवाह-भेदों की उपर्युक्त व्याख्या लेखक की अपनी है, जो गद्य-काव्य के विभिन्न रूपों के मनोयोगपूर्ण अध्ययन का परिणाम है। गद्य-काव्य में पद्य-काव्य (व्हर्सीफाइड पोएट्री) के अनुसार ही अलंकारों की योजना होती है। लेखक ने हिन्दी-गद्य-कवियों की कृतियों में प्रयुक्त अलंकारों का निर्देश किया है। उसने नायिका-भेद की दृष्टि से हिन्दी-गद्य-काव्यों की परीक्षा की है। इसमें भी उसकी शोधक सूझ दिखलाई देती है। हिन्दी-गद्य-कवियों में केवल दिनेशनन्दिनी के गद्य-काव्य में ही उसे नायिका-भेद की प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। रस की दृष्टि से भी हिन्दी के गद्य-काव्य का विश्लेषण किया गया है। यों तो प्रत्येक भाव गद्य-काव्य में समा सकता है पर प्रत्येक भाव गद्य-गीत को गति और लय प्रदान नहीं कर सकता। इसलिए हमने ऊपर कहा है कि गद्य-गीत के लिए करुण और शृंगार—(संयोग और वियोग, लौकिक या पारलौकिक, मानव अथवा मानवेतर) भाव ही अधिक अनुकूल पड़ते हैं।

गद्य-काव्य में वर्णित भावों के मूल को मनोविज्ञान की कसौटी पर कसा गया है। अरस्तू ने विकार-विरेचन को मनोविकारों की शुद्धि के लिए आवश्यक माना है। उसके मत से दुःखान्तिका में भय अथवा करुणा के प्रदर्शन से दर्शकों के मन की भय और करुणा की भावना निष्कासित हो जाती है। परिणामतः दर्शक भयानक और दुःखपूर्ण घटनाओं के

दर्शन से भी प्रसन्नता अनुभव करता है। फ्रायड का साहित्य के मूल में अतृप्त वासनाओं की तृप्ति का सिद्धान्त मूलतः अरस्तू का 'विरेचन-सिद्धान्त' ही प्रतीत होता है। हिन्दी-गद्य-काव्य से उदाहरण देकर लेखक ने उनमें फ्रायड और समसामयिक मनोवैज्ञानिकों की मान्यताओं की खोज की है।

हिन्दी-गद्य-काव्यों में भारतीय दर्शन की किन शाखाओं की झलक मिलती है, इसका भी सम्यक् निरूपण किया गया है। ब्रह्म क्या है? वह निर्गुण है अथवा सगुण? ब्रह्म और जीवन का परस्पर क्या सम्बन्ध है? जगत् सत्य है अथवा माया? वह दुःखमय है अथवा सुखमय? उसे रंगमंच कहा जाए या विश्राम-गृह? वह स्थायी है अथवा परिवर्तनशील? जीवन क्या है? अनन्त है अथवा क्षणिक? मृत्यु शान्तिदायिनी है अथवा कष्टकर? आदि अनेक प्रश्न हैं जिन पर दार्शनिकों ने विचार किया है। कवि द्रष्टा होता है। इसलिए इन सब प्रश्नों के प्रति उसकी जिज्ञासा होती है। हिन्दी-गद्य-कवियों ने भी इन प्रश्नों पर विचार किया है। लेखक के शब्दों में "यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इस दार्शनिक अभिव्यक्ति में मृत्यु को सुखद मानना, मुक्ति के स्थान पर बन्धन को स्वीकार करना और दीनों के प्रेम में परमात्मा की प्राप्ति के सिद्धान्तों की नवीन रूप में प्रतिष्ठा हुई है।" लेखक हिन्दी-गद्य-गीत में रवीन्द्र की 'गीतांजलि' का प्रवाह देखता है, जो मात्रा की दृष्टि से विवादास्पद हो सकता है। हिन्दी के बहुत-से ऐसे गद्य-कवि हैं, जो अपनी गद्य-कविता के सर्जनकाल तक 'गीताञ्जलि' की आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो पाए थे। बहुतों को न तो बँगला का ज्ञान है और न भली-भाँति अंग्रेजी का ही। फिर भी उनके गद्य-गीतों में 'गीताञ्जलि' के दर्शन की आभा देखी जा सकती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन पर 'गीताञ्जलि' का प्रभाव है।

हाँ तो जब कभी कवि तीव्रता से किसी भाव-विशेष को अनुभव करता है तब उसकी अभिव्यक्ति में कोई दार्शनिक भाव झलक ही उठता है। 'स्पन्दन' की गद्य-कवयित्री जब यह कहती है—"लिखते-लिखते लेखनी स्थूल और कल्पना शिथिल हो गई, पर तेरा सौंदर्य ज्यों-का-त्यों अछूता और अलभ्य रहा।

गाते-गाते प्रेम की परिभाषाएँ बदल गईं पर तेरा सौंदर्य प्रेमी और कृपण दोनों में समान रहा।

मानव, विचारों की ग्रंथियाँ खोलता-खोलता स्याह से श्वेत हो गया, फिर भी जिस चीज को तूने गुप्त रखना चाहा वह आज तक किसी पर भी प्रकट न हो सकी।" तब क्या उसने किसी दार्शनिक तत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए लेखनी उठाई थी? क्या अपरोक्ष 'रहस्यमय' की गोपनीयता ने उसे प्रेरित किया था? क्या उसका हृदय प्रेम के प्रतिदान को न पाकर अस्वस्थ नहीं हो उठा? क्या प्रयत्न करने पर भी किसी के अन्तर की थाह न पाकर वह व्यग्र नहीं हो उठी? हमारा विश्वास है कि उसकी दार्शनिक अभिव्यक्ति की प्रेरणा में उसके हृदय की ही सिसकन है, उसका ही अभाव है और इसीलिए वह 'काव्य' है, 'दर्शन' नहीं।

अतएव जहाँ प्रबन्ध-लेखक ने गद्य-काव्य के दर्शन की विश्लेषणा की है वहाँ उसका ध्येय उसमें दर्शन-तत्त्व को खोज रहा है जिसे हम अभिव्यक्ति का गौण और बाह्य रूप मानते हैं। आज की समीक्षा-पद्धति काव्य में कवि-दर्शन अथवा कवि-सन्देश की छानबीन

किए बिना अग्रसर होती ही नहीं। काव्य-सम्बन्धी प्रबन्ध की विवेचना का यह एक आवश्यक अंग माना जाता है। हमें सन्तोष है कि लेखक ने इस परिपाटी का सफलता के साथ निर्वाह किया है।

परिशिष्ट में ख्यातिलब्ध गद्य-गीतकारों के जीवन की झलक और उनके कृतित्व पर अल्प प्रकाश डाला गया है। उसमें एक शोध-अध्येता की तटस्थ वृत्ति के दर्शन होते हैं। आलोच्य गद्य-काव्यकार के रचना-वैशिष्ट्य की ओर स्पष्ट मार्मिक संकेत किया गया है। पूर्व अध्याय में शैलियों की चर्चा करते समय यों प्रसंगवश उनका मूल्यांकन हो चुका है। फिर भी परिशिष्ट में उनके परिचय और कृतित्व पर क्रमिक विवेचना अपेक्षित थी ही।

यह हो सकता है कि कुछ गद्य-कवियों की ओर लेखक का ध्यान न गया हो, क्योंकि हिन्दी का क्षेत्र अब मध्यदेश की सीमा तक सीमित नहीं रहा। वह अखिल राष्ट्र को घेरता जा रहा है। ऐसी दशा में सभी लेखकों की कृतियों का संग्रह करना दुष्कर ही है। इसके अतिरिक्त, वे ही गद्य-कवि अध्ययन के विषय बनाये जाते हैं जो विशिष्ट शैली के प्रवर्तक अथवा प्रचारक हैं।

श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' में भावुकता, अन्वेषण और विश्लेषण-दृष्टि होने के कारण उनका यह ग्रन्थ विद्वत्तापूर्ण ही नहीं, विदग्धतापूर्ण भी है। उनकी लेखन-शैली आदि से अन्त तक गद्य-काव्य का आस्वाद देती है। उदाहरण के लिए उपसंहार का एक वाक्य दिया जाता है—"हिन्दी-गद्य-काव्य की नवल वल्लरी ने नवयुग के अग्रदूत भारतेन्दु बाबू की वाणी की सरस रस में अंकुरित और विश्व-कवि रवि ठाकुर की कल्पना के वासन्ती वायु-मण्डल में पुष्पित और पल्लवित होकर अपनी मादक सुरभि से समस्त साहित्यिक जगत् को मतवाला बना दिया।" जब हम लेखक के प्रबन्ध में गद्य-काव्य की सरसता के अनुभव का उल्लेख करते हैं तब उसका यह अर्थ नहीं है कि उसकी विवेचना में सर्वत्र भावुकता का साम्राज्य है, क्योंकि विवेचना जब भावातिरेक में कल्पना से अधिक 'पल्लवित और पुष्पित' होने लगती है तब वह व्यावहारिक नहीं रह जाती, स्वयं काव्य बनकर विवेच्य हो जाती है। हमारा आशय यही है कि लेखक ने तर्कपूर्ण विवेचन को तर्क के सदृश ही नहीं रहने दिया।

हिन्दी-जगत् में वर्षों से जो धारणा चली आ रही थी कि उसमें गद्य-काव्य का आविर्भाव रवीन्द्र या बँगला की देन है, इसे लेखक ने पुष्ट प्रमाणों और अकाट्य तर्कों द्वारा भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। उसने अपने इस विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध से यह भी प्रमाणित कर दिया है कि हिन्दी को छोड़कर किसी भी भारतीय भाषा में गद्य-काव्य का साहित्य की एक स्वतन्त्र विधा के रूप में विविधता के साथ विकास नहीं हुआ। हमें सन्तोष है कि हिन्दी-साहित्य के इस उपेक्षित, किन्तु महत्त्वपूर्ण सरस अंग का लेखक द्वारा जो वैज्ञानिक विवेचन हुआ है, वह अनेक दृष्टि से मौलिक और अभूतपूर्व है। इसके लिए वह बधाई का पात्र है।

हिन्दी में प्रथम बार उसकी इस महत्त्वपूर्ण साहित्य-विधा का गवेषणापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हो रहा है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी-जगत् में उसका स्वागत होगा और संदर्भ-ग्रन्थ की तरह उपयोग भी होगा।

अध्यक्ष एवं आचार्य, हिन्दी विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

—विनयमोहन शर्मा

द्वितीय संस्करण के प्रकाशन पर

मेरे 'हिन्दी-गद्य-काव्य' शोध-प्रबन्ध का यह द्वितीय संस्करण संशोधित और परिवर्धित रूप में हिन्दी के विद्वानों और आलोचकों के समक्ष आ रहा है। इसका प्रथम संस्करण बहुत शीघ्र समाप्त हो गया था, किन्तु कुछ तो मेरी प्रमादावस्था और कुछ प्रकाशक की कठिनाई के कारण इसका सौभाग्योदय अब से पहले नहीं हो पाया। मुझे इस पर भी प्रसन्नता है। इसका कारण यह है कि पाठ्य-क्रम से सम्बद्ध विषयों पर लिखे शोध-प्रबन्ध तो पुनर्जन्म के भागी होते हैं, किन्तु जो शुद्ध ज्ञानार्जन की दृष्टि से लिखे जाते हैं, उनको या तो एक बार भी प्रकाशित होने का अवसर ही नहीं मिलता, या मिलता भी है तो वे बहुत दिन तक पुस्तक-विक्रेताओं की न बिकने वाली पुस्तकों की संख्या बढ़ाते रहते हैं। मेरा यह शोध-प्रबन्ध अपने विषय की प्रथम मौलिक एवं प्रामाणिक कृति होने के कारण ही नहीं, अपनी साहित्यिक गरिमा के कारण भी लोकप्रिय हुआ और शीघ्र बिक गया। यही नहीं, विद्वानों ने भी इसकी मुक्तकण्ठ से सराहना की। महाकवि 'दिनकर' ने तो रवीन्द्र जयन्ती पर 'इलस्ट्रेटेड वीकली' में जो लेख लिखा था, उसमें इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। इस सबसे मुझे सन्तोष ही नहीं, अपने श्रम की सार्थकता का भी बोध हुआ।

प्रथम संस्करण के समय मैं प्रवास में था। उसके मुद्रण और प्रूफ़-संशोधन का भार बन्धुवर श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने वहन किया था। इस कारण उसमें न तो मैं अपना 'निवेदन' ही जोड़ सका और न कृपालु गुरुजनों और स्नेही मित्रों को धन्यवाद ही दे सका। 'निवेदन' जोड़ना तो अब भी व्यर्थ लगता है। हाँ, धन्यवाद देना मैं अपना पावन कर्त्तव्य समझता

हूँ। इस दृष्टि से सर्वप्रथम मैं श्रद्धेय गुरुवर पं० जगन्नाथजी तिवारी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके कुशल निरीक्षण में यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण हुआ था। तदनन्तर पूज्य आचार्य श्री विनयमोहन शर्मा का आभारी हूँ, जिन्होंने इसकी 'भूमिका' लिखकर मेरा उत्साह ही नहीं बढ़ाया, वरन् उसे तैयार करने में भी मेरी पर्याप्त सहायता की। परीक्षकों ने बहुमूल्य सुझाव दिये, उनके लिए भी मैं उनका ऋणी हूँ। प्रेस में जाने से पूर्व इसे पढ़कर अपनी मूल्यवान् सम्मतियाँ देने के लिए मैं स्वर्गीय बाबू गुलाबराय, डॉ० सत्येन्द्र और डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का भी सश्रद्ध स्मरण करता हूँ। बन्धुवर श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' को धन्यवाद देना अपने प्रति उनके स्नेह को कम करके आँकना होगा, किन्तु राजकमल प्रकाशन के संचालकों को धन्यवाद दिए बिना मैं नहीं रह सकता, जिन्होंने मेरे प्रति सदैव आत्मीयता प्रदर्शित की है।

अन्त में जिन कृती कलाकारों की रचनाओं के आधार पर यह शोध-प्रबन्ध लिखा गया, जिन विद्वानों ने इस विषय पर अपने बहुमूल्य विचार व्यक्त किये, और जिन संस्थाओं के पुस्तकालयों से मैंने लाभ उठाया उन सभी के प्रति विनयावनत होता हुआ अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

१ जनवरी, १९६८

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
रीडर, हिन्दी विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र

हिन्दी-गद्य-काव्य

प्रथम अध्याय

गद्य-काव्य की परिभाषा

संस्कृत में गद्य-काव्य का स्वरूप—गद्य-काव्य आधुनिक हिन्दी-साहित्य का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। उसके स्वरूप को समझने के लिए संस्कृत-साहित्य की परम्परा को देखना आवश्यक है; क्योंकि हिन्दी-साहित्य ने संस्कृत का उत्तराधिकार प्राप्त किया है और उसके विविध रूप संस्कृत से प्रभावित हुए हैं। गद्य-काव्य भी इसका अपवाद नहीं है। संस्कृत में उसका विस्तृत और विशद परिचय मिलता है। उसकी शास्त्रीय व्याख्या भी उपलब्ध है। अत: सर्वप्रथम संस्कृत में गद्य-काव्य के स्वरूप पर विचार करना होगा। उसके पश्चात् ही आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्य से उसका भेद स्पष्ट करके आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्य की उपयुक्त और पूर्ण परिभाषा का प्रयत्न किया जा सकेगा।

संस्कृत-साहित्य में गद्य, पद्य और चम्पू—इन तीनों प्रकार की रचनाओं को काव्य के अन्तर्गत माना गया है। छन्दोबद्ध पद को पद्य कहा गया है।[1] गद्य और पद्य से युक्त रचना को चम्पू का नाम दिया गया है।[2] गद्य चार प्रकार का माना गया है—मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय, और चूर्णक। पहला समास-रहित होता है, दूसरे में पद्य के अंश रहते हैं, तीसरे में दीर्घ समास रहते हैं और चौथे में छोटे-छोटे समास रहते हैं।[3] इसके साथ ही गद्य-काव्य के दो भेद किये गए हैं—१. कथा और २. आख्यायिका। कथा वह है जिसमें सरस वस्तु गद्य में निबद्ध हो। इसमें कहीं-कहीं आर्या छन्द और कहीं-कहीं वक्त्र तथा अपवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भ में पद्यमय नमस्कार तथा खलादिकों का चरित निबद्ध होता है। जैसे कादम्बरी। आख्यायिका भी कथा के समान होती है। इसमें विशेषता इतनी ही होती है कि इसमें कवि के वंशादि का वर्णन होता है और कहीं-कहीं

---

१. छन्दोबद्ध पदं पद्यं। 'साहित्य दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोकांश ३१४।

२. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। वही, श्लोकांश ३३६।

३. वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिका प्रायं, चूर्णकं च चतुर्विधम्॥
आद्यं समास रहितं वृत्तभागयुतं परम्।
अन्यद्दीर्घ समासाढ्यं तुर्यं चाल्पसमासकम्॥ वही, श्लोक ३३०, ३३१, ३३२।

अन्य कवियों के वृत्तान्त तथा पद्य भी समाविष्ट होते हैं। यहाँ कथा-भागों का नाम 'आश्वास' रखा जाता है। आर्या, वक्त्र या अपवक्त्र छन्द द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के आरम्भ में अगली कथा की सूचना दी जाती है। जैसे हर्षचरित।[1]

'अग्नि पुराण' में गद्य-काव्य पाँच प्रकार का बताया गया है—१. आख्यायिका, २. कथा, ३. खण्ड-कथा, ४. परिकथा, और ५. कथानिका। जिस गद्य में विस्तारपूर्वक कर्ता के वंश की प्रशंसा, कन्या-हरण, संग्राम, वियोग और विपत्ति का वर्णन हो, रीति आचरण और स्वभावों का विशेष रूप से स्पष्टीकरण हो, उसके प्रत्येक परिच्छेद को उच्छ्वास कहा जाए। जहाँ कहीं वक्त्र अथवा अपवक्त्र छन्द हों वह आख्यायिका कहलाती है। जिसमें कवि संक्षेप में श्लोकों में अपना वर्णन करे, प्रधान ध्येय की साधना के लिए प्रासंगिक कथाओं का समावेश हो, परिच्छेद न हों, हों तो लम्बक हों और मध्य में चतुष्पदी हो, तो वह कथा कहलाती है। खण्ड-कथा और परिकथा दोनों ही में राज-मन्त्रि-कुल का अथवा ब्राह्मण नायक होता है, करुण रस रहता है, चार प्रकार का विरह रहता है। भेद इतना ही है कि खण्ड-कथा समाप्त नहीं हो पाती और ग्रन्थ समाप्त हो जाता है तथा इसकी भंगी कथा-जैसी होती है, परन्तु परिकथा में कथा पूरी होती है और कुछ कथा एवं कुछ आख्यायिका का भी ढंग होता है, जिसमें आदि में भयानक, अन्त में सुखमय (संयोग-शृंगारादि), मध्य में करुण तथा सबके अन्त में सबको जोड़कर अद्भुत रस हो और उदात्त प्रकृति न हो वह कथानिका कहलाती है।[2]

---

१. कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके॥
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम्।
'''यथा कादम्बर्यादि।
आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम्।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित्॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते।
आर्या वक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित्॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम्।
यथा च हर्षचरितादिः। 'साहित्य दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, श्लोक ३३२-३३६।

२. आख्यायिका कथा खंडकथा परिकथा तथा।
कथानिकेति मन्यते गद्यकाव्यञ्च पञ्चधा॥१२॥
कर्तृवंश प्रशंसा स्याद् यत्र गद्येन विस्तरात्।
कन्याहरण संग्रामविप्रलम्भ विपत्तयः॥१३॥
भवन्ति यत्र दीप्ताश्च रीतिवृत्ति प्रवृत्तयः।
उच्छ्वासैश्च परिच्छेदो यत्र या चूर्णकोत्तरा॥१४॥
वक्त्रं वाऽपरवक्त्रं वा या सा ख्यायिका स्मृता।
श्लोकैः स्ववंशं संक्षेपात् कवियंत्र प्रशंसति॥१५॥
मुख्यस्यार्थाऽवतराय भवेद् यत्र कथान्तरम्।
परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद् वा लम्बकैः क्वचित्॥१६॥

दण्डी के 'काव्यादर्श' में भी काव्य के गद्य, पद्य तथा मिश्र[1] तीन भेद करके गद्य-काव्य की परिभाषा दी है और उसके कथा तथा आख्यायिका दो भेद किये हैं।[2] इसके साथ ही वे इन दोनों—कथा और आख्यायिका को एक ही मानते हैं।[3] इस प्रकार संस्कृत में 'गद्य-काव्य' शब्द का प्रयोग केवल कथा और आख्यायिका के लिए ही मिलता है। यही नहीं, श्री अम्बिकादत्त व्यास ने अपनी 'गद्य-काव्य-मीमांसा' पुस्तक में संस्कृत-गद्य-काव्य को उपन्यास का पर्यायवाची माना है।[4] यह पुस्तक सन् १८९६ की है। इस प्रकार १९वीं शताब्दी के समाप्त होने तक 'गद्य-काव्य' शब्द कथा-साहित्य का ही द्योतक रहा है।

संस्कृत के गद्य-काव्य के स्वरूप को दृष्टि में रखकर यदि आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्य को देखें तो वह बाह्य रूप की दृष्टि से संस्कृत की इस परम्परा में नहीं आता, यद्यपि दोनों के आभ्यन्तर स्वरूपों में विशेष अन्तर नहीं है। कारण, संस्कृत के आचार्यों ने रस (भाव और कल्पना) को ही काव्य की आत्मा माना है और काव्य में, जैसा कि कहा जा चुका है, गद्य और पद्य दोनों ही समाविष्ट हो जाते हैं। अस्तु,

अब हम स्वयं हिन्दी-गद्य-काव्य के लेखकों, गद्य-काव्य-कृतियों की भूमिका लिखने वालों और यदा-कदा लेख रूप में अथवा प्रसंगवश अपने विवेचनात्मक ग्रन्थों में गद्य-काव्य के सम्बन्ध में विचार प्रकट करने वाले विद्वानों के विचारों का अन्वेषण और परीक्षण करके उसके द्वारा गद्य-काव्य के मुख्य तत्त्वों को निर्धारित करने की चेष्टा करेंगे।

हिन्दी-गद्य-काव्य का स्वरूप—हिन्दी-गद्य-काव्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए लेखकों और विद्वानों ने 'गद्य-काव्य' और 'गद्य-गीत' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। इन दोनों में जो अन्तर है वह आगे चलकर स्पष्ट किया जाएगा। यहाँ गद्य-काव्य की परिभाषा और विशेषता की दृष्टि से ऐसे कथनों को एक

सा कथा नाम तद्गर्भे निबंन्धीयाच्चतुष्पदीम्।
भवेत् खंडकथा यासौ यासौ परिकथा तयोः ॥१७॥
अमात्ये सार्थकं वापि द्विजं वा नायकं विदुः।
स्यात् तयोः करुणं विद्धि विप्रलम्भश्चतुर्विधः ॥१८॥
समाप्यते तयोर्नाद्या सा कथामनुधावति।
कथाख्यायिकयोर्मिश्रभावात् परिकथा स्मृता ॥१९॥
भयानकं सुखपरं गर्भे च करुणो रसः।
अद्भुतोन्ते सुक्लृप्तार्थो नोदात्ता सा कथानिका ॥२०॥

—'अग्नि पुराण', अध्याय ३३७।

१. पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्। 'काव्यादर्श', १।८।११।
२. अपादः पद सन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा।
इति तस्य प्रभेदो द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥ वही, १।१४।२३।
३. तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यान जातयः ॥ वही, १।१७।२८।
४. गद्य-काव्य को उपन्यास कहते हैं, जैसे 'कादम्बरी' अथवा मेरा 'शिवराज-विजय' इत्यादि।

साथ रखा जाएगा, जिनमें गद्य-काव्य या गद्य-गीत कोई भी शब्द प्रयुक्त किया गया हो; क्योंकि शब्द की अपेक्षा उसमें गद्य-काव्य के स्वरूप के स्पष्टीकरण की दृष्टि ही प्रधान है। अस्तु,

गद्य-काव्य के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये गए हैं—

१. हिन्दी में कविता और काव्य शब्द पद्यमय रचनाओं के लिए ही रूढ हो गए हैं, यद्यपि वस्तुतः कोई भी रचना; जो रमणीय हो, रसात्मक हो, काव्य या कविता है। इसी कारण गद्यमय रचना के लिए हमें गद्य-काव्य या गद्य-गीत का प्रयोग करना पड़ता है।[1] —राय कृष्णदास

२. गद्य-काव्य की परिभाषा मेरी दृष्टि में वही है जो पद्य-काव्य की है। मैं दोनों में कोई अन्तर नहीं देखता हूँ। छन्द में रसात्मक भावों को बाँधा जाए या स्वतन्त्र रहने दिया जाए, कोई अन्तर नहीं पड़ता—हाँ, संगीत अपने स्वरूप में दोनों ही प्रकारों में रहना चाहिए।[2] —वियोगी हरि

३. मेरी सम्मति में गद्य-काव्य या पद्य-काव्य वही है, जिसमें काव्य हो, कवित्व हो। पद्य-काव्य गुनगुनाया भी जा सकता है, गद्य-काव्य हृदय को उल्लसित करने और कल्पना-जगत् में पर उड़ाने की बात है और कोई अन्तर नहीं जान पड़ता।[3]

—वृन्दावनलाल वर्मा

४. मेरी समझ में कल्पना-प्रधान आलेख, जिसमें राग-तत्त्व मिश्रित हो और बुद्धि-तत्त्व नितान्त अप्रधान हो, उसे गद्य-काव्य कहेंगे।[4] —सद्गुरुशरण अवस्थी

५. पद्य के बन्धनों से मुक्त किन्तु उसकी रसमयता से युक्त भावनाओं का शब्दीकरण गद्य-काव्य है।[5] —रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी'

६. छन्दोबद्ध या गति-लय में न जकड़े गए काव्यमय भावोद्गार या वर्णनों को ही गद्य-काव्य कहा जा सकता है। हाँ, गद्य में लिखे जाने के कारण गद्य के विभिन्न नियमों का पालन उनमें किया जाना आवश्यक होता है; परन्तु ये नियम बहुत ही थोड़े एवं साधारण गद्य-सम्बन्धी नियमों से विभिन्न नहीं होते।[6] —रघुवीरसिंह

७. गद्य-गीत साहित्य की भावनात्मक अभिव्यक्ति है। इसमें कल्पना और अनुभूति काव्य-उपकरणों से स्वतन्त्र होकर मानव-जीवन के रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त और कोमल वाक्यों की धारा में प्रवाहित होती है।[7] —रामकुमार वर्मा

८. गद्य-गीत शब्द ही इस बात का द्योतक है कि यह गद्य और पद्य के मध्य की कोई वस्तु है। गद्य : जो अपनी सीमा में नहीं रहा, पद्य की ओर बढ़ गया; गीत : जो

---

१. श्रीमती विद्या भार्गव-लिखित 'श्रद्धांजलि' के 'दो शब्द' में।
२. एक व्यक्तिगत पत्र से।
३. एक व्यक्तिगत पत्र से।
४. एक व्यक्तिगत पत्र से।
५. एक व्यक्तिगत पत्र से।
६. एक व्यक्तिगत पत्र से।
७. 'शबनम' की भूमिका, पृष्ठ १-२।

अपनी परिधि नहीं छू सका, गद्य की ओर लौट आया; दोनों मिलकर गद्य-गीत बन गए। गद्य ने पद्य से कुछ स्वीकार किया और पद्य ने गद्य को कुछ दिया। इस ग्रहण-प्रदान की प्रक्रिया ने हिन्दी में एक नवीन शैली को जन्म दिया। गद्य ने काव्य से भावुकता ली, रस लिया; पर आन्तरिक मिलन के लिए यह कहा कि छन्द के वस्त्र उतारकर आओ! [१]

—विश्वम्भर 'मानव'

९. यद्यपि काव्य प्रायः पद्यात्मक होता है, किन्तु यह उसके लिए अत्यन्त आवश्यक नहीं। काव्य गद्यात्मक भी होता है। पद्य के समान पिंगलादि के नियमों से गद्य मुक्त है। तुकों आदि की सहायता से राग और लय उत्पन्न करके काव्य का उत्कर्ष बढ़ाना एक दृष्टिकोण से छल और माया का व्यापार है। गद्य-काव्य उपर्युक्त कठिनाइयों और दोषों से मुक्त है। [२] **—रामप्रसाद त्रिपाठी**

१०. गद्य-काव्य जहाँ एक ओर पद्य के रीति-संकोच से मुक्त होने के कारण उससे भिन्न है उसी प्रकार वह साधारण गद्य से भी भिन्न है। वह गद्य की तरह मुक्त है, परन्तु काव्य की तरह कोमल और भावपूर्ण। [३] **—भँवरमल सिंघी**

११. गद्य काव्य में काव्य की ही भाँति भावों की रसपूर्ण अभिव्यंजना होती है, कल्पनाओं को साकारता मिलती है। भावों में वही गति, वही लय, वही संगीत-ध्वनि रहती है, जो काव्य में रहती है। भिन्नता केवल इतनी ही है कि गद्य-काव्य काव्य की भाँति छन्दों के प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं करता। [४] **—कान्ति त्रिपाठी**

१२. पद्य का भाव-शैथिल्य उसके संगीत की ओट में छिप जाए, परन्तु गद्य के पास उसे छिपाने के साधन कम हैं। रजनीगन्धा की क्षुद्र, छिपी हुई और चुपचाप विकसित होने वाली कलियों के समान एकाएक खिलकर जब हमारे नित्य परिचय के कारण साधारण लगने वाले शब्द हृदय को भाव-सौरभ से सराबोर कर देते हैं तब हम चौंक उठते हैं और इसीमें गद्य-काव्य का सौन्दर्य निहित है। इसके अतिरिक्त गद्य की भाषा बन्धनहीनता के बन्धन में बद्ध, चित्रमय, परिचित और स्वाभाविक होने पर ही हृदय को छूने में समर्थ हो सकती है। कारण हम कवित्वमय गद्य को अपने उस प्रिय मित्र के समान पढ़ना चाहते हैं, जिसकी भाषा, बोलने के ढंग विशेष और विचारों से हम पहले से ही परिचित हों। उसका अध्ययन हमें प्रायः इष्ट नहीं होता। [५] **—महादेवी वर्मा**

१३. इस प्रकार के गद्य (गद्य-काव्य) में भावावेग के कारण एक प्रकार का लय-युक्त झंकार होता है जो सहृदय पाठक के चित्त को भाव ग्रहण के अनुकूल बनाता है। [६]

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

---

१. 'सम्मेलन पत्रिका', भाग १६, संख्या १-२ सं० २००५; 'हिन्दी के कुछ गद्य-गीत-लेखक', निबन्ध : पृष्ठ ३१।
२. 'मदिरा' की भूमिका, पृष्ठ १।
३. एक व्यक्तिगत पत्र से।
४. अप्रकाशित 'जीवन-दीप' की भूमिका से।
५. श्री केदार-लिखित 'अधखिले फूल' की भूमिका से।
६. 'हिन्दी साहित्य' प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४६०।

१४. गद्य-काव्य के लिए शब्दों का सुचारु चयन बहुत आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना वह बिलकुल रस-शून्य और सूखा प्रतीत होगा। रंगीन भाषा के अभाव में गद्य-काव्य की रचना असम्भव है।[1] —दिनेशनन्दिनी डालमिया

१५. गीत छोटा और एक ही रस में सराबोर होता है। विचार-धारा का वातावरण भी एक ही रहता है और उसमें कवि की निजी अनुभूति लहराया करती है। गीत में अनेकता के लिए स्थान नहीं। उसमें 'एक' की तल्लीनता रहती है और तल्लीनावस्था में शब्द संकेत-भर करते हैं। उन्हें रुकने का, व्याख्या करने का समय नहीं मिलता। वे एक-पर-एक आते चले जाते हैं। जिस कथा-विहीन गद्य में उपर्युक्त गुण हों, वह गद्य-काव्य है।[2] —बालकृष्ण बल्दुवा

गद्य-काव्य की परिभाषा—पीछे गद्य-काव्य के स्वरूप अथवा उसकी किसी विशेषता को व्यंजित करने वाले जो विचार दिये गए हैं उनमें से लगभग सबमें भावुकता का समावेश है और किसी एक को गद्य-काव्य की व्यापक और पूर्ण परिभाषा नहीं कहा जा सकता; फिर भी उनमें व्यक्त विचारों की छानबीन करना आवश्यक है। गहराई से देखने पर अधिकांश लेखकों तथा विद्वानों का यही मत जान पड़ता है कि छन्द-बन्धन को छोड़कर गद्य-काव्य और पद्य-काव्य में अन्तर नहीं है। श्री विश्वम्भर 'मानव' और श्री भँवरमल सिंघी उसे जो गद्य और पद्य के बीच की वस्तु मानते हैं वह भी कोई नई बात नहीं है। यह अन्य विद्वानों की गद्य और पद्य की समानता वाली बात को कहने का ही एक ढंग है; क्योंकि वे भी गद्य-काव्य के लिए छन्द को अनावश्यक और काव्य की भावुकता तथा कोमलता को अनिवार्य ठहराते हैं। दूसरी बात जो सभी लेखक मानते हैं वह यह है कि गद्य में रसात्मकता और रमणीयता का समावेश करने से ही गद्य-काव्य की सृष्टि होती है। 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में भी गद्य-काव्य की जो परिभाषा दी गई है उसमें गद्य-काव्य के लिए रमणीयता और रसात्मकता के साथ छन्द-बन्धन-हीनता का समर्थन किया है।[3] लेकिन इसके अतिरिक्त भी कई ऐसी बातें हैं, जिनकी ओर हिन्दी-गद्य-काव्य के लेखकों तथा विद्वानों ने संकेत किया है। वे ये हैं :

१. **कल्पना की प्रधानता**—श्री सद्गुरुशरण अवस्थी और श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने इस पर जोर दिया है।

२. **बुद्धि-तत्त्व की नितान्त अप्रधानता**—श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने इसका उल्लेख किया है।

३. **इतिवृत्त-हीनता**—श्री बालकृष्ण बल्दुवा ने इस पर विशेष बल दिया है।

४. **भावमग्न करने में समर्थ, लययुक्त, झंकार उत्पन्न करने वाली रंगीन भाषा**—सर्वश्री महादेवी वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी और दिनेशनान्दनी डालमिया की

१. 'मैं इनसे मिला', भाग २, पृष्ठ १३६।

२. एक व्यक्तिगत पत्र से।

३. ए वर्क ऑफ हाइली रोट एण्ड एलेबोरेटली सस्टेण्ड नॉन मेट्रीकल राइटिंग इज ऑफ्टन कॉल्ड ए प्रोज पोयम।

—'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' (१९११) पृष्ठ ४५०।

मान्यताओं में इसी बात का समावेश है।

यदि इन सबको दृष्टि में रखकर गद्य-काव्य की परिभाषा बनाई जाए तो हम कह सकते हैं कि छन्द-बन्धन-रहित और इतिवृत्तहीन ऐसी भावपूर्ण और कल्पना-प्रधान रचना को गद्य-काव्य कहेंगे, जिसमें बुद्धि-तत्त्व को विशेष महत्त्व न दिया गया हो।

आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्य की यह परिभाषा हमारी इस मान्यता का समर्थन करती है कि संस्कृत-गद्य-काव्य और आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्य में आभ्यन्तर दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। अन्तर यदि है तो बाह्य रूप की दृष्टि से; और वह भी यह कि संस्कृत-गद्य-काव्य में इतिवृत्त की महत्ता है। वैसे प्राचीन साहित्य में आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्यों से मिलते-जुलते इतिवृत्तहीनता की कसौटी पर खरे उतरने वाले गद्य-काव्यों का भी अभाव नहीं है। वेद, उपनिषद्, बौद्ध और जैन ग्रन्थों में ऐसी स्फुट अभिव्यक्तियाँ बिखरी मिलती हैं, जो आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्यों के समक्ष सरलता से रखी जा सकती हैं। उन स्फुट अभिव्यक्तियों से यह सिद्ध होता है कि गद्य-काव्य की धारा आदि काल से अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होती चली आ रही है।

अब हम क्रमशः वेद, उपनिषद, बौद्ध और जैन-साहित्य से गद्य-काव्यों के उद्धरण देकर इस धारा की प्राचीनता और अविच्छिन्नता को प्रमाणित करेंगे।

गद्य-काव्य और वेद—वेदों, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों के गद्य-खण्डों में आर्य ऋषियों की अनुभूतियाँ बिखरी पड़ी हैं। उन्होंने कृषि, यज्ञ, प्रकृति आदि तत्कालीन सामाजिक जीवन के प्रमुख अंगों को अपने भाव-प्रकाशन का विषय बनाया है। इन विषयों पर व्यक्त उनकी स्फुट अभिव्यक्तियाँ अपनी मुक्तक भाव-स्थिति के कारण बड़ी मूल्यवान हैं। यज्ञों के प्रसंग में यजमान, ऋत्विज, अतिथि आदि की स्थिति तथा यज्ञों की प्रशंसा, महत्ता और उनके विधान पर विचार किया गया है। निम्नलिखित उद्धरणों में उपदेशात्मक ढंग से भाव व्यंजना हुई है—

१. सो ऐसा जानने वाला व्रात्य अतिथि बनकर जिसके घर की ओर आए, वह स्वयं उसकी ओर जाकर कहे, 'व्रात्य तू कहाँ रहा, व्रात्य यह जल है, व्रात्य (जल) तुझे तृप्त करें, व्रात्य जैसे तुझे प्रिय हो, वैसे हो, व्रात्य जैसा तेरा अभिप्राय है, वैसे हो।'[1]

२. जो इस प्रकार विराट् छन्द के स्वरूप को जानता है, वह सब छन्दों के वीर्य को अपनी ओर अभिमुख कर लेता है और उसको प्राप्त करता है या सब छन्दों के अभिमानी देवताओं से सायुज्य प्राप्त करता है। वह अन्न-भक्षण में समर्थ होकर अन्नपति हो जाता है और अपने पुत्रादि के साथ अन्न को प्राप्त करता है।[2]

---

१. तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर् गृहान् आगच्छेत्। १।
स्वयमेनम् अभ्युपेत्य ब्रूयाद्, व्रात्यक्वाऽवात्सीद् व्रात्योदकम्,
व्रात्यतर्पयन्तु, व्रात्य यथा ते प्रियं तथाऽस्तु, व्रात्य यथा ते वशस्तथाऽस्तु,
व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्तिवति ॥२॥ अथर्व वेद १५।११।१-२। पृष्ठ ३२२।

२. सर्वेषां छन्दसां वीर्यमवरुन्धे, सर्वेषां छन्दसां वीर्यमश्नुते, सर्वेषां छन्दसां सायुज्यं सरूपतां सलोकतामश्नुतेऽन्नदोऽन्न पतिर्भवत्यश्नुते प्रजयाऽन्नाद्यं य एवं विद्वान्विराजौ कुरुते इति। ऐतरेय ब्राह्मण।१।६।३०।

३. यज्ञ स्तम्भ (यूप) ही वज्र है। यह यजमान से द्वेष करने वाले के लिए उठा-खड़ा है इसलिए जैसे पहले वैसे अब भी जो कोई यजमान से द्वेष करता है उसका अप्रिय होता है।[1]

कहीं उपमा और दृष्टान्त के द्वारा यज्ञ का माहात्म्य बताया गया है—

१. इन दोनों साम-मंत्रों का परित्याग न करे। जो इन दोनों को छोड़ता है वह जैसे बन्धन से छिन्न नौका एक किनारे से दूसरे किनारे पर भटकती हुई फिरती है और अन्त में डूब जाती है; वैसे ही यज्ञ करने वाले वे यजमान, जो दोनों मन्त्रों को छोड़ देते हैं तीर के समान दिशा विशेषों को प्राप्त होते हुए इधर-से-उधर भटकते रहते हैं और अन्त में नष्ट हो जाते हैं। जो इन दोनों साम-मन्त्रों को छोड़ते हैं।[2]

२. यह जो ब्रह्मा है, यही साक्षात् यज्ञ है। ब्रह्मा में ही सम्पूर्ण यज्ञ प्रतिष्ठित है और यज्ञ के प्रतिष्ठित होने पर ही यजमान प्रतिष्ठित है; अतः जो भाग ब्रह्मा को खिलाया जाता है वह साक्षात् यज्ञ में आहुति दी जाती है। जैसे जल में डाला हुआ जल एक हो जाता है या जैसे अग्नि में डाली हुई अग्नि एक हो जाती है ऐसे ही ब्रह्मा द्वारा खाया हुआ अन्न आहुति से पृथक् नहीं रहता।[3]

वेदों के इन गद्य-खण्डों में प्रवाहमयी भाषा और भावावेश की कमी नहीं है और ये हृदय को बहा ले जाने में समर्थ हैं। यही नहीं, कहीं-कहीं गद्य-काव्य की रूपक शैली में यज्ञ, अग्नि, आदित्य आदि की जो प्रशंसा की गई है वह और भी कवित्वपूर्ण है। जैसे—

१. गार्हपत्य अग्नि ही गृह है, गृह ही प्रतिष्ठा है; इसलिए वह 'यजमान' गृह में (प्रतिष्ठा में) ही प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार वज्र इसका नाश नहीं करता। इस प्रकार गार्हपत्य अग्नि में ही स्थापना करता है।[4]

२. यज्ञ ही विष्णु है। विष्णु ने देवताओं के लिए ही यह डग रखा है। प्रथम डग से उन्होंने पृथ्वी की रक्षा की, दूसरे डग से अन्तरिक्ष की; और तीसरे डग से स्वर्ग की। इस पृथ्वी पर इस यज्ञ-रूप विष्णु ने इस प्रकार डग रखे।[5]

---

१. वज्रो वै यूपः स एष द्विषतो वध उद्यतस्तिष्ठति तस्माद्धाप्येतर्हि यो द्वेष्टि तस्या प्रियं भवत्य-मुष्यायं यूपोऽमुष्यायं यूप इति दृष्ट्वा इति ।। वही ।६।१।१४०।।

२. ते उभे न समवसृज्ये य उभे समवसृजेयुर्यथेश्छिन्ना नौर्बन्धनात्तीरं तीरंगृच्छन्ती प्लवेनैवमेव ते सत्रिणास्तीरं तीरमृच्छन्तः प्लवेरन्य उभे समवसृजेयुः, इति ।। वही ।१७।७।४७४।

३. यज्ञ उहवा एष प्रत्यक्षं यद्ब्रह्मा, ब्रह्मणि सर्वो यज्ञः प्रतिष्ठतो यज्ञे यजमानो यज्ञ एव तद्यज्ञमप्य-सर्जन्ति यथाऽप्स्वापो यथाऽग्नावग्नि तद्वै नातिरिच्यते । वही ।३४।८।८७५।

४. गृहा वै गार्हपत्यः गृहा वै प्रतिष्ठा तद् गृहेष्वेतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति । तथो हैनमेष वज्रोनं हिनस्ति । तस्माद् गार्हपत्ये सादयति ।

—शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा का शतपथ ब्राह्मण, अध्याय १। ब्राह्मण १, काण्ड १, प्रपाठक १, पृष्ठ १२। खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई।

५. यज्ञो वै विष्णुः । स देवेभ्य इमां विक्रान्ति विचक्रमे । येषामियं विक्रान्तिः । इदमेव प्रथमेन पदेन पस्पार अथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेन । एतामु-एवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्ति विक्रमते ।

वही, अध्याय १, ब्राह्मण २, कांड १, प्रपाठक १, पृष्ठ २१।

३. आदित्य ही सारी ऋतुएँ हैं। यह जब उदय होता है तब वसन्त है, जब और आगे बढ़ता है तब ग्रीष्म, जब मध्य दिवस में पहुँचता है तब वर्षा, जब दिवस के अपराह्न में पहुँचता है तब शरद् और जब अस्त होता है तब हेमन्त ऋतु हो जाती है।[1]

४. इस ओदन का वृहस्पति सिर है। ब्रह्म मुख है। द्यौ और पृथ्वी कान हैं। सूर्य और चन्द्र नेत्र हैं। सात ऋषि प्राण और अपान हैं। मूसल नेत्र हैं। ऊखल काम है। छाज दिति है। छाज पकड़ने वाली अदिति है। फटकने वाला वायु है।[2]

५. यह पृथ्वी तैयार किये जाते ओदन की बटलोही है, द्यौ ढकना है। सीताएँ इसकी पसलियाँ हैं। बालू पेट की लीद है। ऋतु हाथ धोने का जल है, कुल्या (नहर) पिलाने का जल है।[3]

कथा-शैली में जो उच्चकोटि की रचना से पूर्ण मौलिक उद्भावनाएँ की गई हैं वे तो बेजोड़ हैं—

१. देवताओं ने दिन का ही आश्रय लिया, राक्षसों ने रात्रि का; वे दोनों ही समान बल वाले थे इसलिए वे एक-दूसरे से पीछे नहीं हटे। तब इन्द्र ने देवताओं से कहा, 'हम में से कौन ऐसा है, जो रात्रि का आश्रय करने वाले इन असुरों को मार भगावे।' इन्होंने देवताओं में किसी को इस योग्य न पाया। रात्रि का जो अन्धकार है वह मृत्यु के समान है, अतः देवता लोग अन्धकार से मृत्यु के समान डरने लगे। चूँकि देवता लोग भी डरे थे इसलिए आज भी जो कोई घर से दूर अन्धकार में जाता है, डरता है; क्योंकि रात्रि अन्धकार-स्वरूप है और अन्धकार मृत्यु के समान भय का कारण है।[4]

२. अग्नि के तीन बड़े भाई थे। वे देवताओं का हव्य ले जाते हुए मारे गए। तब अग्नि डर गया कि इसी प्रकार वह भी निश्चय ही कष्ट को प्राप्त होगा। वह छिप गया और पानी में घुस गया। देवताओं ने उसकी खोज करनी चाही। मत्स्य ने उसका पता बता दिया। अग्नि ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दे दिया कि लोग तुझे खोज-खोजकर मारा

---

१. आदित्यो वाव सर्वऋतवः स यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा संगवोऽथ ग्रीष्मो यदामध्यन्दिनोऽथ वर्षा यदान्यन्ह्रो पारान्ह्रोऽथ शरद यदास्तमेत्यथ हेमन्तः।

—शुक्ल-यजुर्वेद की कन्वशाखा का कन्वीय शतपथ ब्राह्मण, १।२।३।१३। पृष्ठ १७। डाक्टर डब्लू० केलेण्ड द्वारा सम्पादित। मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर।

२. तस्यौदनस्य वृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्।१। द्यावा पृथिवी श्रोत्रे, सूर्या चन्द्रमसावक्षिणी, सप्तऋषयः प्राणापानाः।२। चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम्।३। दितिः शूर्पम्, अदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनाक्।४।

—अथर्व वेद।११।३।१-४। पृष्ठ २५०।

३ इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम्।११। सीताः पार्शवः, सिकता ऊबध्यम्।१२। ऋतं हस्तवानेजनं कुल्योपसेचनम्।१३।

— अथर्ववेद।११।३।११-१३। पृष्ठ २५१।

४. अहर्वैदेवा आश्रयन्त रात्रीमसुरास्ते समावद्वीर्या एवाऽऽसन्न व्यवर्तन्त सोऽब्रवीदिन्द्रः कश्चाहं येमानितोऽसुरान्रात्रीमन्ववेष्याव इति स देवेषु न प्रत्यविन्ददबिभयू रात्रेस्तमसो मृत्योस्तस्माद्धाप्येतर्हि नक्तं यावन्मात्रनिवैवापक्रम्य बिभेति तम इव हि रात्रिमृत्युरिव। इति।

—ऐतरेय ब्राह्मण १६।५।४५।

करेंगे, जो कि तूने मेरा पता बता दिया है। इसी कारण लोग मछली को खोज-खोजकर मारते हैं; क्योंकि उसे शाप लगा हुआ है। देवताओं ने अग्नि को खोज लिया। उन्होंने उसे कहा कि तू हमारे पास लौट आ, हव्य हमें पहुँचा! अग्नि ने कहा कि इसके लिए मैं यह वर माँगता हूँ कि जो लिया हुआ हव्य का भाग यज्ञ-कुण्ड में गिरने से पूर्व उसके बाहर गिरे वह मेरे भाइयों का भाग हो। तभी से लिये हुए हव्य का जो भाग आहुति से पूर्व यज्ञकुण्ड के बाहर गिरता है, वह अग्नि के भाइयों का होता है।[1]

३. प्रजापति की यह बड़ी सन्तान जो पर्वत हैं, पहले वे पंखों वाले थे। वे जहाँ चाहते थे उड़कर बैठ जाया करते थे। तब यह पृथ्वी दुर्बल—असन्तुलित—थी। इन्द्र ने उन पर्वतों के पंख काट दिये और कटे हुए पंख वाले पर्वतों से इस भूमि को दृढ़ कर दिया। जो पंख थे वे जीमूत—बादल बन गए। इसी कारण ये बादल वृष्टि के साथ पर्वतों पर छा जाते हैं; क्योंकि पहाड़ ही उनका जन्म-स्थान है।[2]

अभी जो उद्धरण दिने गए हैं उनमें उपदेशात्मक शैली के उद्धरणों में चाहे उतना कवित्व न हो, परन्तु शेष उद्धरणों में निहित भावुकता, कल्पना, सूझ-बूझ, भाषा की प्रवाहशीलता से कितना अधिक आकर्षण उत्पन्न हो गया है इसका अनुभव इन्हें पढ़ते ही हो जाता है।

गद्य-काव्य और उपनिषद्—ब्रह्म, जीव और जगत् के रहस्यों को सुलझाने वाले उपनिषद्-ग्रन्थों में भी गद्य-काव्य के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। उपनिषद् के स्रष्टाओं ने भावावेश में जो तात्विक विवेचन किया है वह गद्य-काव्य की सीमाओं को स्पर्श करने वाला है। उनमें अद्भुत लय और आकर्षक शब्द-विन्यास है, जो पाठक को भावमग्न कर देता है। ब्रह्म के विवेचन में तो मानो भावुकता का स्रोत ही फूट निकला। चित्रमय भाषा का अपूर्व सौन्दर्य यहाँ मिलता है। जैसे—

१. यही सर्वेश्वर है, यही सर्वज्ञ है, यही अन्तर्यामी है, यही सबके मूल का कारण है, यही सम्पूर्ण प्राणियों का उत्पत्ति और लय-स्थान है। न यह भीतर ज्ञानस्वरूप कहा जा सकता है, न बाहर ज्ञान-स्वरूप कहा जा सकता है; और न भीतर-बाहर दोनों हो

---

१. अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन्। ते देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रामीयन्त। सो अग्निरबिभेद् इत्थं वावस्यआर्तिमारिष्यतीति। स निलायत सोऽपः प्राविशत्। तं देवताः प्रैषमैच्छन्। तं मत्स्यः प्राब्रवीत्। तमशपद् धिया—धिया त्वा बाध्यासुर यो मां प्रावोच इति तस्मान् मत्स्यं धिया-धिया घ्नन्ति। शप्तोहि। तमन्नववविन्दन्। तमब्रुवन्नुप न आवर्तस्व, हव्यं नो वहेति। सोऽब्रवीद् वरं वृणै यदेव गृहीतस्याहुतस्य बहिः परिधि स्कन्दात् तन्मे भ्रातृणां भागधेयम-सदिति तस्माद् यद् गृहीतस्याहुतस्य बहिः परिधि स्कन्दति तेषां तद् भागधेयम्।

—तैत्तिरीय संहिता।२।६।६। प्रकाशक स्वाध्याय मंडल। पृष्ठ ११६।

२. प्रजापतेर्वा एतज्ज्येष्ठं तोकं यत् पर्वताः ते पक्षिण आसन्।
ते परापातमासत यत्र यत्रा कामयन्त। अथ वा इयं तर्हि शिथिरासीत्। तेषामिन्द्रः पक्षान-च्छिनत्। तैरिमामदृंहत। ये पक्षा आसंस्ते जीमूता अभवन्। तस्मादेते सददि पर्वतमुपप्लवन्ते यो निर्ध्याम् एषः॥

—मैत्रायणी संहिता।१।१०।१३। पृ० ८६।
प्रकाशक स्वाध्याय मंडल, किल्ला पारडी, सूरत।

रूपों में ज्ञान-स्वरूप कहा जा सकता है। न उसे अज्ञानधन कहा जा सकता है। न उसे प्रज्ञ और न अप्रज्ञ कहा जा सकता है। वह अदृष्ट है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य, अलक्षण है, अचिंत्य है, अव्यपदेश्य (जिसका नाम न रखा जा सके) है। केवल एकमात्र ज्ञान ही उसका स्वरूप है। सारा नाम-रूपात्मक प्रपंच उसमें उपशमित हो जाता है। वही शान्त है, वही अद्वैत शिव है। इस तुरीय अवस्था का जो आत्मा है, उसको ऐसा ही जानना चाहिए।[1]

२. इसलिए यही आत्मादेश है। आत्मा ही ऊपर और आत्मा ही नीचे, आत्मा ही पीछे और आत्मा ही आगे, आत्मा ही दक्षिण और आत्मा ही उत्तर, सर्वत्र आत्मा-ही-आत्मा है। यह सब-कुछ आत्मा ही है। वही हय है। जो पुरुष इस प्रकार दर्शन करता है, मनन करता है, विज्ञान करता है, वह आत्म-रत, आत्म-क्रीड़ावान, आत्म-मिथुन और आत्मानन्द हो जाता है और स्वयं अपने में अपने-आप विराजमान रहता है। सब लोकों में वह इच्छानुसार गमन करता है।[2]

यदि संगीतात्मक झंकारमय और लययुक्त गद्य का नमूना देखना हो तो 'बृहदा-रण्यकोपनिषद्' का यह अंश देखिए—

याज्ञवल्क्य ने कहा—अरे मैत्रेयी, पति की कामना से पति प्रिय नहीं होता, आत्मा की कामना से पति प्रिय होता है। अरे, स्त्री की कामना से स्त्री प्रिय नहीं होती, आत्मा की कामना से स्त्री प्रिय होती है। अरे, पुत्रों की कामना से पुत्र प्रिय नहीं होते, आत्मा की कामना से पुत्र प्रिय होते हैं। अरे, वित्त की कामना से वित्त प्रिय नहीं होता, आत्मा की कामना से वित्त प्रिय होता है। अरे, ब्रह्म की कामना से ब्रह्म प्रिय नहीं होता, आत्मा की कामना से ब्रह्म प्रिय होता है। अरे, क्षत्रिय की कामना से क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, आत्मा की कामना से क्षत्रिय प्रिय होता है। अरे, लोकों की कामना से लोक प्रिय नहीं होते, आत्मा की कामना से लोक प्रिय होते हैं। अरे, देवों की कामना से देव प्रिय नहीं होते, आत्मा की कामना से देव प्रिय होते हैं। अरे, भूतों की कामना से भूत प्रिय नहीं होते, आत्मा की कामना से भूत प्रिय होते हैं। अरे, सबकी कामना से सब प्रिय नहीं होते, आत्मा की कामना से सब प्रिय होते हैं।[3]

---

१. एष सर्वेश्वर, एष सर्वज्ञ, एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। नान्तःप्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नो उभयतः प्रज्ञं न अज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्ष-मचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यय सारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं च तुरीयं मन्यते स आत्मा स विज्ञेय। —मांडूक्योपनिषद्। ६-७।

२. अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेद सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्ते व मन्वान एवं विजान्नात्म रतिरात्म-क्रीड़ आत्म मिथुन आत्मानन्द स स्वराड् भवति तस्य सर्वस्य लोकेषु कामचारो भवति। —वही, सप्तम खण्ड। पृष्ठ ६८।

३. सहोवाच न वा अरे पत्युः कामाय पति प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्त प्रियं भवत्यात्मनस्तुकामाय वित्तं प्रियं भवति न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं

मौलिक कल्पना और आलंकारिक व्यंजना के निम्नलिखित उद्धरण पर्याप्त होंगे—

१. यह पृथ्वी समस्त प्राणियों के लिए मधु है, समस्त प्राणी इस पृथिवी के लिए मधु हैं। यह तेजोमय अमृत पुरुष जो कि पृथ्वी पर है, यह आध्यात्मिक तेजोमय अमर पुरुष, जो शरीर में वर्तमान है वही वास्तव में यह आत्मा, यह अमृत, यह ब्रह्म और यह सर्व है।[1]

२. वही आत्मा समस्त प्राणियों का अधिपति है, समस्त प्राणियों का राजा है। जिस प्रकार रथनेमि और रथनाह में सारे आरे अवरुद्ध रहते हैं उसी प्रकार आत्मा में सब वस्तुएँ, सब लोक और सब प्राण—ये सब आत्मा को समर्पित हैं।[2]

३. ध्यान चित्त से बड़ा है। पृथ्वी ध्यान-सा कर रही है। अन्तरिक्ष ध्यान-मग्न-सा है। द्युलोक ध्यान-मग्न-सा है। जल ध्यान-मग्न-से हैं। पर्वत ध्यान-मग्न-से हैं तथा देव और मनुष्य भी ध्यान-मग्न हैं।[3]

सूक्त्यात्मक गद्य-काव्यों की जो परम्परा है उसके बीज भी उपनिषदों में मिलते हैं। मार्मिक उक्ति-वैचित्र्य और गम्भीर अनुभूति की छटा इन उद्धरणों में दिखाई देती है—

१. जो तीन मात्रा वाले ओंकार का ध्यान करते हैं वे साम के द्वारा ब्रह्म लोक को ले जाए जाते हैं और उसी प्रकार पापों से छूट जाते हैं जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली से मुक्त हो जाता है।[4]

आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न होते हैं। आनन्द से उत्पन्न

भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामायतु देवाः प्रिया भवन्ति न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भमन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवन्त्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवन्ति।

बृहदारण्यकोपनिषद्। चतुर्थ ब्राह्मण। पृष्ठ ८६।

१. इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु, यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमय ऽमृतमयः पुरुषो, यश्चायमध्यात्मं शरीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः अयमेव स योऽयमातोदमृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। बृहदारण्यकोपनिषद्॥

२. स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एव आत्मनः समर्पिताः।

—बृहदारण्यकोपनिषद्।

३. ध्यान वाव चित्ताद्भूयो; ध्यायतीव पृथिवी, ध्यायतीवान्तरिक्षं, ध्यायतीव द्यौ, ध्यायन्तीवापो, ध्यायन्तीव पर्वता, ध्यायन्तीव देव मनुष्याः।

—छान्दोग्योपनिषद्, पृष्ठ खण्ड, पृष्ठ ६५।

४. यथापादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह्वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं॥ प्रश्नोपनिषद्, पञ्चम प्रश्न, पञ्चम मंत्र।

होकर जीवित रहते हैं। आनन्द में ही लय हो जाते हैं। उसीमें प्रविष्ट हो जाते हैं।[1]

गद्य-काव्य और बौद्ध साहित्य—बौद्ध साहित्य में गद्य-काव्य के और भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं। इसका कारण यह है कि बौद्ध धर्म में करुणा और दुःखवाद की ऐसी मानवीय भावनाओं का प्राधान्य है, जिनका चित्त की द्रवीभूत अवस्था से गहरा सम्बन्ध है। और चित्त की द्रवीभूत अवस्था ही वाणी के माध्यम से काव्य का रूप ग्रहण करती है। यों तो बौद्ध साहित्य में गद्य-काव्य के स्थल सर्वत्र ही मिलते हैं परन्तु 'मिलिन्द प्रश्न' (मिलिन्द पन्हो) इस दृष्टि से सर्वोत्तम है। भदन्त नागसेन द्वारा ग्रीक राजा मेनाण्डर (मिलिन्द) के प्रश्नों के समाधान के समय अनायास कवित्व झलक उठा है, जो अपने साथ जीवन के गम्भीर तथ्यों की निधि लिये हुए है—

१. भन्ते जो अपनी माँ के मर जाने से रोता है और जो केवल धर्म के प्रेम से रोता है उन दोनों के अश्रुओं में कौन ठीक है और कौन नहीं ?

महाराज ! एक अश्रु राग, द्वेष और मोह के कारण गर्म और मलिन होता है और दूसरा प्रीति तथा मन के पवित्र होने से ठण्डा और निर्मल होता है। महाराज, जो ठण्डा है, वह ठीक है जो गर्म है वह बे-ठीक ।[2]

२. महाराज ! महामेघ बरसकर घास, पौधे, पशु तथा मनुष्यों की वृद्धि करता है, उनके सिलसिले को बनाये रखता है। उसके बरसने ही से ये सब जीव जीते हैं तो भी महामेघ को कभी ऐसी अपेक्षा नहीं होती कि ये सब मेरे ही हैं। महाराज ! इसी तरह बुद्ध सभी पुण्य में जीवन-दान करते हैं और पुण्य बनाये रखते हैं। सभी जीवों को उन्हींसे पुण्य करना आता है तो भी बुद्ध के मन में कभी भी ऐसी अपेक्षा नहीं होती कि ये मेरे ही हैं।[3]

३. महाराज ! जन्म लेना भी दुःख है। बूढ़ा होना भी दुःख है। बीमार पड़ना भी दुःख है। मरना भी दुःख है, शोक करना भी दुःख है, रोना-पीटना भी दुःख है। दुःख भी दुःख है। दौर्मनस्य भी दुःख है। अप्रिय से मिलना भी दुःख है। प्रिय से बिछुड़ना भी दुःख है। माता का मर जाना भी दुःख है, बहन का मर जाना भी दुःख है। पुत्र का मर

---

१. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात। आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशंतीति।

—तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, छठा अनुवाक्।

२. भन्ते नागसेन यो च मातरि मताय रोदति, यो च धम्मपेमेन रोदति, उभिन्नं तेसं रोदनानं कस्स अस्स भेसज्जं कस्स न भेसज्जं'ति। एकस्स खो महाराज अस्सु रागदोसमोहेहि समलं उण्हं, एकस्स पीतिसोमनस्सेन विमलं सीतलं। यं खो महाराज सीतलं तं भेसज्जं, यं उण्हं न भेसज्जं'ति। मिलिन्द पन्हो-बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित देवनागरी संस्करण, पृष्ठ ७९।

३. यथा वा पन महाराज महति महामेघो अभिवस्सन्तो तिणरुक्खपसु मनुस्सानं वुद्धिं देति सन्तति मनुपालेति, वुट्ठूपजीविनो चेतेसत्ता सब्बे, न च महामेघस्स मम्हेतेति अपेक्खा होति, एवमेव खो महाराज तथागतो सब्ब सत्तानं कुसल धम्मेजनेति"""""न च तथागतोमय्हेतेति अपेक्खा होति। वही, पृष्ठ १६१-१६२।

जाना भी दुःख है। स्त्री का मर जाना भी दुःख है। वन्धु-बान्धवों पर कुछ आपत्ति पड़ जाना भी दुःख है।[1]

४. महाराज! धुतांग मुमुक्षुओं के लिए महापृथ्वी के समान आधार है। धुतांग मुमुक्षुओं के लिए पानी के समान क्लेश-रूपी मल धोने के काम का है। क्लेश की झाड़ी को जलाकर भस्म कर देने वाली आग के समान है। क्लेश-रूपी धूल को उड़ा देने वाली हवा के समान है, क्लेश-रूपी रोग को दूर करने के लिए दवा के समान है, क्लेश-रूपी विष को नाश करने वाले अमृत के समान है।[2]

५. भन्ते! नागसेन यदि ऊपर आकाश में भी उठकर, नीचे समुद्र में गोते लगाकर भी, बड़े-बड़े प्रासादों के ऊपर चढ़कर भी, कन्दराओं, गुहाओं और पहाड़ के ढालों पर जाकर भी मृत्यु के हाथों से नहीं बच सकता तो परित्राण देखना झूठी ठहरती है।[3]

६. रहने दे इन्द्र! हम लोगों को आप अनर्थ न लगावें। भला यह शरीर कब नहीं नष्ट हो जा सकता है। नष्ट हो जावे, नष्ट होना तो इसका स्वभाव ही है। पृथ्वी के टूक-टूक हो जाने पर भी, पहाड़ों के ढह जाने पर भी, शून्य आकाश के फट जाने पर भी तथा चाँद और सूरज के टूटकर टपक पड़ने पर भी हम लोग सांसारिक कामों में नहीं पड़ सकते। अब आप हम लोगों के सामने कभी न आवें। आपके सामने आने पर कुछ विश्वास हुआ था, किन्तु अब मालूम पड़ता है कि आप हम लोगों की बुराई चाहने वाले हैं।[4]

'मज्झिम निकाय' में यद्यपि पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय समाज, धर्म और कला-कौशल का वर्णन है तथापि उसमें भी कवित्वपूर्ण गद्य-स्थलों की कमी नहीं है। महात्मा बुद्ध और उनके शिष्यों के कुछ उपदेशों में तो अप्रत्याशित भावुकता है और वे छोटे-छोटे गद्य-गीत से जान पड़ते हैं। जैसे—

१. भो गौतम! हम ही अभिमानी हैं, हम ही प्रगल्भ हैं, जो कि हमने गौतम के साथ विवाद करने का स्वाद लेना चाहा। भो गौतम! मुक्त हाथी के साथ भिड़कर पुरुष का कल्याण हो जाय, किन्तु गौतम, के साथ भिड़कर पुरुष का कल्याण नहीं हो सकता। घोर विष वाले आशीविष (सर्प) से भिड़कर पुरुष का कल्याण हो जाय, किन्तु गौतम के साथ भिड़कर पुरुष का कल्याण नहीं हो सकता। जलते अग्नि-पुञ्ज से भिड़कर पुरुष का

---

१. जातिपि महाराज दुक्खा, जरापि दुक्खा, ब्याधिपि दुक्खा.........जातिब्यसनंपि दुक्खं। वही, पृष्ठ १९५॥

२. पठविसमं महाराज धुत गुणं विसुद्धि कामान पतिट्ठानट्ठेन.........अमतसमं महाराज धुत गुणं विसुद्धि कामानं सब्ब किलेस विसनां सनत्थेन। वही, पृष्ठ ३४८।

३. यदि भन्ते नागसेन अकाल गतोपि समुद्दमज्झ गतोपि पासाद कुटिलेण गुहा पब्भारदार बिल विवरपब्बतन्तरगतोपि न मुञ्चति मच्चु पासा तेन हि परित्त कम्ममिच्छा। 'मिलिन्द पण्हो' पृष्ठ १५३।

४. अलं कोसिय, मा त्वं खो आहे अनत्थे योजेहि अनत्थचरो त्वं भञ्चेति।
वही, पृष्ठ १२९।
महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा हिन्दी में अनूदित और महाबोधि सभा, सारनाथ द्वारा सन् १९३३ में प्रकाशित 'मज्झिम निकाय'। चूल सच्चक, पृष्ठ १४२।१।४।५।

कल्याण हो जाए, किन्तु गौतम से भिड़कर पुरुष का कल्याण नहीं हो सकता। भो गौतम, हम ही अभिमानी हैं।

२. धानंजानि ! ठीक तो है ? (काल) यापन तो हो रहा है। दुःखमय वेदनाएँ हट तो रही हैं, लौट तो नहीं रही हैं ? (व्याधि का) हटना तो मालूम हो रहा है, लौटना तो नहीं मालूम हो रहा।[1]

भो सारिपुत्र ! मुझे ठीक नहीं है। नहीं यापन हो रहा है। भारी दुःखमय वेदनाएँ आ रही हैं। हटती नहीं हैं, (पीड़ा) का आना ही जान पड़ता है, जाना नहीं। जैसे भो सारिपुत्र ! (कोई) बलवान पुरुष तीक्ष्ण शिखर से सिर को मथित करे ऐसे ही भो सारिपुत्र ! बड़े ज़ोर की हवा मेरे सिर को ताड़न करती है। भो सारिपुत्र ! मुझे ठीक नहीं है। पीड़ा का आना ही जान पड़ता है, जाना नहीं।

३. गृहपति ! उन देवताओं को ऐसा नहीं होता—यह हम लोगों का नित्य, ध्रुव या शाश्वत है, बल्कि जहाँ-जहाँ वे देवता अभिनिवेश (चाह) करते हैं वहाँ-वहाँ ही वे देवता अभिरमण करते हैं। जैसे—गृहपति बहंगी (काज), टोकरी (पिटक) में ले जाई जाती मक्खियों को ऐसा नहीं होता—यह हमारा नित्य ध्रुव या शाश्वत है, बल्कि जहाँ-जहाँ वे मक्खियाँ जाती हैं वहीं-वहीं अभिरमण करती हैं। उसी प्रकार गृहपति उन देवताओं को ऐसा नहीं होता।

इन उद्धरणों में 'गौतम', 'सारिपुत्र', 'गृहपति' को बार-बार सम्बोधित करना और उपमाएँ देते जाना हृदय पर बड़ा कोमल प्रभाव डालता है। पुनरावृत्ति से ऐसा लगता है मानो गीत की टेक दोहराई जा रही हो। यदि इन्हें आज के गद्य-काव्यों की गीत-शैली से मिलाया जाए तो ये उनसे किसी प्रकार कम कवित्वपूर्ण न ठहरेंगे।[2]

गद्य-काव्य और जैन-साहित्य—जैन-साहित्य का अधिकांश भाग अप्रकाशित है। यही कारण है कि जैन-समाज को जैसा परिचय बौद्ध-साहित्य से है वैसा जैन-साहित्य से नहीं। इतना होने पर नित्य-प्रति पाठ के लिए अथवा प्रार्थना के लिए जो सूत्र जैन-समाज में व्यवहृत होते हैं उनमें कवित्वपूर्ण स्थलों के दर्शन हो जाते हैं। इन सूत्रों में महावीर स्वामी के चरित्र और उनके तप से सम्बन्धित अनेक स्थलों पर सूत्रकार की भावुकता है। रूपक और उपमा अलंकार का विशेप प्रयोग चौदह स्वप्नों के वर्णन में, सांसारिक माया-मोह के वर्णन और महावीर स्वामी के प्रभाव के वर्णन में किया गया है। जैन-गद्य-काव्यों में कादम्बरी शैली की सालंकार और सानुप्रास सामासिक पदावली का विशेष समावेश हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों के एक-से-एक सुन्दर उदाहरण इनमें मिलते हैं और इनके लेखकों की कल्पना-शक्ति की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। निम्नलिखित उदाहरण इसके लिए पर्याप्त होंगे—

१. वह चन्द्रमा गाय के दूध, फेन, जल-बिन्दु तथा चाँदी के कलश के समान उज्ज्वल, शुभ्र, हृदय और नेत्रों को वल्लभ लगने वाला और षोडश कलाओं से युक्त

---

१. 'मिलिन्द पण्हो', धानंजानि सुत्तन्त, पृष्ठ ४०६, २।५।६।

२. वही, अनुरुद्ध सुत्तन्त, पृष्ठ ५२४; २।३।६।

था। अन्धकार के समूह से घन-गम्भीर-वन-निकुञ्ज-तम-कोश-नाशक, वर्ष-मासादि के मापदण्ड और कृष्णपक्ष के मध्य में आने वाली पूर्णिमा के सदृश रेखावान कुमुद-वन-विकासक रजनीकान्त, मँजे हुए उज्ज्वल दर्पण के समान स्वच्छ, हंस के समान धवल, ज्योतिष देव, नक्षत्र व तारागणों की आभा का विकासक तम-रिपु कन्दर्प-बाण-तूणीर-सागर हिय हँसावन हार, विरह विधुरा अबला को अपनी शीतल किरणों द्वारा सन्तप्त-कारी, परम मनोहर एवं सुन्दर नभमण्डल के विशाल, सुन्दर एवं चलन स्वभावी तिलक, रोहिणी हिय हुलसावनहार तथा देदीप्यमान था।[1]

२. रात्रि के व्यतीत और प्रभात के प्रकाशित होने पर जब कमल और कृष्णमृग के नेत्र विकसित होने लगे, तब रक्त अशोक की कान्ति के समान लाल, किंशुक फूल, तोते की चोंच, गुञ्जा का अर्द्धभाग, बन्धु जीवक और जासु के सुमन, कबूतर के पाँव और नेत्र, कोयल के क्रुद्ध नयन, हिंगतू के मुञ्ज से भी अधिक आरक्त, सरोवरस्थ कमल-कुल विकासक, सहस्र किरणधारी, देदीप्यमान, स्व मरीचि-माला से तमतोम नाशक और अपनी नवीन आरक्त आभा-रूपी कुंकुम से सारे संसार को व्याप्त करने वाले सूर्य के उदित होने पर सिद्धार्थ राजा अपनी शैया से उठे।[2]

३. जिस संसार के भय से उद्वेग होता है वह समुद्र कैसा है। उसमें जन्म-जरा-मृत्यु के गम्भीर दुःख से क्षोभित हुआ प्रचुर जल है। विचित्र प्रकार के संयोग-वियोग-रूपी प्रसंगों द्वारा उस जल का विस्तार हुआ है। बहुत संसार के बन्धन-रूपी तरंगें उठती हैं। विलापादि करुणाजनक महाशब्द लोभवश जो जीव करते हैं, वही पानी हरहराना है, अपमान-रूपी फेन है···कठोर वचन-रूपी कर्दम है। कठिन कर्म रूपी पत्थर है। सदा उप-स्थित मृत्युभय उसके पानी की हलचल है।[3]

१. ससिं च गोखीरफेणदगरयरययकलस पण्डुरं सुभं हिययनयणकंतं, पडिपुन्न, तिमिरनिकरघण गुहिर वितिमिर करं, पमाणपक्खं तरायलेह, कुमुयवण विबोहगं, निसा सोहगं, सुपरिं मट्ठ दप्पण तलोवमं हंस वडुवन्नम्, जोइस मुहमंडगं तमरिपुं, मयणसरापूरगं, समुद्दगपूरगं दुम्भणं जणं दइय वज्जियं पायएहिं सोसयं तं पुणो सोमचारुरूवं, पिच्छइ, सा गगण मंडल विसाल सोम चं कम्ममाणतिलयं, रोहिणि मणहिअयवल्लहं देवी पुन्न चंदं समुल्लसंतं।

—श्रीमद्भद्रबाहु स्वामी रचित 'कल्पसूत्र', त्रिशला रानी के छठे स्वप्न में चन्द्रमा का वर्णन, पृष्ठ ६४-६५।

२. तएण सिद्धित्थे खत्तिए कल्लं पाउप्प माए रयणीए फुल्लुप्पल कमल कोमलुम्मीलियंमि अहा-पंडुरे पभाए, रत्तासोगप्पगास किंसुय सुयमुह गुंजद्ध राग बंधुजीवग पारावय चलण नयण हुय सुरत्त लोयण जा सुयण कुसुम रासि हिंगुलयनियराइ रेगरे हंत सरि से कमलायर संड बोहए उट्ठियंमि सूरे सहस्सरस्सिमि दिणयरे तेयसा जलंते, तस्स य कर पहरापरद्धंमि अंधयारे बालायव कुंकुमेणं खचियव्व जीवलोए, सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ।

—वही, पृष्ठ ८४।

३. संसार भयुविग्गा, भीयाजम्मण जरामरण करण गम्भीर दुक्ख पक्खुभिय पउरसलिलं, संजोग-वियोग विचित्रा पसंग सपरिय, वहबन्ध महल्ल विउल कल्लोल, कलुणवीलविय लोभ कल कलिल ओवहुलं, अवमाणफेण···परुसदरिसा। समावाउ, कठिण कम्म पत्थर निच्चमच्चु भय_तोयपट्ठं।

—उववाई सूत्र, पृष्ठ ७४-७५।

४. उस काल उस समय में श्रमण भगवंत महावीर स्वामी धर्म के आदि कर्त्ता चार तीर्थ के स्थापक गुरु के उपदेश बिना स्वयं प्रतिबोध पाये हुए, पुरुषों में उत्तम, पुरुषों में सिंह समान, पुरुषों में प्रधान गंध हस्ति समान, अभय दान के देने वाले, ज्ञान-रूपी चक्षु के देने वाले, मोक्ष मार्ग के देने वाले, शरण के देने वाले···धर्म चक्रवर्ती अप्रतिहत प्रधान,···रागादि को आप जीते दूसरे को जितावे, आप संसार से तरे दूसरे को तारे···पुनरावृत्ति रहित, सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त करने के अभिलाषी।[1]

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में रचित 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' में भी ऐसा ही गद्य है—

५. राजा कैसा दीखता है—शीश पर छत्र है, पवित्र चँवर ढल रहा है, विचित्र बाजे बज रहे हैं, माथे पर मुकुट, कान में कुण्डल, हृदय पर हार, महा उदार, कुबेर का अवतार, रूप का भण्डार, अधिक क्या कहें, जैसे पृथ्वी का इन्द्र, जैसे सोलह कला पूर्ण चन्द्र—ऐसा दीखता है राजा पृथ्वीचन्द्र महेन्द्र।[2]

६. जैसे सूर्य बिना दिन नहीं, पुण्य विना सुख नहीं, पुत्र बिना कुल नहीं, गुरु के उपदेश बिना विद्या नहीं, हृदय-शुद्धि बिना धर्म नहीं, भोजन बिना तृप्ति नहीं, साहस बिना सिद्धि नहीं, कुलीन स्त्री बिना घर नहीं, वर्षा बिना सुकाल नहीं, वैसे ही वीतराग बिना मुक्ति नहीं।[3]

इस प्रकार यह भली-भाँति प्रमाणित हो जाता है कि गद्य-काव्य की धारा आदि-काल से चली आ रही है और उसमें आधुनिक गद्य-काव्य की अनेक शैलियों के दर्शन हो जाते हैं। केवल छन्द को छोड़कर इसमें अनुभूति की तीव्रता, कल्पना की कमनीयता, अभिव्यक्ति की भंगिमा, भाषा का सौष्ठव आदि गुण वैसे ही हैं, जैसे कि पद्य-काव्य में होते हैं। वैसे छन्द को भी हम गद्य-काव्य में अपनी क्रीड़ा करते देख सकते हैं, लेकिन वह पद्य छन्द से भिन्न होता है। गद्य में छन्द की समस्या पर विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ने बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया है। वे कहते हैं : "गद्य-कविता का छन्द पद्य के छन्द की तरह नपा-तुला नहीं है, लेकिन फिर भी उसका एक छन्द अवश्य है। प्रकृति में भी एक प्रकार

---

१. तेणं कालं णं उणं समएणं, समणेभयवं महावीरे, आइगरे तित्थगरे सयं संबुद्धे, परिसुत्तमे, पुरुषसिंह; पुरिसवर गंधहत्थिए, अद्वयदये, चक्खुदए, मग्गदए, सरणदए, चक्कवट्टि अप्पडिहय जिणे जाणए तिणे तारए··पुणरावत्तयं सिद्धगइ।

—वही, पृष्ठ १६-२०।

२. किसिउ राजा दीसइ छइं,—मस्तक श्वेतातपत्र छइं पासइं ढलइं चामर पवित्र, वाजइं विचि वादित्र मस्तकि मुगट, कानि कुण्डल हृदय हारार्द्धहार, महाउदार, धनवतणउं अवतार, रूपतणुं भंडाराछणउं किसउं कहीयइ—जिसउ पृथ्वीलोकतणुइन्द्र, जिसउ सोलकला सम्पूर्ण चन्द्र इसउ दीसइ छइ पृथ्वीचन्द्र नरेन्द्र।

'प्राचीन गुजराती गद्यसन्दर्भ' (मुनिजिन विजय) में पृथ्वीचन्द्र चरित्र, पृष्ठ १३१।

३. जिमि श्री सूर्य पाषइ विदस नहीं, पुण्य पाषइ सौख्य नहीं, पुत्र पाषइ कुल नहीं, गुरूपदेश पाषइ विद्या नहीं, हृदय शुद्धि पाषइ धर्म नहीं, भोज पाषइ त्रिपति नहीं, साहस पाषइ सिद्धि नहीं, कुलस्त्री पाषइ घर नहीं, वृष्टि पाषइ सुभीक्ष नहीं, तिमि श्री वीतरागपाषइ सुगति नहीं।—'पृथ्वीचन्द्र चरित्र'। पृष्ठ १४२॥

का छन्द है, जिसको अंकशास्त्रीय गणना द्वारा हम निर्णीत नहीं कर सकते, परन्तु उसका अनुभव कर सकते हैं। यह भी इसी प्रकार का है : जैसे पेड़ है, वृक्ष की शाखा-प्रशाखा पत्र इस प्रकार सजाकर रखे गए हैं कि अनुभव किया जा सकता है कि छन्द है, परन्तु हिसाब द्वारा उसका पता नहीं चल सकता, उसे पकड़ नहीं सकते। गद्य-कविता का छन्द भी बिलकुल वैसा ही है। पद्य-छन्द की तरह उसका हिसाब नहीं मिलता, परन्तु उसके वाक्य-समूह ऐसे स्तर पर सजाए हुए मिलते हैं कि सबको मिलाकर एक छन्द का रस मिलता है।"[1] विश्व-कवि ने गद्य-कविता के छन्द को 'गद्य-छन्द' या 'भाव-छन्द' कहा है। इस विषय पर 'रवीन्द्र रचनावली' खण्ड २१ पृष्ठ ३६२ में 'गद्य-छन्द' नामक एक पूरा निबन्ध ही उन्होंने लिखा था, जिसे उन्होंने कलकत्ता-विश्वविद्यालय में पढ़ा था। निबन्ध में गद्य-छन्द के विषय में लिखा है : "गद्य-साहित्य के आरम्भ से ही उसके अन्तर में प्रविष्ट हुई है छन्द की अन्तःसलिला धारा। रस जहाँ भी चंचल हो उठा है, रस ने जहाँ भी रूप लेना चाहा है, वहीं शब्द-गुच्छ स्वतः सज्जित हो उठा है। भाव या रस-प्रधान गद्य में सुर की भनक है, परन्तु उसे रागिनी नहीं कहा जा सकता। उसमें ताल, मान, सुर का आभास-मात्र है। इसी प्रकार गद्य-रचना में जहाँ रस का आविर्भाव होता है, वहाँ छन्द अतिनिर्दिष्ट रूप नहीं लेता केवल उसके अन्दर रह जाती है छन्द की गति-लीला।" वेद, उपनिषद्, बौद्ध और जैन-ग्रन्थों से दिये गए गद्य-काव्य के उद्धरण विश्व-कवि की इस मान्यता का पूरा-पूरा समर्थन करते हैं।

इतना होते हुए भी हम फिर एक बार यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्य बाह्य रूप की दृष्टि से प्राचीन गद्य-काव्य से बहुत अलग हो गया है। संस्कृत में गद्य-काव्य का हिन्दी-जैसा विकास नहीं हुआ। यही नहीं, प्राचीन गद्य-काव्य की अपेक्षा उसे महत्त्व भी अधिक मिला है। इसका कारण यह है कि संस्कृत में पद्य को विकास का विशेष अवसर मिला। साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में भी यद्यपि महत्त्व गद्य और पद्य दोनों काव्यों को समान रूप से मिला, तथापि विवेचन की दृष्टि से पद्य के ही उदाहरण अधिक लिये गए। फलस्वरूप प्राचीन गद्य-काव्य की इन स्फुट अभिव्यक्तियों की तो बात ही अलग है, सुबन्धु, बाण और दण्डी की परम्परा का गद्य भी विकसित नहीं हो पाया। श्री अम्बिकादत्त व्यास ने ठीक ही लिखा है : "संस्कृत में पद्यों की तो ऐसी उन्नति हुई कि कोष, वैद्यक, ज्योतिष तक श्लोकबद्ध हो गए परन्तु गद्य सुबन्धु, बाण और दण्डी के कारण कुछ उभरा तो भी आगे को विकसित न हो पाया। पुस्तकालय के एक कोने से आगे न बढ़ पाया।"[2]

हिन्दी में आधुनिक काल से पहले तक गद्य-काव्य के अभाव के कारण—यह तो संस्कृत-साहित्य की बात हुई। हिन्दी-साहित्य में भी परिस्थितियों की विषमता के कारण आधुनिक काल से पहले गद्य-काव्य को महत्त्व नहीं मिला। वीर-गाथा-काल में राज-नीतिक वातावरण क्षुब्ध होने के कारण केवल युद्ध में सामन्तों को उत्साहित करने वाले

१. छन्दो गुरु रवीन्द्रनाथ—प्रबोध चन्द्रसेन, पृष्ठ २१४।
२. 'गद्य-काव्य मीमांसा', पृष्ठ ४।

कवित्त-छप्पयों का ही एकाधिकार रहा, जिससे गद्य न पनप सका। और जब गद्य ही न पनप सका तो गद्य-काव्य कहाँ से पनपता। भक्ति-काल में राजनीतिक पराजय और सामाजिक पतन के कारण भगवान् का भरोसा करके सन्तोष करने वाले साहित्यकार अन्तर्मुख हो गए और गद्‌गद कंठ से प्रभु गुण-गान से उन्हें इतना समय न मिला कि वे गद्य की ओर ध्यान देते। कारण, गद्य विचार के बिना नहीं चल सकता और भावावेश की प्रतिमूर्ति भक्त को अपनी या समाज की दशा पर विचार करने का अवकाश नहीं रहता। अतः इस काल में भी गद्य और उसके चरम विकसित रूप गद्य-काव्य का अभाव रहा। हाँ, वार्ता-साहित्य के धार्मिक गद्य में कुछ भावुकतापूर्ण स्थल ऐसे अवश्य मिल सकते हैं, जो गद्यकाव्यात्मक कहे जा सकते हैं, पर यह प्रयास संगठित नहीं कहा जा सकता। रीति-काल में अवस्था पहले दोनों कालों से भी बुरी थी। अधिकांश कवि व्यक्तित्वहीन थे और उनका धर्म आश्रयदाता का मनोरंजन था। भूषण, लाल, सूदन आदि ने लीक छोड़ी भी, तो वीर-गाथा-काल की भावना की पुनरावृत्ति की। इसलिए गद्य और गद्य-काव्य का कोई रूप नहीं मिलता। आधुनिक काल में आकर अब हमने शताब्दियों की मोह-निद्रा त्यागी और अपनी स्थिति का अध्ययन किया, मातृभाषा और साहित्य की गति-विधि पर विचार किया, अपने अतीत गौरव, वर्तमान अधोगति और अनिश्चित भविष्य के सम्बन्ध में भयभीत हृदय से क्रन्दन किया तब हमें साहित्य में गद्य की प्रतिष्ठा करनी पड़ी और तभी गद्य-काव्य को भी अंकुरित होने का सुयोग मिला।

आधुनिक काल में गद्य-काव्य के विकास के कारण—अब हम उन कारणों पर भी विचार कर लेना चाहते हैं जिन्होंने आधुनिक काल में छोटे-छोटे गद्य-काव्यों की इस विशिष्ट साहित्यिक धारा को विकसित होने का अवसर दिया। वे कारण ये हैं—मनोवैज्ञानिक कारण, राजनीतिक कारण, सामाजिक कारण और साहित्यिक कारण।

मनोवैज्ञानिक कारण—आधुनिक काल के प्रवर्त्तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और उनके मण्डल के लेखकों ने पत्रकार के रूप में देश और समाज में जागरण का शंखनाद किया। पत्रों में स्थान के सीमित होने से कविताएँ भी छोटी-छोटी छपती थीं और देश तथा समाज की दशा से सम्बन्धित विषयों पर टिप्पणियाँ तथा लेख भी लघु आकार के होते थे। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', 'ब्राह्मण' और 'हिन्दी प्रदीप' की फ़ाइलों से इस बात का पता चलता है कि किस प्रकार इन पत्रों में भिन्न-भिन्न विषयों पर लघु आकार की रचनाएँ निकलती थीं। ये पत्र ही तत्कालीन लेखकों के निबन्ध, कहानी, नाटक, आलोचनादि के प्रकाशन के माध्यम थे। इन रचनाओं में विशेषकर निबन्ध और सामाजिक पतन पर लिखी गई टिप्पणियों में गद्य-काव्य की आत्मा छटपटाती मिलती है। सर्वश्री भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', गोविन्द नारायण मिश्र से लेकर बहुत आगे जाकर माधव प्रसाद मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल तक के निबन्धों में स्थान-स्थान पर गद्य काव्योचित भावुकता का समावेश इसी दिशा की ओर संकेत करता है। एक बात और थी, इस काल का साहित्यकार न तो भक्ति-काल की भाँति भक्ति में तन्मय रह सकता था और न वीरगाथाकाल अथवा रीतिकाल की भाँति किसी के आश्रय में रहकर

साहित्य को जीविकोपार्जन का साधन बना सकता था। इस काल में तो साहित्य-सेवा उसके लिए धर्म था। वह स्वयं कमाता था समाज में रहकर काम करता था और जो समय मिलता था उसे वह अपने साहित्य-सेवा के धर्म का पालन करने में लगाता था। इस कारण भी वह छोटी-छोटी रचनाएँ ही दे सकता था। इन रचनाओं में अवशिष्ट धार्मिकता और शृंगारिक भावुकता की झलक का आ जाना स्वाभाविक भी था।

सामाजिक कारण—आधुनिक काल सुधार-जागरण-काल कहा जाता है। आर्य समाज के आन्दोलन के फलस्वरूप सामाजिक और धार्मिक रूढियों और अन्धविश्वासों पर प्रहार करने के कारण इस काल में साहित्यकार की अभिव्यक्ति उपयोगितावादी हो गई और बहुमुखी सुधार करने की उत्साहपूर्ण चेतना के जागृत होने से उसकी शक्तियाँ विभिन्न दिशाओं में लगीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक तो काव्य के लिए उसके पास समय कम बचा और दूसरे स्फुट प्रयत्नों में वेदना को ही काव्य का माध्यम बनाया गया। यह वेदना पर आधारित काव्य बड़ा नहीं हो सकता था। कवि का अन्तस् किसी प्रसंग पर व्यथा से विचलित होकर द्रवित हो उठता था और वह पश्चात्ताप, आत्म-ग्लानि, विषाद तथा करुणा की धारा में बहने लगता था। गद्य और पद्य में समाज की करुण दशा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना और इस दशा से मुक्त होने की प्रेरणा देना ही कवि का कार्य था। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक बन्धनों के बीच जो संघर्ष आधुनिक काल में रहा उसने साहित्यकार की अभिव्यक्ति को स्फुटता अथवा आकार की लघुता दी। कारण, उसका मन चंचलतावश कभी समाज की समस्याओं को लेता था, कभी अपने भीतर की हलचल को। उसे स्थिर बैठने का अवकाश न था, और स्थिरता के बिना लम्बी रचनाएँ सम्भव न थीं।

राजनीतिक कारण—राजनीतिक अवस्था के कारण भी तत्कालीन अभिव्यक्ति आकार की लघुता की ओर बढ़ी। कांग्रेस के कारण एक ओर हमारे भीतर पराधीनता-पाश को छिन्न-भिन्न करने की भावना जगी तो दूसरी ओर अतीत गौरव के प्रति प्रेम का सूत्रपात हुआ। स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने वालों को उत्साह देने के लिए और जनता में राष्ट्रीय भावना का व्यापक प्रसार करने के लिए काव्य में ऐसे ही प्रसंग लिये गए जो मार्मिक तथा प्रेरणादायक थे। देश के प्रति प्रेम, भारत-भूमि और उसके वन-पर्वत, नदी-निर्झर आदि की प्रशंसा, दासता के अभिशाप के फलस्वरूप दलितों की दुर्दशा, बलिदान की प्रेरणा के लिए राणा प्रताप और शिवाजी के शौर्य की प्रशस्ति आदि पर अनेक रचनाएँ लिखी गईं। उनका लक्ष्य था कि किसी-न-किसी प्रकार देश को गत गौरव को पुनः प्राप्त करने योग्य बनाना और स्वराज्य की स्थापना करना। एक प्रकार से चारण-काल की प्रवृत्ति का उदात्तीकरण इस काल में हुआ। उदात्तीकरण इसलिए कि चारण-काल में व्यक्तिगत विजय ही अभिप्रेत थी, जबकि आधुनिक काल में समूचे राष्ट्र के उत्थान की भावना की प्रधानता थी।

साहित्यिक कारण—जब समाज में पुरानी रूढियों और राजनीति में राज-भक्ति के विरुद्ध आवाज़ उठ रही थी तब साहित्य में भी साहित्य-शास्त्र के प्रति विद्रोह की भावना बलवती हो रही है। भारतेन्दु बाबू ने स्वयं नाटकों और कविताओं में पुरातनता

के मोह को छोड़ा था, द्विवेदीजी ने रीतिकाल की अतिश्रृंगारिता का बहिष्कार करने और भाषा-संशोधन द्वारा गद्य-पद्य में क्रान्ति की थी। इस प्रकार शास्त्रीयता के बोझ को उतारने का उपक्रम हो रहा था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि अब कवि के पास इतना समय नहीं था कि वह काव्य-शिक्षा और काव्याभ्यास में वर्षों लगाकर कविता के क्षेत्र में पदार्पण करता। अब तो केवल अपनी प्रतिभा के बल पर ही आगे बढ़ने का साहस करना था। कुछ बंगला द्वारा और कुछ सीधे अंग्रेज़ी के सम्पर्क ने उनके साहस को और बढ़ाया। फलतः भाषा, भाव और छन्द के बन्धन शिथिल होने लगे। निराला ने इस दिशा में अपने मुक्त छन्दों द्वारा क्रान्ति का नेतृत्व किया। उनके अतिरिक्त अन्य छायावादी कवियों ने भी स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति के प्रभाव में नवीन पथ का अनुसरण किया। इनमें से अधिकांश ने मुक्तक कविताएँ ही लिखीं। इन लोगों ने द्विवेदीजी की कठोर नैतिकता के विरोध में अशरीरी सौन्दर्य के वर्णन द्वारा अपनी श्रृंगारिक भावना की तृप्ति भी की। लेकिन कल्पना-जगत् की विषमता के कारण इनके हृदय में चिरस्थायी वेदना ने जन्म लिया। यही वेदना उनके काव्य का मूल है। छायावादी कवियों में इस वेदना का भिन्न-भिन्न रूपों में वर्णन मिलता है। इन्हीं छायावादी कवियों द्वारा प्रवर्तित काव्य-प्रणाली की स्वच्छन्दता से लाभ उठाकर कुछ लोगों ने गद्य में ही उन भावनाओं को व्यक्त करना आरम्भ कर दिया, जिन्हें छायावादी पद्य में व्यक्त करते थे। धीरे-धीरे उनकी गद्य में व्यक्त कवित्वमय भावना ने एक पृथक् साहित्यिक धारा का रूप ले लिया, जो गद्य-काव्य या गद्य-गीत के नाम से पुकारी जाती है।

गद्य-काव्य : हिन्दी की विशेषता—आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्य के जन्म के सम्बन्ध में हम विचार कर चुके और देख चुके कि किस प्रकार स्फुट अभिव्यक्ति के युग में वेदना के प्राधान्य के कारण गद्य में व्यक्त भावों ने गद्य-काव्य का रूप लिया। अब हम यह कहना चाहते हैं कि अपने आधुनिक रूप में गद्य-काव्य हिन्दी की ही विशेषता है। हमने इस सम्बन्ध में प्रान्तीय भाषाओं के सम्पर्क में रहने वाले विद्वानों से पत्र-व्यवहार किया था। उसके परिणामस्वरूप हमें पता चला कि अन्य प्रान्तीय भाषाओं में गद्य-काव्य का वैसा विकास नहीं हुआ जैसा हिन्दी में हुआ है। यहाँ हम बंगला, मराठी और गुजराती के सम्बन्ध में ही विद्वानों के मत देंगे। उनसे हमारे कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाएगी। बंगला के सम्बन्ध में श्री भँवरमल सिंघी ने कलकत्ता से लिखा—"मैं बंगला साहित्य के बारे में जो जानकारी रखता हूँ उसके आधार पर मेरा तो यह मत है कि बंगला में गद्य-काव्य-धारा का बहुत प्रसार नहीं हुआ।"[1] यदि इनकी बात न मानें तो श्री सुनीतिकुमार चटर्जी का मत तो मान्य होना ही चाहिए, जो कहते हैं—"विशेषकर बंगला में गद्य-कविता का प्रसार अधिक नहीं हुआ। रवीन्द्रनाथ ने अपनी बंगला कविताओं के जो अंग्रेज़ी अनुवाद किये उनका असर बंगला भाषा पर बहुत ही कम पड़ा, चाहे बंगला के बाहर उनका कितना ही असर पड़ा हो।"[2] मराठी के सम्बन्ध में नागपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष, प्रसिद्ध कवि और समालोचक श्री

१. ३०-८-५१ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
२. 'वेदना' की भूमिका, पृ० ८।

विनयमोहन शर्मा ने लिखा है—"मराठी साहित्य में गद्य-काव्य का अधिक प्रचलन नहीं है। मुक्त छन्द की कविता तथा भाव-कथा की ओर अधिक रुझान होने से गद्य-काव्य पनप नहीं सका। जिसमें गद्य-काव्य लिखने की प्रतिभा है वह मुक्त छन्द लिखता है या भाव-कथा।"[1] हिन्दी और मराठी के ख्याति-प्राप्त विद्वान् श्री प्रभाकर माचवे ने भी अपने एक पत्र में श्री विनयमोहन शर्मा के कथन का इस प्रकार समर्थन किया है—"मराठी में गम्भीरतापूर्वक गद्य-काव्य का प्रणयन नहीं हुआ।"[2] गुजराती के सम्बन्ध में राष्ट्रभाषा प्रचारक मण्डल, सूरत के प्रधान मन्त्री और गुजराती भाषा तथा साहित्य के मर्मज्ञ श्री विपिन विहारी चटपट का कहना है—"गुजराती के महाकवि न्हानालाल ने गद्य-काव्य लिखना शुरू किया था और बहुत अंशों में वे सफल भी हुए। न्हानालाल की यह शैली गुजराती में डोलन-शैली के नाम से प्रसिद्ध है।···महाकवि की इस शैली का अनुकरण मूलजी दुर्लभजी वेद, सुमति, सागर आदि ने तथा अन्य कवियों ने भी किया है; लेकिन वे उसमें अधिक सफल नहीं हुए। अतः यह धारा हिन्दी की तरह विकसित नहीं हो पाई। गुजराती में गद्य-काव्य का कोई अलग इतिहास नहीं है।"[3] श्री चटपट जी के विचारों का पोषण गुजराती के प्रसिद्ध कथाकार श्री रमणलाल वसन्तलाल देसाई भी करते हैं। वे लिखते हैं—"आज न्हानालाल के अतिरिक्त इस शैली (गद्य-काव्य-शैली) को कोई नहीं अपनाता। न्हानालाल का अनुकरण बहुत दिन पहले हुआ अवश्य था और मूलजी दुर्लभजी वेद में न्हानालाल-जैसी दमक थी, परन्तु पिछले तीस वर्ष से वेद कुछ लिखते नहीं जान पड़ते। सुमति ने 'भेषपालबाल' में डोलन शैली का आश्रय लिया था। सागर ने भी डोलन शैली में कुछ प्रयत्न किया। यह प्रयत्न शैली-चमत्कार देखते ही लुभा जाने वाले कुछ और नौसिखुओं ने भी किया, परन्तु किसी को भारी सफलता नहीं मिली। इतना ही नहीं गुजराती भाषा के गांधी-युग के साहित्य ने बीस वर्ष से डोलन शैली का स्पर्श भी नहीं किया।"[4]

उपर्युक्त विद्वानों की इन सम्मतियों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गद्य-काव्य का जो विकास हिन्दी में हुआ है वह बंगला, मराठी, गुजराती आदि प्रमुख प्रान्तीय भाषाओं में नहीं हुआ। कदाचित् यही दशा अन्य भाषाओं की भी होगी। इस प्रकार प्रान्तीय भापाओं में इस धारा की विशिष्टता नहीं है।

गद्य-काव्य और गद्य की अन्य विधाएँ—गद्य-काव्य की परिभाषा, उसकी प्राचीनता और अन्य प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा उसके हिन्दी की ही विशेषता होने पर विचार कर लेने के बाद गद्य-काव्य के अन्तर्गत आने वाली रचनाओं का विश्लेषण कर लेना भी आवश्यक है। जहाँ तक गद्य-काव्य के विस्तृत अर्थ का सम्बन्ध है वहाँ तक उसकी परिधि में उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, रेखाचित्र आदि सबका समावेश हो जाता

---

१. ४-९-५१ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
२. ११-६-५१ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
३. २५-५-५२ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
४. 'गुजरातनुं घड़तर' नामक पुस्तक में पृ० २४७-२४८ पर न्हानालाल की डोलन शैली का विवेचन।

है। लेकिन जिसे आजकल गद्य-काव्य कहा जाता है वह अपने विशिष्ट अर्थ में एक ऐसी इतिवृत्त-हीन, अनुभूति-प्रधान, आकार की लघुता की ओर उन्मुख गद्य-रचना है, जो इन साहित्यिक विधाओं में से किसी के भी साथ साम्य न रखने के कारण पृथक् अस्तित्व सिद्ध कर चुकी है। उपन्यास का घटना-चक्र और वर्णन-बाहुल्य तो गद्य-काव्य से कोसों दूर है ही। कहानी भी अपनी वस्तु-प्रधानता और कौतूहल-वृत्ति-परकता के कारण उसकी सीमा से बाहर है। उपन्यास और कहानी की ही भाँति नाटक में भी वस्तु की प्रधानता रहती है; अतः उससे भी गद्य-काव्य का कोई मेल नहीं। रेखाचित्रों में व्यक्ति-विशेष के जीवन का ऐसा लोकबद्ध चित्रण अभिप्रेत होता है, जो पाठकों को मनोरंजन के साथ उसकी विशिष्टता से परिचित कराता है। स्पष्ट ही गद्य-काव्य में इन तत्त्वों का अभाव होने से वे रेखाचित्रों से कोई समानता नहीं रखते। अब रह जाते हैं निबन्ध। इनमें से विचारात्मक निबन्ध तो अपनी बौद्धिक बोझिलता और क्रमबद्धता के कारण गद्य-काव्य की सीमा स्पर्श कर ही नहीं सकते, भावात्मक निबन्ध अवश्य ही गद्य-काव्य का स्थान लेते दीख पड़ते हैं, लेकिन जैसा कि प्रसिद्ध निबन्धकार और आलोचक बाबू गुलाबराय ने कहा है, साहित्य की इन दोनों विधाओं में कुछ अन्तर है। दोनों में भावना का प्राधान्य तो अवश्य है किन्तु भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्य-काव्य में कुछ वैयक्तिकता और एकतथ्यता अधिक होती है। उसमें एक ही केन्द्रीय भावना का प्राधान्य होने के कारण यह निबन्ध की अपेक्षा आकार में छोटा होता है, और उसमें अन्विति भी कुछ अधिक होती है। निबन्धकार विचार-शृंखला के सहारे इधर-उधर भटक भी सकता है, किन्तु गद्य-काव्य एक निश्चित ध्येय की ओर जाता है, उसमें इधर-उधर विचरण करने की गुञ्जाइश नहीं।[1] सारांश यह है कि गद्य-काव्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध और रेखा-चित्रों में से किसी का समावेश नहीं किया जा सकता, भले ही उनमें कितना ही कवित्व का समावेश करने का प्रयत्न किया गया हो। सर्वश्री प्रसाद और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियाँ एवं रावी की लघु-कथाएँ और श्री रामवृक्ष बेनीपुरी तथा प्रकाशचन्द गुप्त के रेखा-चित्र, माधवप्रसाद मिश्र और सरदार पूर्णसिंह के भावपूर्ण निबन्धों आदि को इसीलिए गद्य-काव्य के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा किया जाय तो फिर परिशिष्ट संख्या-२ में व्यक्त श्री ब्रह्मदेव के मतानुसार सर्वश्री मालवीयजी और गांधीजी के प्रवचन, जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' और राजेन्द्र बाबू के भाषणों को भी गद्य-काव्य के अन्तर्गत रखना पड़ेगा। लेकिन यह अनुचित होगा।

गद्य-काव्य और गद्य-गीत—इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्य की अपनी निश्चित सीमाएँ हैं और उनके भीतर आने वाली रचनाओं के दो प्रमुख भेद हैं—(१) गद्य-काव्य (२) गद्य-गीत। इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए स्वर्गीय पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है—"गद्य-काव्य में कल्पना की प्रधानता होती है। उसमें अनेक भावों और रसों की अवतारणा की जा सकती है, पर गद्य-गीत में एक ही भाव की थोड़े-से संगीतात्मक शब्दों में अभिव्यक्ति होती है और तद्विषयक साधन से ही वह सम्पन्न रहता

---

१. 'काव्य के रूप' द्वितीयावृत्ति, पृ० २६५।

है। गद्य-गीत के आवश्यक साधन हैं—भावावेश, अनुभूति की विभूति और अभिव्यञ्जन-कुशलता। गद्य की ज्ञेयता अनिवार्य नहीं। सम्भव है, सुन्दर शब्दावलियों और अपूर्व वाक्य-विन्यास से कोई भिन्न लय उत्पन्न की जा सके। गीति-कविता के समान अधिकतर गद्य-गीत अन्तर्वृत्ति-निरूपक ही होते हैं, जिनमें आत्माभिव्यञ्जन की मात्रा अधिक रहती है।"[1] श्री विनयमोहन शर्मा का मत है—"गद्य-गीत में एक भाव की अभिव्यक्ति होती है और भावावेश का उपकरण प्रधान होता है। गद्य-काव्य में कल्पना-तत्त्व की प्रबलता होती है, उसमें गेयता अनिवार्य नहीं है। उसका विस्तार महाकाव्य की कथा का रूप भी धारण कर सकता है, अनेक भावों और रसों की योजना उसमें सम्भव है।"[2] उक्त दोनों विद्वानों के विचारों से ही मिलते-जुलते विचार श्री तेजनारायण काक के हैं। वे कहते हैं—"गद्य-काव्यों में जहाँ किसी एक प्रधान भाव के साथ-ही-साथ अनेक गौण अनुभूतियाँ, भावनाएँ और कल्पनाएँ पाई जाती हैं वहाँ गद्य-गीतों में थोड़े-से चुने हुए शब्दों में व्यक्त भावों का प्रकाशन तथा विचारों की एकरूपता रहती है। प्रबन्ध-काव्य और पद्य-गीत छन्दोबद्ध होने के कारण गेय होते हैं, किन्तु गद्य-काव्यों और गद्य-गीतों में केवल शब्द-संगीत का ही समावेश किया जा सकता है। ध्वनियों, शब्दों और वाक्यों की मात्रा से गद्य में भी लय उत्पन्न की जा सकती है, किन्तु वह पद्य-कविता की लय से सर्वथा भिन्न होगी।"[3] अभिप्राय यह है कि गद्य-काव्य आकार में बड़े, भाव-सम्पत्ति में विशाल, कल्पना-वैभव में सम्पन्न और अलंकृत-शैली में सज्जित होते हैं, जबकि गद्य-गीत अत्यन्त ही लघु, यहाँ तक कि दो-दो, चार-चार पंक्तियों तक में अपने को समेट लेने वाले, एक भाव, एक वृत्ति, एक विचार, एक वातावरण में खिल उठने वाले, अभिव्यक्ति की सरलता और गति-लय-युक्त शब्द-विन्यास का आधार लेकर चलने वाले होते हैं। इनमें कहीं-कहीं पंक्तियों का ऐसा विन्यास भी होता है कि वे पद्य-गीतों की होड़ करते-से जान पड़ते हैं।

गद्य-काव्य के इन दो मुख्य भेदों के अतिरिक्त इधर खलील जिब्रान के प्रभाव से जीवन-सत्य की ओर इंगित करने वाली संवादात्मक और कथात्मक अभिव्यक्तियाँ भी गद्य-काव्यों के अन्तर्गत आ गई हैं। अन्योक्ति और रूपक की शैली की छोटी-छोटी रचनाएँ तो बहुत पहले से ही इनके अन्तर्गत हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के अनुकरण पर भावों में लिपटे हुए कुछ दार्शनिकता लिये सूक्त्यात्मक विचारों का भी इन्हीं के भीतर समावेश होता है। इन सबका विवेचन आगे हुआ है।

गद्य-काव्य की विशेषताएँ—अन्त में यदि सामूहिक रूप से गद्य-काव्य की मूल विशेषताओं पर विचार करें तो हमें सबसे पहली बात अनुभूति की गहराई की मिलती है। इस तत्त्व के बिना गद्य-काव्य में सरसता नहीं आ सकती। दूसरी बात भावावेश की है, जो गद्य-काव्य में अनुभूति को अकृत्रिमता और सरलता से व्यक्त करने की क्षमता उत्पन्न करती है। तीसरी बात कल्पना की प्रधानता की है, जिसके कारण गद्य-काव्य में

१. 'काव्य दर्पण', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३५१।
२. 'बंशीरव' की भूमिका, पृष्ठ ५।
३. 'विशाल भारत', नवम्बर १९४५, पृष्ठ ३०६।

मौलिक उद्भावनाओं का समावेश सम्भव होता है। अलंकार-सौन्दर्य और उक्ति-वैचित्र्य कल्पना की ही देन होते हैं। चौथी बात इतिवृत्तहीनता की है, जो गद्य-काव्य को साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक् करने वाली प्रमुख विशेषता है। पाँचवीं बात एकतथ्यता की है, जिससे गद्य-काव्य में एक ही विचार या भाव पर केन्द्रित रहा जा सकता है। इतिवृत्तहीनता की भाँति यह विशेषता भी गद्य-काव्य को साहित्य की अन्य विधाओं से अलग करती है। छठी बात विचार के ईषत् स्पर्श की है, जिसके कारण गद्य-काव्य में बुद्धि-तत्त्व को विशेष महत्त्व न देते हुए भी उसकी नितान्त अवहेलना नहीं होती। इसी विशेषता के कारण गद्य-काव्य में कोरी कल्पना से युक्त पद्य-पंक्ति की अपेक्षा कोई-न-कोई तत्त्व की बात अवश्य रहती है। सातवीं और अन्तिम बात है गद्य-सौष्ठव की, जिसके बिना गद्य-काव्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। चुने हुए शब्द और आकर्षक पद-न्यास से ही गद्य-काव्य में राग और लय का समावेश होता है, जो पाठक को बहा ले जाने में समर्थ होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि गद्य-काव्य हिन्दी-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है, जिसका अपना अलग शिल्प-विधान और अलग विशेषताएँ हैं, जिनके आधार पर वह साहित्य की अन्य विधाओं से भिन्न और विशिष्ट स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी-गद्य-काव्य का इतिहास

क्या गद्य-काव्य बंगला की देन है ?—पिछले अध्याय में गद्य-काव्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए हम इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि गद्य-काव्य हिन्दी की ही विशेषता है। लेकिन कुछ विद्वान् हैं, जो यह मानते हैं कि हिन्दी-गद्य-काव्य की धारा के विकास का श्रेय बंगला और विशेषकर विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' को है। शान्तिनिकेतन के भूतपूर्व हिन्दी-विभागाध्यक्ष और काशी विश्वविद्यालय के वर्तमान हिन्दी-विभागाध्यक्ष आलोचक-शिरोमणि आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—" 'गीतांजलि' के अंग्रेजी अनुवाद ने हिन्दी में उस सुकुमार गद्य-शैली को जन्म दिया है, जिसे नाट्य-काव्य कहा जाता है। बाबू रायकृष्ण दास की 'साधना' पं० रामचन्द्र शुक्ल-जैसे सावधान पंडित से प्रशंसा प्राप्त कर सकी है। नये-नये लेखक अब भी गद्य-काव्य लिखते चले जा रहे हैं। मैंने दिनेशनन्दिनी चोरडिया की लिखी हुई ऐसी रचनाएँ देखी हैं, जो यद्यपि 'गीतांजलि' की तरह आध्यात्मिक ऊँचाई पर ले जाने वाली नहीं हैं, पर सरस जरूर हैं।"[१] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी का उल्लेख किया है, अतः शुक्लजी का मत भी देख लेना चाहिए। उनका कहना है—"रवीन्द्र बाबू के प्रभाव से कुछ रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग लिये हुए जिस भावात्मक गद्य का प्रचलन हुआ वह विशेष अलंकृत होकर अन्योक्ति पद्धति पर चला। ब्रह्म-समाज ने जिस प्रकार ईसाइयों के अनुकरण पर अपनी प्रार्थना का विशेष दिन रविवार रखा था, उसी प्रकार अपने भक्ति-भाव की व्यञ्जना के लिए पुराने ईसाई सन्तों की पद्धति भी ग्रहण की।"[२] यह लिखकर उन्होंने ईसा की बारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में होने वाले सन्त बरनार्ड का दूल्हा-रूप ईश्वर के हृदय के 'तीसरे कक्ष' में प्रवेश होने वाली पंक्तियों को भी उद्धृत किया है।

श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भारतीय गद्य-काव्य को अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण का फल बताकर इस क्षेत्र में रवीन्द्र की देन का उल्लेख किया है और 'गीतांजलि' के अंग्रेज़ी अनुवाद को भारतीय भाषाओं में गद्य-काव्य के प्रचार का मूल कारण बताया

---

१. 'विशाल भारत', भाग २६, अंक १ (रवीन्द्र-अंक), जनवरी १९४२, पृ० सं० १४।
२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', छठा संस्करण, पृष्ठ ५५६।

है। वे लिखते हैं : "अंग्रेज़ी के माध्यम से गद्य-कविता की नई धारा भारत में प्रवाहित हुई। अंग्रेज़ी बाइबिल सब कोई पढ़ते थे, पर श्री रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' और अन्य पुस्तकों से इस गद्य-कविता का ज्यादा प्रचार हुआ। भारतीय भाषाओं में भी यह चीज़ आने लगी। कोई पच्चीस वर्ष पूर्व श्रीयुत क्षितिमोहन सेन ने कबीरजी के कुछ अनुभूतिमय पद बंगाक्षर में मूल हिन्दी के साथ बंगला अनुवादसहित प्रकाशित किये थे। अनुवाद गद्य में ही था, पर क्षितिमोहनजी जैसे सुसाहित्यिक के हाथों से कबीर के मार्मिक पदों के कवित्व का जोश नहीं घटा। किन्तु बंगला के नये आवेष्टनों में मानो वह और बढ़ गया। बंगला भाषा में वह अनुवाद गद्य-कविता का पहला नमूना बना। गद्य में काव्योच्छ्वासमय दो-चार पुस्तकें, जैसे चन्द्रशेखर मुखर्जी की 'उद्‌भ्रान्त प्रेम' और हरप्रसाद शास्त्री की 'वाल्मीकिर जय', निकली थीं। पर सचमुच बंगला में गद्य-कविता के प्रवाह को क्षितिमोहन-कृत कबीर के अनुवाद से नई शक्ति मिली। परन्तु विशेषकर बंगला में गद्य-कविता का प्रसार अधिक नहीं हुआ। रवीन्द्रनाथ ने अपनी बंगला-कविताओं के जो अंग्रेज़ी अनुवाद किये उनका प्रभाव बंगला भाषा पर बहुत ही कम पड़ा, चाहे बंगाल के बाहर उनका कितना ही प्रभाव पड़ा हो। क्षितिमोहन सेन की हिन्दी-बंगला; 'कबीर' के आधार पर रवीन्द्रनाथ ने जो 'हण्ड्रेड पोइम्स फ्राम कबीर' नामक पुस्तक प्रकाशित की, उसने रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्त्तित भारतीय ढंग की गद्य-कविता की ओर बहुत-से लेखकों और अनुवादकों को आकर्षित किया। पंजाबी के प्रसिद्ध कवि स्वर्गवासी पूर्णसिंह ने अपनी मनोहर पंजाबी कविताओं के तथा सिक्ख 'आदि ग्रन्थ' के महत्त्वपूर्ण पदों के सुन्दर अनुवाद अंग्रेज़ी गद्य-काव्य के रूप में प्रकाशित किये थे।[1] इसके बाद पंजाबी के विख्यात कवि भाई वीरसिंह की कविताओं का भी स्वतन्त्र अनुवाद उन्होंने पुस्तकाकार प्रकाशित किया।[2] मुझे पूर्णसिंहजी की मूल रचना देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका, पर इनके अंग्रेज़ी अनुवादों से भी मूल के मनोहारित्व का कुछ आभास मिल सकता है। श्रीयुत तारादत्त गैरोला ने रवीन्द्रनाथ के 'कबीर' के ढंग पर 'दादू' के कुछ पदों का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया।[3] इस प्रकार रवीन्द्रनाथ के दृष्टान्त से भारतीय साहित्य के अंग्रेज़ी समय में गद्य-कविता का एक महत्त्वपूर्ण स्थान हुआ और इसकी प्रतिक्रिया भारतीय भाषा-साहित्यों में अवश्यम्भावी रूप से दिखाई दी।···बंगला साहित्य के उन्नतिशील होने के कारण उसका प्रभाव हिन्दी पर पड़ेगा, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। कलकत्ता के हिन्दी-साहित्यिकों में बंगला जानने वाले और बंगला-साहित्य के प्रेमी काफ़ी हैं। बंगला-ग्रन्थों के अनुवादों से आधुनिक हिन्दी की संस्कृत-बहुला नई गद्य-शैली को बहुत प्रोत्साहन मिला। बहुत-से संस्कृत के शब्द अनुवाद के रास्ते से आधुनिक हिन्दी में आये और बंगला के कई प्रयोग संस्कृत के नियमानुसार अशुद्ध होते हुए भी हिन्दी में

---

१. 'दी सिस्टर आफ स्पीनिंग व्हील एण्ड सिक्ख पोइम्स', ओरिजनल एण्ड ट्रांसलेटेड बाई पूर्णसिंह विद एन इण्ट्रोडक्शन बाई एरनेस्ट एण्ड ग्रेस राइस, १९२१ लन्दन, जे० एम० डेण्ट एण्ड सन्स लिमिटेड।

२. अनस्ट्रांग बीड्स, जे० एम० डेण्ट एण्ड सन्स, १९२५।

३. प्साल्म्स ऑफ दादू (१९२६), थियोसोफिकल सोसाइटी, बनारस सिटी।

गृहीत हुए। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य पर चन्द्रशेखर मुखर्ज्या के 'उद्भ्रान्त प्रेम' के प्रभाव का वर्णन किया है।[१]

विश्व-कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'पुनश्च' नामक कृति की आलोचना करते हुए डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर स्वयं रविबाबू द्वारा लिखित 'पुनश्च' की भूमिका के जो शब्द उद्धृत किये हैं उनसे भी इस बात का आभास मिलता है कि 'गीतांजलि' के अंग्रेज़ी अनुवाद ने ही आधुनिक गद्य-काव्य को जन्म दिया। उनका (रवि बाबू का) कथन है—"मैंने 'गीतांजलि' के गानों का अंग्रेज़ी गद्य में अनुवाद किया था। यह अनुवाद काव्य-श्रेणी में गण्य हुआ। तभी से मेरे मन में यह प्रश्न था कि पद्य छन्द की सुस्पष्ट झंकार न रखकर अंग्रेज़ी की तरह ही बंगला-गद्य में कविता का रस दिया जा सकता है या नहीं। याद आता है कि सत्येन्द्रनाथ से ऐसा करने का अनुरोध किया था। उन्होंने स्वीकार भी किया था, पर कोशिश नहीं की। तब मैंने स्वयं परीक्षा की। 'लिपिका' की कुछ कविताओं में यह बात है। छापते समय काव्यों को पद्य की भाँति खंडित नहीं किया गया था। जान पड़ता है भीरुता ही इसका कारण थी। इसके बाद मेरे अनुरोध से अवनीन्द्रनाथ इस चेष्टा में प्रवृत्त हुए। मेरा मत यह है कि उनके लेख काव्य की सीमा में आये थे, पर भाषा-बाहुल्य के कारण उनमें परिणाम की रक्षा न हो सकी थी और एक बार मैं उसी चेष्टा में प्रवृत्त हुआ हूँ।" रविबाबू के इन शब्दों को उद्धृत करके आचार्य द्विवेदी ने 'पुनश्च' को उनकी इसी चेष्टा का फल बताया है।[२]

कुछ गद्य-काव्य-लेखकों और गद्य-काव्यात्मक कृतियों की भूमिका लिखने वाले विद्वानों ने भी 'गीतांजलि' को हिन्दी-गद्य-काव्य का आधार माना है। गद्य-काव्य के प्रवर्त्तकों में अग्रणी 'साधना' के कृती श्री रायकृष्ण दास ने 'गीतांजलि' का ऋण इस प्रकार स्वीकार किया है—"गीतांजलि ने खुद-ब-खुद मेरा हृदय अपनी ओर खींच लिया। बात यह थी कि सन् १९१२-१३ में 'गीतांजलि' के अंग्रेज़ी अनुवाद की धूम मची हुई थी। अंग्रेज़ी में प्रवेश न था। प्रयत्न किया। समझ न सका। उसे पढ़ने की इच्छा तीव्र हुई। इण्डियन प्रेस से उसका नागरी अक्षरों वाला बंगला-संस्करण भी मँगाया, पर दुर्भाग्यवश मैं बंगला नहीं जानता था। एक लड़कपन था कि बंगला पढ़ने से मेरी मौलिकता नष्ट हो जायगी और इस लड़कपन का मुझे आज तक दुःख है। सो, उसका यह अनुवाद (कानपुर के महाशय काशीनाथ द्वारा 'गीतांजलि' का हिन्दी-अनुवाद) पाकर उस पुरानी प्रवृत्ति की तृप्ति का द्वार खुल गया। इतना ही नहीं, उसके एकाध पृष्ठ में ही इतनी कोमलता, भावुकता और सरसता मिली कि मैं उसमें तन्मय हो गया। साथ ही उसी तरह के कितने ही भाव घने मेघ-पटल की तरह अन्तस्तल में उमड़ पड़े। उसकी प्रत्येक पंक्ति से एक नया भाव सूझने लगा। आगे पढ़ने की कौन कहे, वहीं रुककर मैं हठात् उन्हें उस पोथी की पोस्तीनों पर लिखने लगा।.........हिमालय के सौन्दर्य ने भी लिखने में बड़ी सहायता दी। लिखना दिन में तो होता ही, रात में घण्टों बीतते। लिखता, बार-बार पढ़ता और झूमता। इन्हीं भावों से मिलते-जुलते वर्षों के भाव भी लिख डाले। मित्रों

१. 'वेदना' की भूमिका, पृष्ठ ७—९।

२. 'विशाल भारत', भाग १४, अंक ५, नवम्बर १९३४, पृष्ठ ५३३।

से बातचीत में कोई भाव उमड़ जाता और साधारण घटना भावोद्बोधन का कारण बन जाती। उसी रंग में सराबोर रहता।.........यहाँ मैं इतना स्पष्ट कर दूँ कि ऐसे जो भाव ऐहिक या भौतिक कारण से उत्पन्न होते थे उन्हें भी आध्यात्मिक रूप से ही अंकित करता था।"[1] महाराजकुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह, जो ऐतिहासिक गद्य-काव्यों के एक-मात्र लेखक हैं, कहते हैं—"गद्य-काव्य हिंदी की स्वतन्त्र धारा है या बंगला से प्रभावित? अधिक ऐतिहासिक खोज एवं अध्ययन के बाद ही इस प्रश्न का ठीक-ठीक-उत्तर दिया जा सकता है, परन्तु ऊपरी तौर पर जो-कुछ भी ज्ञात है उससे यही मानना पड़ता है कि हिन्दी में गद्य-काव्य का प्रारम्भ प्रधानतया बंगला से प्रभावित होकर ही हुआ। यह सत्य है कि एक बार प्रारम्भ होकर हिन्दी में गद्य-काव्य ने अपना सर्वथा स्वतन्त्र रूप धारण किया, जैसे चतुरसेन शास्त्री के गद्य-काव्य। फिर भी इस बात से इन्कार करना कठिन है कि इस शैली या प्रवृत्ति-विशेष का हिन्दी में प्रारम्भ बंगला, विशेषतया रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' की प्रेरणा से ही हुआ था।"[2] श्री तेजनारायण काक 'क्रांति' ने लिखा है—"सन् १९३० में मैंने विश्व-कवि रवीन्द्र की 'गीतांजलि' पढ़ी थी। उनके गीतों का मेरी आत्मा पर बहुत गहरा प्रभाव पडा। 'मदिरा' के अधिकांश गीतों में जो रहस्यो-न्मुखी आध्यात्मिकता का अंश है उसके मूल में रवीन्द्र के गीतों का ही प्रभाव है। बहुत सम्भव है कि मेरे गीतों में कहीं-कहीं अन्य लेखकों के भावों की छाया भी दिखाई दे जाय और 'गीतांजलि' के गीतों का मधुर स्वर, भव्य-भावना व कमनीय कल्पना के इन्द्र-धनुषी रंग खोजने पर भी न मिलें, किन्तु इस सबसे क्या?"[3] श्री रामलाल पाण्डे का मत है—"प्रायः यह सभी मानते हैं कि काव्य का यह अंग छायावाद से निकला है। अपने यहाँ इसके जन्मदाता कवीन्द्र श्री रवीन्द्र कहे जाते हैं। उनकी उज्ज्वल कृति 'गीतांजलि' उक्त कथन का प्रमाण है। जहाँ तक मुझे विदित है उनकी इसी कृति से गद्य-गीतों का प्रारम्भ होता है। परिणामस्वरूप 'साधना', 'अन्तर्नाद', 'प्रवाल', 'छायापथ' आदि गद्य-काव्य-सम्बन्धी पुस्तकें हम हिन्दी में देखते हैं।"[4]

गद्य-काव्य हिन्दी की अपनी वस्तु है—उपर्युक्त उद्धरणों से यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि हिन्दी-गद्य-काव्य अपने जन्म और विकास के लिए बंगला का ऋणी है। लेकिन यह बात एकान्त सत्य नहीं है। हिन्दी के अनेक विद्वानों ने इस मत का खण्डन किया है। श्री शिवशेखर द्विवेदी ने आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल और सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की धारणा को निर्मूल सिद्ध करते हुए लिखा है—" 'उद्भ्रांत प्रेम' का हिन्दी में कहीं भी ऐसा प्रभाव नज़र नहीं आता। श्री रायकृष्णदास, श्री वियोगी हरि, श्रीमती दिनेशनन्दिनी चोरडिया आदि की कृतियों में कहीं भी भाषा और भावगत कोई प्रभाव नहीं मिलता। सम्भव है 'उद्भ्रांत प्रेम' इन लेखकों की प्रेरणा का कारण हो। लेकिन

१. 'हंस'; जुलाई अगस्त; ३१ में 'अतीत' शीर्षक के अन्तर्गत 'साधना' की रचना के विषय में विचार।
२. २६ दिसम्बर १९५१ के व्यक्तिगत पत्र से।
३ 'मदिरा' की 'कुछ' शीर्षक भूमिका में—प्रथमावृत्ति १९३५।
४. श्री चन्द्रशेखर सन्तोषी के 'विप्लव इच्छा' गद्य-काव्य-संग्रह के परिचय में।

प्रेरणा और प्रभाव में फ़र्क है। और भी। उक्त ग्रन्थकारों की कृतियों में युगधर्मी रीति-ग्रन्थ 'उद्भ्रांत प्रेम' का-सा नख-शिख-वर्णन नहीं, सर्वांगीण प्रांजलता एवं विदग्धता नहीं। हिन्दी की ये सभी कृतियाँ स्फुट गद्य-काव्य हैं। अतएव तुलना सम्भव नहीं। अपने-अपने ढंग पर एक अनूठा और नयापन देने का प्रयास-मात्र है। बंगला के गद्य-पद्य-काव्य पर विदेशी भाषाओं का प्रभाव अवश्य है (जैसा कि चटर्जी ने खुद स्वीकार किया है); पर हिन्दी के सम्बन्ध में हिन्दी के आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की उद्धृत दलील विश्वसनीय नहीं। यदि उनकी यही धारणा है तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने गंभीर विवेचना की अपेक्षा जल्दबाज़ी को ही अधिक महत्त्व दिया।"[1] इतना कहकर वे उलटे बंगला पर हिन्दी के प्रभाव का इस प्रकार समर्थन करते हैं—"तत्कालीन गृहीत काव्य-धारा का मुक्त प्रवाह भाषा के बाद बंगाल, गुजरात और सुदूर दक्षिण देशों पर भी पड़ा है। सन्तों के चलाए पन्थ आज भी वहाँ हैं। यही नहीं, हिन्दी के गीत-काव्य का प्रभाव भी बंगला पर अच्छा पड़ा है। सन्त कवि चण्डीदास, गोविन्ददास और साधक रामदास के बाद रामनिधि गुप्ता तक बंगाल का जो भी काव्य-साहित्य है उस पर हिन्दी की प्राचीन पद्धति और भाव-भंगिमा का काफ़ी साफ़ प्रभाव है। कबीर और दादू दयाल का प्रभाव आज भी बंगाल दूर नहीं कर सका। प्रतिभा के भीतर से रविबाबू ने कबीर का जो स्वागत किया है, प्रसन्नता की बात है। उनकी 'गीतांजलि' का स्वर चिरकाल तक उसे मुखरित रखेगा। और इस समय हिन्दी से छूटकर प्रभुता कायम करने की जो आवाज़ जगह-जगह उठ रही है वह तो सिर्फ़ नये पण्डे-पुजारियों की करतूत है।"[2] अन्त में वे निष्कर्ष निकालते हैं—"जो हो, हिन्दी के गद्य-पद्य पर न्यायत: बंगला का कोई प्रमाण-पुष्ट प्रभाव नहीं है। पारस्परिक लेन-देन में भी प्रसन्नता है। हिन्दी ने आज तक किसी अनुवाद को अपना कहकर आवाज़ ऊँची नहीं की। इसीलिए गद्य-काव्य के सम्बन्ध में जो भ्रम सहसा ('वेदना' के भूमिका-लेखक) श्री सुनीतिकुमार चटर्जी को हुआ है वह छान-बीन की उनकी ज़िम्मेदारी के विरुद्ध हो गया। असल में हिन्दी-गद्य-शैली शुरू से ही रूपकमयी होती आई है। उस समय की प्रचलित पद्धति पद्य-शैली का भी प्रभाव पड़ा। कारण, उसीके भीतर यह सूझ सहसा उदित हुई। पहले-पहल गद्य-शैली में रूपक-सृष्टि का श्रेय अवधी की प्रसिद्ध कवयित्री बीघापुर, ज़िला उन्नाव की 'खगनियाँ तेलिन' को है—

> **"भैंस चढ़ी बबूल पर, लप-लप पाती खाय।**
> **टाँग उठाय के देखा, तो दुइज के तीन दिन॥"[3]**

एक और प्रसिद्ध साहित्यकार ने श्री शिवशेखर द्विवेदी से मिलती-जुलती बात कही है। वे हैं श्री जनार्दन राय नागर। वे कहते हैं—"बहुतेरे गद्य-काव्यों के इस निर्माण और विकास को बंगला और आंग्ल-साहित्य का प्रभाव कहते हैं। परन्तु यह आलोचना नहीं कही जा सकती, क्योंकि साहित्य का प्रत्येक अंग मानव-हृदय के विकास का स्थूल

---

१. 'माधुरी', वर्ष १७, खण्ड १, दिसम्बर १९३८, पृष्ठ ६५४।
२. 'माधुरी', वर्ष १७, खण्ड १, दिसम्बर १९३८, पृष्ठ ६५५।
३. वही, पृष्ठ ६५५।

रूप है और वह अपने बाह्य अनुभव के विकास के साथ-साथ आन्तरिक अनुभवों को सटाना चाहता है। बाह्य और अन्तर का यह भावना-सम्मेलन ही विविध रूप में पाया जाता है। बंगला के गद्य-गीतों ने हमारे हिन्दी के सुषुप्त गद्य-गीत-लेखकों में भी अपने व्याकुल, भाव-भरे हृदय की ललित प्रेरणाएँ भर दीं और इसी प्रेरणा के उद्गम-रूप हमारे साहित्य का यह अंग भी विकसित होने लगा है। इसे हम प्रभाव कहें या अनुकरण, परन्तु वास्तव में विकास के साथ-साथ हमारा अन्तर विकसित होने के लिए तड़पता है।"[१]

कुछ गद्य-काव्य-लेखकों ने भी गद्य-काव्य-लेखन की प्रेरणा के विषय में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए इस बात की ओर संकेत किया है कि हिन्दी-गद्य-काव्य पर बंगला का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। श्री वियोगी हरिजी ने लिखा है—"गद्य-काव्य लिखने की स्वयं भाव-स्फूर्ति हुई। जब पहला गद्य-काव्य 'तरंगिणी' नाम का लिखा था तब रवीन्द्र की 'गीतांजलि' का नाम भी मैंने नहीं सुना था, न बंगला से परिचय था और न तब 'गीतांजलि' का हिन्दी-अनुवाद ही हुआ था, जिसकी शैली 'कादम्बरी' से मिलती थी। उसका अनुकरण अवश्य मैंने 'तरंगिणी' में किया था। शायद उसी समय या उससे कुछ पीछे श्री चतुरसेन शास्त्री की एक पुस्तक, सम्भवतः 'अन्तस्तल' निकली थी।"[२] श्री वृन्दावनलाल वर्मा का कहना है—"मैं बंगला नाम-मात्र की जानता हूँ। जिन दिनों वे लेख लिखे, बिलकुल नहीं जानता था। वे लेख सन् १९२१ से १९२९ तक लिखे गए थे। मन में एक उमंग उठी या खब्त कहिये; और मैंने लिखा।"[३] श्री विनोदशंकर व्यास कहते हैं—"बंगला भाषा मैं नहीं जानता, इसलिए उसका कोई भी प्रभाव मेरी रचना पर नहीं है।"[४] श्री भँवरमल सिंघी का कहना है—"श्री चन्द्रशेखर मुखर्जी के 'उद्भ्रान्त प्रेम' की हिन्दी में काफ़ी चर्चा हुई है और आचार्य शुक्ल ने तो हिन्दी के गद्य-काव्य-लेखकों पर उसका काफ़ी असर बताया है। मेरा निजी मत है कि हिन्दी में गद्य-काव्य का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है।"[५] श्री नन्दकिशोर तिवारी लिखते हैं—"जहाँ तक मेरे जीवन से सम्बन्ध है, मैं इसका विकास स्वतन्त्र पाता हूँ। हिन्दी-लेखन तथा सम्पादन में काफ़ी परिष्कृत हो जाने पर मैंने 'गीतांजलि' का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ा था। कारण, मैं बँगला अभी तक नहीं पढ़ सका हूँ।"[६] श्री चतुरसेन शास्त्री रचित 'अन्तस्तल' की भूमिका में स्वर्गीय आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा यदि यह कहते हैं कि 'अन्तस्तल' हिन्दी में निस्सन्देह अपने ढंग की एक नई रचना है।[७] तो स्वयं शास्त्रीजी 'दुख-भरी दो-दो बातें' शीर्षक से अपनी सफ़ाई देते हुए यह कहते हैं कि "मैं समझता हूँ कि हिन्दी में यह अपने ढंग की

---

१. 'सुधा', वर्ष ६, खण्ड १, संख्या ४, पूर्ण संख्या ६४, नवम्बर १९३२।
२. ८ अगस्त १९५१ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
३. ३१ मार्च १९५२ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
४. ११ मार्च १९५२ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
५. ३० अगस्त, १९५१ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
६. १८ सितम्बर १९५१ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
७. 'अन्तस्तल' की भूमिका, पृष्ठ ३।

निराली शैली की रचना है। जब मैंने इसे लिखना शुरू किया था तो मैंने इसे बावले की बड़ समझा था।"[१] श्रीमती दिनेशनन्दिनी चोरडिया ने गद्य-गीतों की रचना तब की थी, जबकि उनकी हिन्दी की शिक्षा भी अच्छी तरह नहीं हुई थी। उनका कहना है—"'शबनम', 'मौक्तिक-माल' आदि रचनाएँ तो उस काल की हैं जब मैंने मैट्रिक भी पास नहीं किया था और मुझे हिन्दी का भी वैसा ज्ञान नहीं था जैसा एक लेखक को होना चाहिए। फिर मैंने किसी से प्रभावित होकर भी कभी नहीं लिखा। ऐसा लगता है कि सहसा होने वाले विस्फोट की तरह भाषा स्वतः ही यह रूप ग्रहण कर गई।"[२]

हिन्दी-गद्य-काव्य पर बंगला का प्रभाव (तो है, पर विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है।)—हिन्दी-गद्य-काव्य बंगला से प्रभावित होकर बढ़ा या उसका विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ, इस सम्बन्ध में हम अभी विद्वानों और गद्य-काव्यकारों के परस्पर-विरोधी मतों को देख चुके हैं। दोनों पक्षों के तर्क अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। 'गीतांजलि' के बाद हिन्दी-गद्य-काव्य के विकास से उसका बंगला पर आश्रित होना सिद्ध होता है, पर जब स्वयं गद्य-काव्य-लेखक बंगला से अपरिचित होने और 'गीतांजलि' के अनुवाद तक के सम्पर्क में आने से पहले गद्य-काव्य लिखना आरम्भ करने की बात कहते हैं, तब इस तथ्य को भी अविश्वसनीय नहीं समझा जा सकता कि इस धारा का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। हम इस विषय पर कोई मत दें, इससे पहले हम कुछ ऐसे विद्वानों की सम्मतियाँ भी देख लेना चाहते हैं, जो हिन्दी-गद्य-काव्य के विकास में 'कादम्बरी' की शैली के प्रभाव से विकसित हिन्दी-गद्य-लेखकों और रवि बाबू की 'गीतांजलि' दोनों का हाथ मानते हैं। काव्य-शास्त्र के ज्ञाता डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा है—"श्री पं० गोविन्द नारायण मिश्र तथा पं० बदरीनारायण चौधरी ने गद्य-काव्य की अपनी-अपनी विशेष शैलियों का उदय किया था। सानुप्रासिक तथा अलंकृत भाषा में काव्योचित विषयों पर सुन्दर निबन्ध (प्रबन्ध एवं वर्णनात्मक रूप में) लिखे थे। सानुप्रासिक या सतुकान्त भाषा का उपयोग श्री लल्लूलालजी प्रथम ही 'प्रेम-सागर' में करके साहित्य-सेवियों के समक्ष उदाहरण-रूप में रख चुके थे। भारतेन्दु बाबू के मित्र राजकुमार ठाकुर जगमोहनसिंह ने भी गद्य-काव्य का एक विशेष नमूना ला रखा था। संस्कृत तथा अंग्रेजी से वे भलीभाँति परिचित थे। प्रेम और प्रकृति के वे पुजारी और सौन्दर्यानन्द के उपासक कवि तथा लेखक भी थे। विविध भावमयी प्रकृति के रुचिर रूपों की माधुरी, उसकी सुषमा की सच्ची परख और उनकी मार्मिक तथा हृदय-स्पर्शिनी अनुभूति-व्यञ्जना इनमें खूब थी।······इधर की ओर थोड़े ही समय से अब इस क्षेत्र में बंगला के प्रभाव से भावनात्मक गद्य-काव्य की रचना होने लगी है, इसमें लेखक भावावेश से एक प्रकार से प्रेम-प्रमादोन्मत्त-सा होकर प्रलाप-सा करने लगता है। इसीके साथ एक दूसरी शैली से भी कुछ लोग भावावेश की व्यञ्जना असम्बद्धता के आभास से प्रकट किया करते हैं। विक्षेप शैली से प्रेमोद्गार-प्रकाशन ही इसमें मुख्य होता है। कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो धारावाहिक शैली का उपयोग करके भावात्मक गद्य लिखा करते हैं, कुछ लोग उक्त

१. 'वही', दुखभरी दो-दो बातें, पृष्ठ ६।
२. 'मैं इनसे मिला', भाग २, पृष्ठ १२७।

दोनों शैलियों का सुन्दर सामञ्जस्य करते हुए नाटकोचित भाषण से भी लिखते हैं। गद्य-काव्य का एक यह रूप भी बड़ा सुन्दर बन चला है, जिसमें लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, भावानुभूति-व्यञ्जक वाक्य-विन्यास तथा कोमलकान्तपदावली का सुखद सौन्दर्य रहता है। कवीन्द्र रवीन्द्र से प्रभावित होकर कुछ लोग इसमें रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता का भी तत्त्व रखने लगे हैं।"[1] श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कहते हैं—"हिन्दी में छोटे-छोटे ऐसे गद्य-खण्ड लिखे जाने लगे हैं, जिनको छोटी कहानियों अथवा निबन्धों में अन्तर्भाव होता न देखकर 'गद्य-काव्य' नाम दिया गया है। जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य की और कई प्रवृत्तियाँ बंगला की देखा-देखी जगीं उसी प्रकार गद्य-काव्य लिखने की भी। किन्तु हिन्दी के कुछ लेखक अब इस प्रकार की रचनाएँ कर चुके हैं, जो स्वच्छन्द विकास का द्योतन करती हैं।"[2] श्री सद्गुरुशरण अवस्थी लिखते हैं—"हिन्दी-गद्य-काव्य-धारा बँगला पर भी आश्रित है और संस्कृत पर भी। जो गद्य-काव्य स्वानुभूति-निरूपक हैं वे अधिकतर रवि बाबू के अनुसार लिखे गए हैं।"[3]

विद्वानों की इन मान्यताओं के आधार पर निम्नलिखित तथ्य निष्कर्ष-रूप में निकलते हैं—

१—हिन्दी में गद्य-काव्य की धारा का एक वह रूप आरम्भ से ही विद्यमान है, जिसको सर्वश्री गोविन्द नारायण मिश्र और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने सँवारा। यह संस्कृत की 'कादम्बरी' की शैली का अनुकरण करता हुआ हिन्दी-गद्य को सालंकार और सानुप्रास भाषा से काव्यमय बनने में समर्थ हुआ और गद्य-काव्य के कई लेखकों ने इस शैली से प्रेरणा ली। उदाहरण के लिए, वियोगी हरि द्वारा स्वीकृत श्री गोविन्द नारायण मिश्र के द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से दिये गए भाषण के एक अंश से प्रेरणा लेने की बात को लिया जा सकता है। बंगला न जानने वाले और 'गीतांजलि' के हिन्दी-अनुवाद को पढ़ने के पहले ही गद्य-काव्य लिखना आरम्भ करने वाले जितने लेखक हैं उन पर इसी शैली का प्रभाव मानना पड़ेगा। इनके गद्य-काव्य आकार में भी बहुधा लम्बे मिलेंगे और वे भावात्मक निबन्ध या काव्यात्मक गद्य के नाम से अभिहित होंगे। इस शैली में श्री चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय-कृत 'उद्भ्रान्त प्रेम' का भी योग रहा, जिसने प्रेमोन्माद का तत्त्व दिया।

२—गद्य-काव्य की धारा का दूसरा वह रूप है, जो रवि बाबू की 'गीतांजलि' के आधार पर विकसित हुआ है। श्री रायकृष्णदास ने इस धारा का नेतृत्व किया है। छोटे-छोटे गद्य-खण्डों में रहस्योन्मुखी आध्यात्मिक वृत्ति का समावेश इनकी विशेषता है। इस रूप में जो गद्य-काव्य लिखे गए हैं उनमें भाषा का सालंकार अथवा सानुप्रास होना आवश्यक नहीं। इसमें तो भाषा जितनी ही सरल हो उतनी ही सुन्दर है। हाँ, भाव का इसमें प्राधान्य रहता है। साथ ही कथन की भंगिमा और नाटकीय कौशल से इसमें

१. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (डॉक्टर रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'), पृष्ठ ७२५-७२६, प्रथम संस्करण, १६३१।
२. 'वाङ्मय विमर्श', तृतीय संस्करण, पृष्ठ ७४।
३. २६ दिसम्बर, १६५१ के एक व्यक्तिगत पत्र से।

चमत्कार पैदा किया जाता है। श्री रायकृष्णदास के अतिरिक्त सर्वश्री शान्तिप्रसाद वर्मा, नोखेलाल शर्मा, तेजनारायण काक 'क्रान्ति', भँवरमल सिंघी आदि लेखक ऐसे ही हैं। इनमें कुछ लेखक तो ऐसे हैं जो रायकृष्णदासजी की तरह ही सीधे 'गीताञ्जलि' से प्रेरणा प्राप्त करके अपनी दिशा में बढ़े हैं, जैसे श्री तेजनारायण काक 'क्रान्ति', और कुछ ऐसे हैं जो 'गीताञ्जलि' के अनुकरण पर गद्य-काव्य लिखने वाले लेखकों की रचनाएँ पढ़कर ही गद्य-काव्य लिखने लगे हैं, जैसे भँवरमल सिंघी।

३—गद्य-काव्य का तीसरा वह रूप है जो इस धारा के पुष्ट हो जाने पर प्रकाश में आया है। यह स्वतन्त्र रूप है। इसमें दोनों शैलियों का स्वाभाविक मिश्रण मिलेगा। इस शैली का प्रवर्तन श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया द्वारा हुआ है। दिनेशनन्दिनीजी ने तो दो-दो पंक्तियों तक के गद्य-गीत लिखे हैं। रवीन्द्र की रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता उनमें उस प्रकार नहीं आई, जिस प्रकार रवीन्द्र की 'गीतांजलि' का अनुकरण करके लिखने वालों में आई है। उनमें शारीरिक प्रेम प्रधान है, पर उसमें ऊँचाई या समर्पण की कमी नहीं है। उनके गीत किसी इसी लोक के प्राणी को लक्ष्य करके अधिक चले हैं।

छोटे-छोटे गद्य-काव्यों का प्रवर्तक कौन है ?—अब एक प्रश्न और उठता है और वह यह कि गद्य-काव्य की ये तीनों शैलियाँ प्रकाश में तो आईं, पर छोटे-छोटे गद्य-काव्यों का प्रारम्भिक लेखक कौन है ? इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। यहाँ हम कुछ विद्वानों और गद्य-काव्यकारों की इस विषय की सम्मतियों को उद्धृत कर रहे हैं, जिनसे गद्य-काव्य के आरम्भिक लेखक की समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ता है। श्री रामनाथ 'सुमन' ने लिखा है—"हिन्दी-गद्य का आरम्भ कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ है। श्री रायकृष्ण-दास की 'साधना' में इसका सुनिश्चित रूप सामने आता है। उसके बाद तो सूर्यपुराधीश राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, श्री वियोगी हरि, श्री चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' इत्यादि कई सुलेखक सामने आते हैं। छायावाद-काल में, स्वभावतः गद्य-काव्यों को विशेष महत्त्व मिला है और छायावादी कवियों तथा छायावाद-प्रेमियों से ही अधिकांश सुन्दर गद्य-काव्य-लेखक हिन्दी को प्राप्त हुए हैं।"[१] महाराज कुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह का मत है—"रायकृष्णदासजी ने 'साधना' की रचना करके जो नवीन प्रणाली प्रारम्भ की वही 'अन्तस्तल' और 'अन्तर्नाद' में विकसित हुई।"[२] श्री तेजनारायण काक 'क्रान्ति' का कहना है—"ऐसे ग्रन्थ, जिन्हें हिन्दी के गद्य-काव्य-साहित्य में स्थान दिया जा सके, बहुत कम हैं। सर्वप्रथम बाबू दुर्गाशंकर सिंहजी का 'ज्वालामुखी' और 'सुधांशु' जी का 'वियोग' नामक गद्य-काव्य उल्लेखनीय हैं। इन दोनों रचनाओं में आरम्भ से अन्त तक एक ही भावना प्रवाहित होती दृष्टिगोचर होती है। दोनों कृतियों में किसी मर्माहत हृदय की करुण व्यथा का मार्मिक दिग्दर्शन है, किसी वियोगी के विरहानल-विदग्ध हृदय की विषम ज्वाला है और किसी सन्तप्त हृदय से निकली हुई उत्तप्त आहों की जलती हुई चिनगारियाँ। किन्तु गद्य-काव्य का सर्वप्रथम विकसित, सुनिश्चित और सुन्दर स्वरूप हमें

---

१. श्री शान्तिप्रसाद वर्मा के 'चित्रपट' (गद्य-काव्य-संग्रह) की भूमिका, पृष्ठ १।
२. 'बिखरे फूल' के 'वक्तव्य' में।

श्री रायकृष्णदासजी की 'साधना' के छोटे-छोटे गद्य-गीतों में दृष्टिगोचर होता है।"[1] श्री वियोगी हरि लिखते हैं—"मुझे ठीक स्मरण नहीं कि 'तरंगिणी' लिखने के पूर्व गद्य-काव्य की और क्या रचनाएँ थीं। इतना ही याद आता है कि द्वितीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति पं० गोविन्द नारायण मिश्र के भाषण का एक अंश मैंने पढ़ा था, जिसकी शैली 'कादम्बरी' की शैली से मिलती थी। मैंने 'तरंगिणी' में उसका अनुकरण अवश्य किया था। शायद उसी समय अथवा उसके कुछ पीछे श्री चतुरसेन शास्त्री की एक पुस्तक सम्भवतः 'अन्तस्तल' निकली थी।"[2] श्री नन्दकिशोर तिवारी का कहना है—"जहाँ तक मुझे स्मरण है, चतुरसेनजी ने इसका प्रारम्भ किया था। सम्भवतः रायकृष्णदासजी भी उस समय लिख रहे थे। कम-से-कम इन दोनों के गद्य-गीत प्रकाशित होते थे। मैं भी उन दिनों लिखता था, पर अपने गद्य-गीतों के प्रकाशन से मुझे बड़ी घृणा थी और इसलिए वे अप्रकाशित ही रहे।"[3] श्री विनोदशंकर व्यास ने लिखा है—"प्रवर्तक कौन है, यह तो मैंने कभी निश्चित नहीं किया है। हाँ, प्रसादजी ही पहले होंगे क्योंकि उनका रचना-काल १९११ ई० है और उनकी पहली कहानी 'ग्राम' 'इन्दु' में छपी थी। यह कहानी भी एक गद्य-काव्य का रूप है।"[4] श्री सद्गुरुशरण अवस्थी कहते हैं—"हिन्दी-गद्य-काव्य के सर्वप्रथम लेखक का मुझे पता नहीं, परन्तु माखनलाल चतुर्वेदी पुराने और प्रौढ़ लेखकों में हैं। कदाचित् उन्होंने ही पहले-पहल लिखा हो।"[5] श्री वृन्दावनलाल वर्मा लिखते हैं—"मुझसे पहले बनारस के श्री रायकृष्णदास ने 'साधना' लिखी थी। उनके पहले और किसी ने लिखा या नहीं, मुझे नहीं मालूम। रायसाहब बहुत करके टैगोर की 'गीताञ्जलि' से प्रभावित हुए थे।"[6]

सर्वश्री रायकृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री और वियोगी हरि गद्य-काव्य के तीन प्रमुख लेखक हैं। प्रकाशन की दृष्टि से इनमें 'साधना' का ही प्रकाशन सबसे पहले अर्थात् सन् १९१६ में हुआ है। श्री वियोगी हरि की 'तरंगिणी' सन् १९१९ में और श्री चतुरसेन शास्त्री का 'अन्तस्तल' सन् १९२१ में निकला है। इसलिए छोटे-छोटे गद्य-गीतों के प्रथम लेखक श्री रायकृष्णदासजी ही ठहरते हैं। उन्हींको इस धारा के प्रवर्तक का पद दिया जाना चाहिए।

हिन्दी का प्रथम गद्य-काव्य 'सौन्दर्योपासक' या 'उद्भ्रान्त प्रेम'—अब प्रश्न यह होता है कि जिन लेखकों ने रवीन्द्र से प्रभावित होकर नहीं लिखा है और जो राय साहब से पहले ही लिखना आरम्भ कर चुके थे उनका क्या हो? उदाहरण के लिए, हम श्री वियोगी हरि और श्री चतुरसेन शास्त्री को ही ले सकते हैं। श्री वियोगी हरि को गद्य-काव्य लिखने की प्रेरणा श्री गोविन्द नारायण मिश्र के भाषण से मिली और श्री चतुरसेन

---

१. 'मदिरा' में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य में गद्य-काव्य' नामक लेख से।
२. ८ अगस्त १९५१ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
३. १८ सितम्बर १९५१ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
४. ११ मार्च १९५२ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
५. २६ दिसम्बर १९५१ के एक व्यक्तिगत पत्र से।
६. ३१ मार्च १९५२ के एक व्यक्तिगत पत्र से।

शास्त्री ने मन में लहर आने पर गद्य-काव्य लिखा। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—"'मेरा गद्य-काव्य 'अन्तस्तल', जिसकी भूमिका श्री पद्मसिंह शर्मा ने लिखी, हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक गद्य-काव्य था।······मुझे किसी से कोई प्रेरणा नहीं मिली। मेरे मन में लहर आई और लिख डाला।"[1] इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि गद्य-काव्य की जो धारा 'कादम्बरी'-शैली की थी वह श्री रायकृष्णदासजी से भी बहुत पहले से चली आ रही थी; जैसा कि श्री रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने कहा है। सर्वश्री पं० गोविन्दनारायण मिश्र और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने उसका प्रतिनिधित्व किया था। लेकिन ये लोग निबन्धों में ही गद्य-काव्यात्मक प्रभाव की अभिव्यक्ति कर सके। कहानी, उपन्यास और नाटकों में कवित्वपूर्ण शैली की स्थापना बहुत पहले हो चुकी थी। आचार्य शुक्ल ने जिस 'उद्भ्रान्त प्रेम' को हिन्दी-गद्य-काव्य का आधार बताया है, उसका प्रकाशन सन् १९१५ में हुआ था। उससे भी पहले सन् १९११ में ब्रजनन्दन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' प्रकाशित हो चुका था। यह एक इतिवृत्तहीन-सा उपन्यास है, जिसे 'गद्य-काव्य' कहा गया है। इसकी विषय-वस्तु 'उद्भ्रान्त प्रेम' से नितान्त भिन्न है। 'सौन्दर्योपासक' में नायक अपने दूसरे विवाह पर अपनी साली पर मुग्ध हुआ है और उसी के प्रेम, विरह आदि पर उसने विचार प्रकट किए हैं, जबकि 'उद्भ्रान्त प्रेम' में मृत पत्नी को लक्ष्य करके सब-कुछ लिखा गया है। हमने स्वयं आरा जाकर 'सौन्दर्योपासक' के लेखक से ११ जनवरी सन् १९५३ को भेंट की और इस सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कहा कि हमसे तो 'सरकार' (कृष्ण) ने लिखाया है। किसी का अनुकरण हमने नहीं किया। श्री ब्रजनन्दन सहायजी राधा-कृष्णजी की युगलमूर्ति के उपासक हैं और भारतेन्दुजी की परम्परा में आते हैं। जीवन और जगत् की समस्याओं पर विचार करते समय उन्होंने कृष्ण-प्रेम को वैसा ही महत्त्व दिया है, जैसा भारतेन्दु बाबू ने अपनी रचनाओं में दिया है। शैली में भावुकता अवश्य ऐसी है, जो 'उद्भ्रान्त प्रेम' से मिलती है। लेकिन इतनी ही बात से हम 'सौन्दर्योपासक' को 'उद्भ्रान्त प्रेम' का अनुकरण नहीं कह सकते। एक और भी कारण है, जिससे हम ऐसा मानने में कठिनाई अनुभव करते हैं और वह यह कि 'सौन्दर्योपासक' का लेखक तब बंगला नहीं जानता था। यदि बंगला जानता होता तो हम कह सकते थे कि उसने 'उद्भ्रान्त प्रेम' को बंगला में पढ़ लिया होगा या उसके सम्बन्ध में सुन लिया होगा। लेकिन यह बात भी नहीं है। कारण, लेखक ने भेंट के समय 'सौन्दर्योपासक' के लेखन-काल में बंगला न जानने की भी बात कही थी। ऐसी स्थिति में 'सौन्दर्योपासक' 'उद्भ्रान्त प्रेम' से पहले की रचना ठहरती है।

हिन्दी-गद्य-काव्य के वास्तविक जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र—लेकिन अब यह प्रश्न उठता है कि क्या 'सौन्दर्योपासक'-जैसी प्रौढ रचना सहसा ही लिख गई? नहीं। खोज के आधार पर ऐसा लगता है कि 'सौन्दर्योपासक' की शैली का मूल उद्गम और पहले कहीं है। हमारा मत यह है कि हिन्दी-साहित्य में नवयुग के जन्मदाता भारतेन्दु को ही गद्य-काव्य के प्रवर्तक होने का श्रेय मिलना चाहिए। उनकी 'चन्द्रावली' नाटिका शुद्ध गद्य-काव्य है, जिसके समक्ष अनेक गद्य-काव्य फीके लगते हैं। हिन्दी में विरह-व्यथित

१. 'मैं इनसे मिला', भाग १, पृष्ठ ८६-८७।

हृदय से प्रेमी के लिए विकलतापूर्ण उद्गारों का जो अजस्र स्रोत बहा है उसका उद्गम 'चन्द्रावली' है। भारतेन्दु-युग में और उसके पश्चात् प्रथम महायुद्ध तक गद्य में जो भावुकता का समावेश रहा उस सबका श्रेय भारतेन्दुजी को ही है। 'चन्द्रावली' नाटिका का-सा गद्य, जो नाटकों में न दे सके, उन्होंने उपन्यास, कहानी और निबन्धों में उसे दिया। संस्कृत पढ़ने वालों ने 'कादम्बरी' की शैली लेकर भाषा का शृंगार किया। पर भावुकता-प्रदर्शन की विधि भारतेन्दु बाबू की ही रही। न केवल उपन्यास, नाटक, निबन्ध और कहानी में वरन् छोटे-छोटे गद्य-खण्डों में भी कवित्व डालकर नए ढंग के गद्य का समावेश भारतेन्दु ने किया। यदि इसको प्रमाणित करने की आवश्यकता हो तो हम निःसंकोच भाव से भारतेन्दु बाबू के नाटकों के समर्पणों को प्रस्तुत कर सकते हैं। 'धनंजय विजय', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'नील देवी', 'पाखण्ड विडम्बन' आदि नाटकों के समर्पण यदि उन नाटकों से अलग करके रखे जाएँ तो वे आज के गद्य-काव्यों की टक्कर में नीचे नहीं उतरेंगे।[1] उनमें सब प्रकार की शैलियों के दर्शन होते हैं और भाषा तथा भाव का सुखद संयोग है, जो कि गद्य-काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व है। इस प्रकार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ही गद्य-काव्य के प्रथम लेखक ठहरते हैं। कारण, पं० गोविन्दनारायण मिश्र और 'प्रेमघन' जी की प्रेरणा का स्रोत भी वे ही रहे हैं। श्री वियोगी हरि-जैसे वैष्णव भक्त हृदय के लिए तो भारतेन्दु आदर्श हों तो कोई आश्चर्य नहीं। भारतेन्दुजी प्रेम, भक्ति और राष्ट्रीयता तीनों के संगम-स्थल थे, अतः इन भावों से युक्त गद्य-काव्यों के प्रचलन का श्रेय भारतेन्दुजी को मिलना चाहिए। श्री चतुरसेन शास्त्री और श्री माखनलाल चतुर्वेदी में राष्ट्रीयता प्रधान है और श्री वियोगी हरि में वैष्णवता। इनके गद्य-काव्य लम्बे भी हैं। अतः ये हिन्दी की परम्परा के लेखक हैं। इन्होंने अपने आरम्भिक गद्य-काव्यों को 'निबन्ध' का ही नाम दिया है। निष्कर्ष यह निकलता है कि हिन्दी-गद्य में भारतेन्दु द्वारा जिस भावुकता का समावेश किया गया था और जिसने उनकी कृतियों में, चाहे वे नाटक हों या उनके समर्पण, चाहे निबन्ध हों या उनके द्वारा सम्पादित पत्रों की टिप्पणियाँ, कवित्व का समावेश किया था, उसीने गद्य-काव्य को जन्म दिया और उन्हींके मण्डल द्वारा सुसज्जित होकर उस रूप में आया जिसे सर्वश्री वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री ने प्रस्तुत किया। इस गद्य-काव्य की धारा में 'उद्भ्रान्त प्रेम' के अनुवाद ने भी सौन्दर्य का समावेश किया। जहाँ तक हमारा विश्वास है 'उद्भ्रान्त प्रेम' ने गद्य-काव्य की आत्मा को उस कादम्बरी-शैली की बोझिलता से बचाया जो मिश्रजी और 'प्रेमघन' जी द्वारा पुष्ट होने लगी थी। आगे चलकर श्री रायकृष्णदास ने 'गीताञ्जलि' के आधार पर लिखे गद्य-गीतों का प्रचार किया और 'गद्य-गीतों' के प्रवर्तक वे ही हुए। हम यह नहीं कहते कि जैसे छोटे गद्य-गीत रायसाहब ने लिखे वैसे उनके समकालीन लेखकों ने नहीं लिखे थे। हमारा कहना यह है कि जिस रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता का समावेश रायसाहब ने 'गीतांजलि' के आधार पर अपने गीतों में किया, वह उनकी अपनी चीज़ थी और उसके आधार पर हिन्दी में गीतों की एक नई शैली चली। कुछ लेखकों ने उसे ज्यों-की-त्यों अपनाने की कोशिश की और कुछ ने उसमें हिन्दी की भारतेन्दु-प्रवर्तित गद्य-काव्य शैली

१. इन रचनाओं से उदाहरण इसी अध्याय में आगे दिए गए हैं।

का मिश्रण करके अपनी ही शैली बना ली। इस प्रकार भारतेन्दु-प्रवर्तित अलंकरण-युक्त-शैली, 'उद्भ्रान्त प्रेम' की भावावेशमयी शैली और 'गीताञ्जलि' के अनुकरण पर रायकृष्णदास द्वारा विकसित रहस्योन्मुख अध्यात्मवाद की शैली ने मिलकर स्वतन्त्र रूप धारण किया। बहुत पीछे चलकर इस शैली में खलील जिब्रान की अन्योक्ति-प्रधान दृष्टान्त वाली शैली और मिल गई। उससे तो इसका रूप और भी भिन्न हो गया। इतने प्रभावों को लेकर गद्य-काव्य की धारा हिन्दी में गतिवान् होकर चली और उसकी विशेषता बनी। हमने जो-कुछ कहा है उसका सारांश यही है कि हिन्दी-गद्य-काव्य की धारा स्वाभाविक रूप से विकसित हुई है। रायकृष्णदासजी ने गद्य-गीत की व्यवस्थित शैली को जोड़कर उसको एक नई दिशा अवश्य दी। आगे चलकर उसने स्वतन्त्र रूप ग्रहण किया, जिसका चरम विकास श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया में दिखाई दिया। श्री विनोद शंकर व्यास ने प्रसादजी और श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने माखनलालजी चतुर्वेदी के नाम लिए हैं। इनमें प्रसादजी ने कहानियों में और माखनलालजी ने लम्बे गद्य-खण्डों में गद्य-काव्य का समावेश किया। यह अवश्य है कि प्रसादजी और चतुर्वेदीजी की स्वच्छन्दता भारतेन्दु-प्रवर्तित गद्य-काव्य-शैली से भिन्न प्रकार की है और उनमें बंगला से प्रभावित गद्य-गीतों का भी कोई अनुकरण नहीं है।

गद्य-काव्य का इतिहास—हिन्दी-गद्य-काव्य-धारा के उद्गम और प्रथम गद्य-काव्य-लेखक की समस्या पर विचार कर लेने के बाद यह देख लेना आवश्यक है कि हमारे पास गद्य-काव्य की सम्पत्ति क्या है? जैसा कि हम कह चुके हैं, भारतेन्दुजी ही हिन्दी-गद्य-काव्य के प्रथम लेखक माने जाने चाहिए। यद्यपि हिन्दी-गद्य-काव्य के बीज 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर प्रणीत लल्लूलालजी के 'प्रेमसागर' में विद्यमान हैं, जैसा कि श्री माखन-लाल चतुर्वेदी का कथन है[१] (और इससे भी पहले वैष्णव-वार्ताओं के गद्य के भावुकता-पूर्ण स्थल भी, गद्य-काव्य के प्रारम्भिक रूप कहे जा सकते हैं—लेखक) तथापि प्रथम मौलिक गद्य-काव्य-लेखक भारतेन्दु ही हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नाटकों के समर्पण स्वतन्त्र गद्य-काव्य के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। उनके उन समर्पणों में भक्ति-भावना, देश-प्रेम और समाज-सुधार की उत्कट लालसा व्यक्त हुई है।[२]

उदाहरणार्थ सत्य हरिश्चन्द्र का समर्पण लिया जा सकता है।[३] उनकी

---

१. जो 'मैं इनसे मिला' (भाग २) में छपा है।

२. "प्यारे,

निश्चय इस ग्रंथ से तुम बड़े प्रसन्न होगे, क्योंकि अच्छे लोग अपनी कीर्ति से बढ़कर अपने ज्ञान की कीर्ति से सन्तुष्ट होते हैं। इस हेतु इस होली के आरम्भ के त्योहार माघी पूर्णिमा में हे धनंजय और निधनंजय के मित्र, यह 'धनंजय विजय' तुम्हें समर्पित है, स्वीकार करें।"—धनंजय विजय का समर्पण।

३. "नाथ,

यह एक नया कौतुक देखो। तुम्हारे सत्य-पथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं, यही इसमें दिखाया है। भला हम क्या कहें? जो हरिश्चन्द्र ने किया वह तो अब कोई भी भारतवासी न करेगा, पर उस वंश ही के नाते इनको भी मानना। हमारी करतूत तो कुछ भी नहीं, पर तुम्हारी तो बहुत-कुछ है, बस इतना ही सही। लो सत्य हरिश्चन्द्र तुम्हें समर्पित है,

'चन्द्रावली' तो शुद्ध काव्य का ही ग्रन्थ है[1]। यही नहीं, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी

अंगीकार करो ! छल मत समझना । सत्य का शब्द साथ है, कुछ पुस्तक के बहाने समर्पण नहीं है ।" वही, 'सत्य हरिश्चन्द्र' का समर्पण ।

१. "प्यारे,

तो तुम्हारी चन्द्रावली तुम्हें समर्पित है । अंगीकार तो किया ही है, इस पुस्तक को भी उन्हीं के कहने से अंगीकार करो । इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है । इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है । हाँ, एक अपराध तो हुआ, जो अवश्य क्षमा करना होगा । वह यह कि यह प्रेम की दशा छापकर प्रसिद्ध की गई वा प्रसिद्ध करने ही से क्या जो अधिकारी नहीं हैं उनके समझ में ही न आएगा ।

तुम्हारी विचित्र गति है । इसी को देखो । जब अपराधों को स्मरण करो तब ऐसे कि कुछ कहना ही नहीं । क्षण-भर जीने योग्य नहीं । पृथ्वी पर पैर धरने को जगह नहीं । मुँह दिखाने लायक नहीं और जो यों देखो तो यह लम्बे-लम्बे मनोरथ । यह बोल-चाल । यह ढिठाई कि तुम्हारा सिद्धान्त कह डालना । जो हो इस दूध-खटाई की एकत्र स्थिति का कारण तुम्हीं जानो । इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैसे हो तुम्हारे बनते हैं । अतएव क्षमा समुद्र, क्षमा करो । इसी में निर्वाह है । बस, हरिश्चन्द्र ।" वही, 'चन्द्रावली' का समर्पण ।

"मातृ भगिनी सखी तुल्या आर्य ललनागण ! आज बड़ा दिन है । क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनन्द का दिन नहीं है । किन्तु मुझको आज उलटा और दुख है । इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-दुर्लभ ईर्ष्या मात्र है । मैं कोई सिद्ध नहीं कि राग-द्वेष से विहीन हूँ । जब मुझे अंग्रेज रमणी, भेद-सिंचित केश राशि, कृत्रिम कुन्तल जूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित क्षीण कटि देश कसे, निज-निज पतिगण के साथ, प्रसन्न वदन से इधर-उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुख का कारण होती है ।"...वही, 'नील देवी' का समर्पण ।

"मेरे प्यारे ! भला इससे पाखण्ड-विडम्बन क्या होता है । तुम्हारे सिवा सभी पाखण्ड हैं, क्या हिन्दू क्या जैन ? क्योंकि मैं पूछता हूँ कि बिना तुमको पाए मन की प्रवृत्ति ही क्यों है । तुम्हें छोड़कर मेरे जाने सभी झूठ हैं । चाहे ईश्वर हो, चाहे ब्रह्म, चाहे वेद हो, चाहे इंजील । तो इससे यह शंका न करना कि मैंने किसी मत की निन्दा के हेतु यह उल्था किया है, क्योंकि सब तुम्हारा है इस नाते तो सभी अच्छा है और तुमको किसी से सम्बन्ध नहीं, इस नाते सभी बुरे हैं । इन बातों को जाने दो ।

क्यों जी ऐसे निष्ठुर क्यों हो गए हो ? क्या वह तुम नहीं हो ? इतने दिन पीछे मिलना । उस पर भी आँखें निगोड़ी प्यासी ही रहें । मुँह न छिपाओ ! देखो, यह कैसा सुन्दर नाटक का तमाशा तुमको दिखाता हूँ, क्योंकि जब तुम अपने नेत्रों को स्थिर कर यह तमाशा देखने लगोगे तो मैं इतना ही अवसर पाकर तुम्हारी भोली छवि चुपचाप देख लूँ । तुम्हारा हरिश्चन्द्र ।" 'वही', 'पाखण्ड विडम्बन' का समर्पण ।

"हा ! यह तुम्हारा जो अखण्ड परमानन्दमय प्रेम है और जो ज्ञान-वैराग्यादि को तुच्छ करके परम शान्ति देने वाला है उसका कोई स्वरूप ही नहीं जानता । सब अपने सुख में और अभिमान में भूले हुए हैं । कोई किसी स्त्री से वा पुरुष से उसको सुन्दर देखकर चित्त लगाना और उससे मिलने का अनेक यत्न करना, इसी को प्रेम कहते हैं और कोई ईश्वर की बड़ी लम्बी-चौड़ी पूजा करने को प्रेम कहते हैं । पर प्यारे ! तुम्हारा प्रेम इन दोनों से विलक्षण है, क्योंकि यह अमृत तो उसी को मिलता है जिसे तुम आप देते हो ।"

'चन्द्रावली', दूसरा अंक ।

'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के प्रथम अंक में ही 'प्रेम सरोवर' नाम से एक समर्पण लिखा है।[१] दूसरा उदाहरण आगे के पृष्ठ पर है। भारतेन्दु के समकालीन और समसिद्धान्तानुयायी उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में इसी प्रकार के कवित्वमय उद्गारों की प्रधानता है।[२] प्रेम और प्रकृति को लेकर श्री ठाकुर जगमोहन सिंह ने अपनी पुस्तक 'श्यामा-स्वप्न' में गद्य-काव्योचित-शैली को अपनाया है।[3] श्री

"सखी! देख बरसात भी अब की किस धूम-धाम से आई है, मानो कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है। धूम से चारों ओर घूम-घूमकर बादल परे के परे जमाये पंगति का निशान उड़ाये, लपलपाती नंगी तलवार-सी बिजली चमकाते, गरज-गरजकर डराते, बान के समान पानी बरखा रहे हैं और इन दुष्टों का जी बढ़ाने को मोर का स्वर-सा कुछ अलग पुकार-पुकारकर गा रहे हैं।" वही, तीसरा अंक, पृ० ७२।

१. आज अक्षय तृतीया है। देखो जलदान की आज कैसी महिमा है। क्या तुम मुझे फिर भी जलदान दोगे? कहाँ, वरन् श्रद्धांजलि दोगे। देखो मैं कैसा प्यासा हूँ और प्यास में भी चातकाभिमानी हूँ। हाँ, जिस चातक ने एक श्याम घन की आशा पर परिपूर्ण समुद्र और नदियों तथा अनेक मीठे-मीठे सोते, झील, कूप, कुण्ड, बावली और झरनों को तुच्छ करके छोड़ दिया, उसे पानी बरसाना तो दूर रहे जो मधुर घन की ध्वनि भी सुन पड़े तो कैसे प्रान बचें? 'श्री हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', संख्या १, पृष्ठ १, आक्टोबर सन् १८७४।

२. निदान जब कलित काले बलाहकों की कतार से अन्धकारमय संसार की अपार बहार विहार के अनुसार अनुभव भई, भूपति भाद्रपद ने अपनी प्रान प्यारी निसा सुकुमारी को आलिंगन करना आरम्भ किया कि अनादर के ग्लानि से अभिमान रहित सोक सहित लज्जित उज्ज्वल दुति वाली तारावली तरुणियों ने अपने अनुपम और अमन्द आनन को अदृश्य किया तो मोहमय मलिन मन अपमान का औसर अनुमान मान-मानकर मयंक मरीचिकाओं ने भी मुँह छिपाकर छपाकर के आकर-जाकर अपने संग उसे भी न जाने कहाँ छपाया।" 'पावस प्रस्थान', आनन्द कादम्बिनी, खण्ड १, संख्या ४-५, पृ० ३-४, सन् १८८१।

हे घनश्याम! हे नटनागर! हे जगन्निवास दया सागर! क्या केवल मेघ और उसकी माला कादम्बिनी ही आपकी है? जबकि सारी सृष्टि ही आपकी है तो क्या यह कादम्बिनी किसी दूसरे की है? हम और हमारे कार्य-मात्र सभी-कुछ आपके हैं तो समर्पण कैसा? किन्तु हाँ, तुम्हारे किंकरों की एक परिपाटी है, अतएव सादर यह आपके आर्त्तिहरण जुगल कमल चरणों में समर्पित की गई। अंगीकार कर कृतार्थ कीजिए और साथ ही दया-वारि पूरित रख इसकी शोभा, शक्ति और कीर्ति की वृद्धि करते, विघ्नों को हरते रहिये। 'सम्पादकीय सम्मति समीर: 'आनन्द कादम्बिनी' माला ४, मेघ १, भाद्र-आश्विन सं० १९५९, सन् १९०२।

३. औषधियों के नायक ने सब औषधियों को अपने कर से सुधाकर सींचकर फिर जिलाया। कुमुदिनी प्रमुदित-सी होकर अपने प्रियतम को सहस्र नेत्रों से देखने लगी। सौत नलिनी ने आँखें बन्द कर लीं। परकीया कहीं स्वकीया की बराबरी कर सकती है। चन्द्रमा से जगमोहन गुण की अभिरामता क्या सूर्य के तेज में है। इसीसे चन्द्रमा का नाम लोकानन्द कर प्रसिद्ध है। कोकनद से सेवक अपने नायक के वृद्धि पर हर्षित हुए। वन की लता-पता पर क्रम से प्रकाश फैलाने लगा। समभूमि से, वन-वन से, उपवन-उपवन से, द्रुम-द्रुम से, पादप-पादप से, वृक्ष-वृक्ष से, गुल्म, लता, वल्ली आदि को आक्रमण करके महीधर की मेखला-मेखला से, शैल-शैल से, पर्वत-पर्वत से, शिखर-शिखर से तुंग पर अपना सुयश फैलाकर अपनी कीर्ति

बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित 'हिन्दी प्रदीप' यद्यपि विचार-प्रधान गद्य को लेकर चला था, तथापि उसमें भी भावुकता से परिपूर्ण रचनाएँ मिलती हैं।[1] यही नहीं, अन्योक्ति, जो कि गद्य-काव्य की एक प्रमुख विशेषता है, वहाँ विद्यमान है।[2] भट्टजी ने स्वयं अपने 'चन्द्रोदय' नामक निबन्ध में आलंकारिक शैली में चन्द्रमा के सौन्दर्य का वर्णन किया है।[3] इस प्रकार भारतेन्दु और उनके समकालीन साहित्य-साधकों ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों, स्वतन्त्र निबन्धों और पुस्तकों में भक्ति-भावना, ईश्वर के प्रति आत्म-निवेदन ऋतु-वर्णन, देश और समाज के अधःपतन पर ग्लानि आदि को लेकर गद्य-काव्यात्मक रचनाएँ दी हैं।

सन् १९११ से इस क्षेत्र में नया अध्याय जुड़ता है। जबकि एक ओर छायावाद के प्रवर्तक बाबू जयशंकर प्रसाद 'इन्दु' का प्रकाशन करते हैं और दूसरी ओर आरा के बाबू ब्रजनन्दन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' प्रकाशित होता है। प्रसादजी के 'इन्दु' में स्वयं उनकी ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जो गद्य-काव्य की श्रेणी में आती हैं।[4] श्री जी० पी०

कहने के लिए स्वर्गंगा मन्दाकिनी में अवगाहन कर गोलोक से विष्णुलोक, विष्णुलोक से ब्रह्मलोक, वहाँ से चन्द्रलोक को फिर लौट गया। 'श्यामा स्वप्न', पृष्ठ २०, सन् १८८८।

१. हे तेजोमय आनन्द स्वरूप, तू हमारे अन्तःकरण में ज्ञान-ज्योति अखण्ड रूप से प्रज्वलित कर! दुर्व्यसन रूप मल के क्षालन करने के लिए मुझको आत्म-ज्ञान के विमल तीर्थ-जल में स्नान करने की स्फूर्ति दे। अनित्य वस्तु के विषय में निर्लोभ सत्य और न्याय की प्रीति, नीति-विषय में अनुराग और अमित शान्ति इत्यादि सद्गुण-स्वरूप मधुर फलों का यथेच्छ सेवन करने की बुद्धि प्रदान कर! अहंकार महाराक्षस विवेक पद से रगड़ जाए। ज्ञान की ज्योति अन्तःकरण दीपक में अखण्ड रूप से जलने के लिए सतत ब्रह्म ज्ञान शान्ति, पवित्रता, विद्या, भक्ति, उद्योगपरता इत्यादि गुणों का स्नेह (तेल) के समान उपयोग होंगे, ज्ञान-ज्योति से अज्ञान तरु का समूल नाश होवे।

श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी-लिखित 'ईश्वर के प्रति' से 'हिन्दी प्रदीप', जिल्द २९, संख्या २, पृष्ठ २२, फरवरी १९०७।

२. हे जगदाधार! सब ओर से निराधार इस प्यासे पथिक की प्यास अब, अब केवल तू ही बुझावे तो बुझावे। बड़े-बड़े जलाधार सरित-समुद्र से भी जो न हो सका वह अल्प तोय तुच्छ कासार से सब सम्भव है, जिसके कर्दममय पंकिल पानी में अगाध जल-संचारी रोहू फरफराती हुई, क्षुद्र सफरी सी बार-बार करवटें लेती हुई चांडाल, निर्दयी ग्रीष्म के दिन गिन रही है और सकल भुवन को जीवनदान देने में दक्ष नारद की बाट जोह रही है, तपन की खरतर किरणों से सन्तापित भूमण्डल को तप्त लोह-पिंड के आकार का कर देने वाले जेठ मास के नाम का सियापा मानो उसके जीते-जी गा रही है।

'प्यासा पथिक' (एक प्रबन्ध कल्पना) 'हिन्दी प्रदीप', जिल्द ३०, संख्या ३, पृ० ३१।

३. 'चन्द्रोदय' साहित्य सुमन, पृष्ठ १००-१०१, चतुर्थ संस्करण, सं० १९८८ वि०।

४. हे प्रकृति देवी! तुम धन्य हो, ग्रीष्म में अपनी नष्टप्राय वासन्तिक शोभा को रजनी में एक बार उद्दीप्त कर देती हो, वही शुष्क तथा मन्दवाहिनी नदियाँ, वही उच्च प्रासादवेष्टित नगरावली तथा सुरम्य पर्वत तटी, जो दिनकर के तेजपूरित दिन में दुर्दर्शनीय हो रहे थे, कुमुदिनी नायक की सुधा प्रवाहित किरणों से जो रजत मार्जित होने से कैसे सुन्दर तथा मनोहारी दृश्य में परिवर्तित हो जाती है, और वही प्रचण्ड उष्ण वायु जो कि शरीर को झुलसाए देती थी, चन्द्रकिरण के स्पर्श से कुछ शीतल हुआ जाता है। यह सब क्या है? यह

श्रीवास्तव ने तो लम्बे-लम्बे गद्य-काव्य लिखे हैं।[1] उसी शैली में, जिसे कुछ दिन बाद आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अपनाया।[2] 'सौन्दर्योपासक' में प्रेम का चित्रण है। इसके विषय में श्री सकलनारायण पाण्डेय ने लिखा है—"स्वर्गीय श्रीयुत पंडित अम्बिकादत्त व्यास-प्रणीत 'गद्यमीमांसा' के अनुसार यह गद्य-काव्य 'कथनोपन्यास' है; क्योंकि इसमें कवि ने सब बातें नायक के मुँह से कहलवाई हैं। स्वयं उन्होंने कुछ नहीं कहा है। इसमें शृंगार-रस प्रधान है। सोने में सुगन्ध यह है कि ईश्वरीय भक्ति की आलोचना अथवा मीमांसा प्रश्नोत्तर-रूप से भली-भाँति की गई है। उपन्यास पढ़ने वाले इसे पढ़कर मनोविनोद के अतिरिक्त जगदीश्वर से मिलने का उपाय भी सीखेंगे। यह गद्य-काव्य भावमूलक है, अतएव इसमें कथा-भाग बहुत ही थोड़ा है; पर इतना थोड़ा नहीं कि कथा के प्रेमी ऊब जाएँ।"[3] अपने विवाह के समय नायक का अपनी साली पर आसक्त होना, दूसरे उसका

सब क्या है? केवल तुम्हारा ही अनियमित स्वरूप है।

श्री जयशंकर प्रसाद लिखित 'प्रकृति सौन्दर्य' से 'इन्दु', कला १, खण्ड १, पृष्ठ ६, सन् १९११।

आह! तूने ही इस रत्नमयी अन्नादि पूर्ण भारत जननी को इस समय निरामोद-पूर्ण कर दिया है। हाँ, एक दिन था जबकि भारतवर्ष सर्व देशों से उच्च तथा मान्य गिना जाता था, तेरे ही चक्र से भारतवर्ष अब अधःपतितावस्था को प्राप्त कर सर्वसाधारण की दृष्टि से घृणास्पद हो रहा है। वही भारत जहाँ की कला-कौशल, शिल्प-चातुर्य प्रसिद्ध थी और जहाँ शिक्षा ग्रहण करने के निमित्त अन्य विदेशी गण दूर-दूर देशों से आते थे वही भारत अब उन्हीं शिक्षित विदेशी नगरों से स्वयं शिक्षा ले रहा है। प्रसादजी ही द्वारा लिखित 'समय' से; 'इन्दु', कला १, खण्ड २, पृष्ठ २४, सन् १९११।

१. अरे! वह आ रहे हैं। इतनी जल्दी? मैं जरा बन तो लूँ। मगर कैसे बनूँ? भौं चढ़ती ही नहीं। हैं! हैं!! मुस्कराहट को कैसे रोकूँ? अरे! मुझे क्या हो गया? अभी-अभी तो अच्छी-खासी तनी हुई थी, वह बिगड़ना क्या हुआ? वह मचलना किधर गया? वह तेवर कहाँ है? अब क्या करूँ? बिगड़ूँ तब तो कोई मनाए। बिगड़ूँ क्या अपना सिर। यह हँसी निगोड़ी सब बिगाड़े देती है। भई मुझसे न होगा। वह चिक उठा। वह किसी ने पैर अन्दर रखा। मैं तकिये में मुँह छिपा लूँ। वह कुछ कहें मगर मैं न बोलूँगी, न बोलूँगी, न बोलूँगी। अरे यह कौन है? अब हमें अच्छा नहीं लगा।......उफ! उफ!! जब तुम बड़े वह हो। हाय!

जी० पी० श्रीवास्तव लिखित 'मैं न बोलूँगी' से; 'इन्दु', कला ४, खण्ड २, किरण २, पृष्ठ २०३, अगस्त १९१३।

२. "तोड़ डालो उँगलियाँ तोड़ डालो। मैं कुछ नहीं कहती। हाय! कै दफे कहूँ? मैं न मानूँगी। नहीं-नहीं तुम मत समझाओ। तुम्हारी बातों में आज न आऊँगी। देखो...जाओ-जाओ, उधर पैर रखा इधर मैंने सिर पीट लिया। बला से कुछ हो। मगर आज तुम मत जाओ! क्यों? तुम किसी तरकीब से नहीं रुक सकते? हाय! मैं क्या करूँ? कैसे तुम्हें रोकूँ। सचमुच तुम बड़े ही कठोर हो। लो खुशामद करा चुके। अब तो रुक जाओ! नहीं रुक सकते तो मेरा क्या बस? अच्छा...कब जाओगे? हाय! जाते हो? जरा देर तो ठहरो! अरे मेरे राम!...तुम चल दिए आखिर...चले ही जाओगे? क्या घूम के एक नजर देखने की भी कसम खा ली?... क्यों! जा रहे हो? आएँ? सचमुच?...अच्छा सुनो तो...धन्य भाग!" जी० पी० श्रीवास्तव लिखित 'सुनो तो', 'इन्दु', कला ४, खण्ड २, किरण ३, पृष्ठ २०५, सितम्बर १९१३।

३. 'सौन्दर्योपासक' में 'सम्मति', पृष्ठ १।

विवाहित होना और मृत्यु का ग्रास बनना आदि घटनाओं को लेकर नायक के सौन्दर्य-प्रेम का चित्रण इसमें प्रधान है। इसे भावुकतापूर्ण शैली की दृष्टि से 'गद्य-काव्य' कहा गया है। वैसे है यह उपन्यास ही।

'सौन्दर्योपासक' की शैली को बल मिला सन् १९१५ में प्रकाशित श्री चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय के 'उद्भ्रान्त प्रेम' के हिन्दी-अनुवाद से। अनुवादक आरा के ही श्री ईश्वरीप्रसाद शर्मा थे। अपनी स्वर्गीया पत्नी के विरह में निःसृत उद्गारों को निरालेपन से प्रकट करने में 'उद्भ्रान्त प्रेम' के लेखक को बड़ी सफलता मिली है। यही कारण है कि बंगला की भाँति हिन्दी में भी इसने हलचल मचा दी। इस शैली में अनेक लेखकों ने रचनाएँ कीं। श्री राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह-कृत 'नवजीवन' या 'प्रेम लहरी' (सन् १९१६), मोहनलाल महतो 'वियोगी'-कृत 'धुँधले चित्र' (१९३०) और श्री लक्ष्मी-नारायण सिंह 'सुधांशु'-कृत 'वियोग' 'उद्भ्रान्त प्रेम' की प्रेरणा के फल हैं। वियोग का तो प्रतिपाद्य ही वही पत्नी-वियोग है। शेष दो में से प्रथम के विषय में स्व० श्री रामदहिन मिश्र लिखते हैं—"नवजीवन एक छोटा-सा उपन्यास कहा जा सकता है या एक वर्णन-बहुल गल्प। इसे विशिष्ट वर्णनमय और अनल्प कल्पनामय खण्ड-काव्य भी कहें तो कोई हर्ज नहीं। इसमें करुण-विप्रलम्भ शृंगार है और कथा वियोगान्तक है। मानवीय अन्तः-करण के निगूढ़ रहस्यों का, मर्मकथा-व्यथाओं का और उसकी भिन्न अवस्थाओं का इसमें बहुत-कुछ खाका खींचा गया है। कहीं-कहीं प्राकृतिक दृश्य भी सुन्दरता से दर्शाये गए हैं। इसमें जैसी भावों की भरमार है वैसी ही अलंकारों की झंकार; और जैसा ही शब्दों का वैसा ही अर्थों का सौन्दर्य और माधुर्य है···कहीं तो 'उद्भ्रान्त प्रेम' के समय इसे पढ़कर मुग्ध होना पड़ता है और भाव-लहरियों में लहरना पड़ता है।[1] द्वितीय के लिए भी यही बात कही जा सकती है, क्योंकि उसका आधार भी वियोगान्त कथा है। हाँ, शैली की दृष्टि से उपर्युक्त ग्रंथों से वह मिलता-जुलता है। 'उद्भ्रान्त प्रेम' के कारण प्रेम की व्याख्या करने की प्रवृत्ति ने इतना जोर पकड़ा कि 'मोन्मत्त' कृत 'प्रेम लहरी' (१९२६) और शिवपूजन सहाय-कृत 'प्रेमकली' (१९२३) नामक दो प्रेम-सम्बन्धी गद्य-पद्य रचनाओं के ऐसे संग्रह निकले, जिनमें प्रेम के विषय में संस्कृत, फ़ारसी, बंगला, अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू के उदाहरण संकलित थे। इनकी गद्य-रचनाओं में सीधे प्रेम के चित्रण की भी झलक है और अन्योक्ति द्वारा व्यक्त प्रेम की भी।[2] यहाँ एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि ऐसी सभी पुस्तकें बिहार से प्रकाशित हुई। सम्भवतः बंगला के सामीप्य का ही यह फल था।

बंगला के प्रभाव से जहाँ प्रेम-सम्बन्धी वियोगान्त कथाओं तथा प्रेम का चित्रण हो रहा था वहाँ सन् १९१५ में स्फुट प्रसंगों और भावनाओं को लेकर गद्य-रचनाएँ भी हो रही थीं। श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने स्व-सम्पादित 'प्रभा' में सन्' १४-१५ में ऐसे अनेक कवित्वमय गद्य-खण्ड दिए हैं।[3] श्री माखनलालजी का यह प्रयत्न वैसा ही था

१. 'नवजीवन' या 'प्रेमलहरी' में वक्तव्य, पृष्ठ १-२।
२. देखिए, 'प्रेमलहरी', पृष्ठ ३५, 'अब कब आओगे' पृष्ठ ७१ और 'माली' रचनाएँ।
३. मिल जाओ! केवल एक बार मिल जाओ! देखो सूर्य और चन्द्र एक बार मिलते हैं। अग्नि

जैसे भारतेन्दु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट और प्रसाद ने अपने द्वारा सम्पादित पत्रों में किया था। प्रसाद और माखनलाल चतुर्वेदी के पत्रों ने बंगला के 'उद्‌भ्रान्त प्रेम' की शैली को लेकर चलने वाली धारा के भावुकता के अतिरञ्जित उफान को रोककर गद्य-काव्य के भावी विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया। श्री रायकृष्णदास-कृत 'साधना' (१६१६) के प्रकाशन ने तो गद्य-काव्य के इतिहास में नया अध्याय जोड़कर हिन्दी-गद्य-काव्य को निश्चित रूपरेखा दी। रवि बाबू की 'गीतांजलि' की प्रेरणा से ही रायसाहब ने 'साधना' लिखी थी, इसलिए उनके गद्य-काव्यों में रहस्यवादी, लाक्षणिक अभिव्यक्ति और शैलीगत सारल्य के विशेष रूप से दर्शन हुए। जैसा कि प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है, 'गद्य-गीत' का नामकरण भी रायसाहब ने ही किया। श्री वियोगी हरि की 'तरंगिणी' (१६१६) और श्री आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'अन्तस्तल' (१६२१) गद्य-काव्यों के दो और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जिनमें 'साधना' से भिन्न पथ का अनुकरण किया गया है। 'तरंगिणी' में वियोगी हरिजी ने ईश्वर-प्रेम तथा आध्यात्मिक विचार, प्राकृतिक आनन्द, जीवन-साफल्य, बाल-काल, मित्र-विनोद, स्वदेश और समाज, मानस-मिलन आदि खण्डों में इनसे सम्बन्धित भाव व्यक्त किए हैं। 'अन्तस्तल' में शास्त्रीजी ने 'लज्जा, वियोग, अतृप्ति, आशा' आदि भावनाओं के शब्द-चित्र अंकित किए हैं। सन् १६२२ में राय कृष्णदास ने खलील जिब्रान के 'दी मैडमेन' का 'पगला' नाम से अनुवाद किया। इस अनुवाद से संवाद-शैली में दृष्टान्त प्रस्तुत करके जीवन के सत्य का साक्षात्कार करने की एक नई प्रवृत्ति को जन्म मिला, जिसने गद्य-काव्य के इतिहास में एक नई शैली और जोड़ दी। स्वयं रायसाहब ने अपने 'संलाप' (१६२५) में इसी शैली को अपनाया है।

और पानी का भी संयोग हो जाता है। शीत और उष्ण भी आपस में मिलकर वसन्त बना डालते हैं। सब आपस में मिलते हैं। अपने विरोधी स्वभाव को सब छोड़ देते हैं। दयानिधि! आपका स्वभाव तो विरोधी नहीं है। प्यारे निर्दय! नहीं, कठोर दयालु! यह कौन जान सकता है कि आपका स्वभाव क्या और कैसा है? कैसा भी हो, पर एक बार मिल जाओ! हठीले हरि! एक बार केवल एक बार मिल जाओ। दया सागर! मैं तुम्हें एक आशीर्वाद दूँगा। नहीं, नहीं, क्षमा करो, मैं प्रणाम करूँगा और फिर बड़े प्रयत्न से, प्रथम अपने कर्तव्य-हीनता के भयंकर पाप को तुम पर चढ़ाकर, फिर एक बार नेत्र भरकर तुम्हें देखूँगा और फिर अपने-आपको भी तुम पर—तुम्हारे साढ़े इकतीस करोड़ अंशों में बँटे हुए विराट् स्वरूप के एक अंग पर चढ़ा दूँगा।

'प्रभा', भाग २, संख्या २, अप्रैल १६१५ में 'धर्म-तत्त्व' शीर्षक में 'कुछ नहीं' के नाम से श्री माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा लिखित।

देख, मैं तू बना चाहता हूँ। जब तक ऐसा न कर लूँगा, इसी आग में जलता रहूँगा, जिस समय मेरे काँधे पर हल होगा, सिर पर पगड़ी होगी और पीठ पर खद्दे का पिछौड़ा होगा, उस दिन सच मान मैं इन्द्र की गद्दी की ओर उतनी ही घृणा से देखूँगा जितनी घृणा से मैं आज अपने जीवन को देख रहा हूँ। पर उतनी देर में तू, 'मैं' मत बन! मेरे आदर्श! सामने रह! मैं तुझ पर अपने आँसुओं के फूल चढ़ाऊँगा और तुझे अपने इस पत्थर के हृदय में बिठाऊँगा। और यदि बीच ही में तू 'मैं' न बन गया तो मैं 'तू' होकर हे जगत् की आत्मा! 'तू' हो जाऊँगा। तेरे चरणों में लिपट जाऊँगा। मेरी बात मान और ठहर! तू मेरा ईश्वर है।

'प्रभा', भाग २, संख्या ४, जून १६१५ उसी शीर्षक में उसी लेखक द्वारा लिखित।

सन् १९२६ में श्री वियोगी हरि का 'अन्तर्नाद' प्रकाशित हुआ, जिसमें एक ओर रहस्य-वाद की झलक है तो दूसरी ओर देश और समाज के अधःपतन का चित्रण। एक ओर क्रान्ति के लिए तीव्र और ऊँची पुकार है तो दूसरी ओर सेवा-क्षेत्र के सैनिकों को आत्म-निरीक्षण के लिए चेतावनी। इसी वर्ष श्री हृदयनारायण पाण्डेयजी की 'मनोव्यथा' और 'प्रेमोन्मत्त' की 'प्रेम लहरी' का प्रकाशन हुआ। पाण्डेयजी की मनोव्यथा में 'उद्भ्रान्त प्रेम' की शैली अपनाई गई है और 'प्रेमलहरी' में, जैसा कि कहा जा चुका है, प्रेम-संबंधी उद्धरणों का संकलन तथा गद्य-खण्ड समाविष्ट है। सन् १९२७ में श्री देवदूत विद्यार्थी का 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', सद्गुरुशरण अवस्थी का 'भ्रमित पथिक' और केशवलाल झा 'अमूल' का 'प्रलाप' प्रकाशित हुए। 'कुमार हृदय का उच्छ्वास' में प्रेम, सेवा और त्याग से सम्बन्धित छोटे-छोटे गद्य-गीत हैं। 'भ्रमित पथिक'[1] अन्योक्तिमय गद्य-काव्य है, जिसमें 'एक साधारण विवेकशील किन्तु नेत्र के समान चाहे जिधर मुड़ जाने वाले संसारी पुरुष का इतिहास है। इसकी हम बनयन की 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' पुस्तक के साथ तुलना कर सकते हैं।' काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह के जाल में फँसकर निकलते हुए व्यक्ति का चित्र देने का प्रयत्न इसमें किया गया है और बीच-बीच में संस्कृत, अंग्रेज़ी, हिन्दी-उर्दू के कवियों की मार्मिक उक्तियाँ भी हैं। 'प्रलाप' में भक्ति और प्रेम-सम्बन्धी छोटे-छोटे गद्य-गीत हैं। सन् १९२८ में प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री वृन्दावनलाल वर्मा की 'हृदय की हिलोर' और श्री जगदीश झा 'विमल' की 'तरंगिणी' निकली। वर्माजी ने अपने पूज्य देवता (प्रेम-पात्र) के चरणकमलों में भिन्न-भिन्न अवसरों पर अपनी अद्भुत आन्तरिक भावनाओं को व्यक्त किया है। ये बहुत बड़े-बड़े गद्य-खण्ड हैं, जिनकी शैली भिन्न प्रकार की है। सन् १९२९ में राय कृष्णदास की 'छायापथ' और 'प्रवाल' तथा वियोगी हरि की 'प्रार्थना' नामक पुस्तकें निकलीं। 'छायापथ' में 'साधना' के ढंग की रचनाएँ हैं और 'प्रवाल' में शैशव को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। 'प्रार्थना' में भक्तिपूर्ण उद्गार हैं, जिनमें आत्म-निवेदन का स्वर प्रमुख है। सन् १९३० में मोहनलाल महतो 'वियोगी' का 'धुँधले चित्र' और श्री भगवतीचरण वर्मा का 'एक दिन' प्रकाश में आए। 'धुँधले चित्र' 'उद्भ्रान्त प्रेम'-शैली की रचना है और 'एक दिन' में आधुनिक गद्य-काव्य की सभी शैलियों का मिश्रण है।

सन् १९३१ में रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'स्ट्रेवर्ड्स' (Stray words) का 'कलरव' नाम से श्री रामचन्द्र टण्डन ने अनुवाद किया, जिसमें विभिन्न अवसरों पर कवि द्वारा लिखे सूक्तियों-जैसे छोटे-छोटे गद्य-खण्ड हैं। उनमें एक ही विचार की प्रधानता है। सन् १९३२ में श्री वियोगी हरि की 'भावना', शान्तिप्रसाद वर्मा का 'चित्रपट', चन्द्रशेखर सन्तोषी की 'विप्लव इच्छा' और लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' का 'वियोग' निकला। 'भावना' में वियोगी हरिजी के अन्य ग्रंथों की भाँति प्रार्थनामय उद्गार हैं। 'चित्रपट' में रायकृष्णदास की शैली का अनुकरण है। 'विप्लव इच्छा' में भी ऐसे ही गद्य-गीत हैं। 'वियोग' उद्भ्रान्त-शैली की रचना है। हाँ, इसमें कुछ परिष्कृत और आधुनिक भाषा है। १९३३ में वियोगी हरि की 'ठंडे छींटे', महाराजकुमार रघुबीरसिंह की 'बिखरे फूल',

१. 'भ्रमित पथिक' पुस्तक की 'प्रस्तावना', पृष्ठ ११।

अज्ञेय की 'भग्नदूत' और नोखेलाल शर्मा की 'मणिमाला' प्रकाश में आईं। 'ठण्डे छींटे' में 'शूद्र, अछूत, साम्प्रदायिक ऐक्य, आत्म-परिष्कार की उत्कट लालसा, दीनों पर प्रेम' आदि पर विचार हैं। 'जीवन-धूलि' में यौवनकालीन भावनाओं और वेदनाओं के चित्र हैं। 'भग्नदूत' में अज्ञेय की गद्य-पद्यमय रचनाएँ हैं। गद्य-गीतों में क्रान्तिवादी भावनाओं और रोमांटिक तत्त्वों का समावेश है। 'मणिमाला' में साधना का पथ अपनाया गया है। १६३४ में श्री देवदूत विद्यार्थी का 'तूणीर' निकला, जिसमें जीवन और जगत् की समस्याओं से सम्बन्धित गद्य-गीत हैं। १६३५ में तेजनारायण 'काक' की 'मदिरा', रामकुमार वर्मा की 'हिम-हास' और कनक अग्रवाल की 'उद्‌गार' नामक पुस्तकें निकलीं, जिनमें 'मदिरा' पर रवि बाबू की 'गीतांजलि' का प्रभाव है, 'हिम हास' लेखक की कश्मीर-यात्रा के समय प्रकृति-दर्शन-निर्माण और देश के प्रति कर्त्तव्य-पालन करने की प्रेरणा देने वाले उद्‌गार हैं। सन् १६३६ में वियोगी हरि की 'मेरी हिमाकत', आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'तरलाग्नि', रामेश्वरी देवी गोयल की 'जीवन का सपना' प्रकाश में आईं। 'तरलाग्नि' में भारतीय राजनीतिक विकास का एक रेखा-चित्र खींचा गया है, 'जीवन का सपना' में सांकेतिक शैली में हृदय की पीड़ा का व्यक्तीकरण है और 'तरुणाई' के बोल में युवकों, मजदूरों और किसानों के लिए उद्‌बोधन के विफल स्वर हैं।

सन् १६३७ में हिन्दी-गद्य-काव्य फिर एक नई दिशा पकड़ता है। इसका सूत्रपात श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया के 'शबनम' ग्रंथ से होता है। लौकिक प्रेम के रंगीन चित्र पहली बार गद्य-गीतों में आते हैं और गद्य-गीत की धारा में हलचल मच जाती है। लेकिन श्री रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी' की 'पूजा', भँवरमल सिंघी की 'वेदना' और नारायण दत्त बहुगुणा की 'विभावरी' में 'गीतांजलि' की धारा का ही विकास परिलक्षित होता है। १६३८ में महावीरप्रसाद दाधीचि की 'यौवन तरंग' और दिनेशनन्दिनी की 'मौक्तिक माल' रूप, सौन्दर्य और प्रेम के लौकिक पक्ष को लेकर ही चलते हैं, परन्तु सन् १६३९ में फिर एक नई कड़ी गद्य-गीत की शृंखला में जुड़ती है। महाराज कुमार रघुवीरसिंह की 'शेष स्मृतियाँ' के प्रकाशन से, जिसमें ऐतिहासिक गद्य-काव्य दिये गए हैं और मुग़ल-बादशाहों के उत्थान-पतन में पत्थरों का दिल भी बेचैन हो उठा है। इसी प्रकार प्रकाशित 'शारदीया' में दिनेशनन्दिनीजी की व्यथा और उग्र रूप ले लेती है। १६४० में प्रकाशित 'जागृत स्वप्न' में देश और समाज की दुर्दशा पर कवि की मानसिक प्रतिक्रिया का चित्रण है। १६४१ में 'अज्ञेय' की 'चिन्ता' और श्री परमेश्वरीलाल गुप्त की 'बन्दी की कल्पना' निकली। 'चिन्ता' में स्त्री और पुरुष की प्रेम-सम्बन्धी भावनाओं में फ्राइड के सिद्धान्तों का सहारा लिया गया है और 'बन्दी की कल्पना' में जेल-जीवन में लिखे गद्य-गीत हैं, जिनमें राष्ट्रीयता भी है और यौवन का अल्हड़पन भी। १६४२ में रावी की 'शुभ्रा' और दिनेशनन्दिनी की 'दुपहरिया के फूल' पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें प्रथम में यौवन की तीखी अतृप्ति है और दूसरी में एक ओर अपने प्रिय की मनुहार है, दूसरी ओर द्वितीय महायुद्ध की अप्रत्यक्ष झलक। श्री तेजनारायण काक के 'निर्झर और पाषाण' (१६४३) तथा श्री माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य देवता' (१६४३) के प्रकाशन से गद्य-काव्य की धारा में एक नया अध्याय जुड़ता है। पहली में खलील जिब्रान की

शैली पर दृष्टान्त है तो दूसरी में लाक्षणिक और रहस्यात्मक शब्दावली में देश-भक्ति और प्रेम की अनूठी व्यंजना। १९४५ में श्री ब्रह्मदेव के 'निशीथ' और दिनेशनन्दिनी के 'वंशी रव' तथा 'उन्मन' प्रकाशित हुए और १९४६ में चतुरसेन शास्त्री का 'जवाहर'। 'निशीथ' में रवीन्द्र की रहस्यात्मकता है और 'वंशी रव' में प्रेम की वही तीव्रता और कसक; 'उन्मन' में दिनेशनन्दिनी भी आध्यात्मिक स्पर्श से पुलकित जान पड़ती हैं। 'जवाहर' में नाम के अनुकूल जवाहर की प्रशस्ति है। सन् १९४७ में रघुवरनारायणसिंह के 'हृदय तरंग', रामनारायणसिंह के 'मिलन-पथ पर' और बालकृष्ण बलदुवा के 'अपने गीत' का प्रकाशन हुआ। इन तीनों पुस्तकों में प्रथम में विभिन्न विषयों पर गद्य-गीत हैं, द्वितीय में कोकिल, चाँदनी, चातकी, नलिनी आदि नारीत्व-बोधक जड़-चेतन वस्तुओं को सम्बोधित करके अनेक प्रकार की मौलिक उद्भावनाएँ की गई हैं और तृतीय में प्रेम का चित्रण है। श्री ब्रह्मदेव-रचित 'आँसू भरी धरती' (१९४८) और श्रीमती विद्यावती देवी भार्गव-रचित 'श्रद्धांजलि' (१९४८) में से पहली पुस्तक द्वितीय महायुद्ध से लेकर पाकिस्तान बनने तक की देश-विदेश की हलचलों की छाया से पूर्ण है और दूसरी पुस्तक लघुतम गद्य-गीतों की 'साधना' वाली शली को लेकर चली है। 'श्रद्धा-कण' (१९४९) में वियोगी हरिजी ने स्वर्गीय बापू के प्रति उसी प्रकार अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त की है, जिस प्रकार चतुरसेन शास्त्री ने 'जवाहर' में जवाहर की प्रशस्ति गाई है। स्पन्दन (१९४९) में दिनेशनन्दिनीजी के माँसल सौंदर्य से परिपूर्ण गद्य-गीत हैं। १९५१ में सुश्री स्नेहलता शर्मा के 'विषाद' और ब्योहार राजेन्द्रसिंह के 'मौन के स्वर' प्रकाश में आये। 'विषाद' में एक मर्मान्तक प्रेम-व्यथा की धारा का प्रवाह है और 'मौन के स्वर' में तेजनारायण काक के 'निर्झर और पाषाण' की दृष्टान्त-शैली का विकसित रूप। १९५२ में श्री हरिमोहनलाल वर्मा की 'भारत-भक्ति' का प्रकाशन हुआ है, जिसमें देश के वीर पुरुषों के चरित्रों और अन्य समस्याओं पर भावात्मक उद्गार हैं। सन् १९५३ में श्री महावीरशरण अग्रवाल की 'गुरुदेव' और सुश्री शकुन्तलाकुमारी 'रेणु' की 'उन्मुक्ति' रचनाएँ प्रकाश में आईं। पहली में योगी अरविन्द के दर्शन की छाप है तो दूसरी में वेदान्त और प्रेम के रासायनिक मिश्रण से परिव्याप्त उद्गार हैं।

'गीतांजलि' के अतिरिक्त अन्य अनूदित कृतियाँ—मौलिक तथा अनूदित कृतियों की काल-क्रमानुसार दी गई इस रूपरेखा से यह पता चलेगा कि गद्य-काव्य की अनेक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाएँ समय-समय पर प्रकाशित होती रही हैं। इन मौलिक कृतियों के अतिरिक्त हिन्दी में गद्य-गीतों की अनूदित कृतियाँ भी निकली हैं। उनमें से 'गीतांजलि' का उल्लेख हो चुका है। रवि बाबू की अन्य रचनाओं में 'गार्डनर' का 'बाग़बान' नाम से अनुवाद (सन् १९२४) शिशु तथा 'क्रेसेण्ट मून' के कुछ अंशों का 'दूज का चाँद' अनुवाद (सन् १९२८), 'स्ट्रे बर्ड्स' का 'कलरव' नाम से अनुवाद आदि तथा खलील जिब्रान के 'दी प्राफेट' का 'जीवन सन्देश' नाम से अनुवाद (१९४०), 'दी मैडमैन' का 'पागल' नाम से अनुवाद (१९४५), 'दी वांडरर' का 'बटोही' नाम से अनुवाद (१९४७) आदि कृतियाँ प्रमुख हैं। इन्होंने हिन्दी-गद्य-काव्यों में कई शैलियों को जन्म दिया है। सन् १९५१ में 'तुर्गनेव के गद्य-गीत' और 'अन्तरात्मा से' नाम से श्री

रंगनाथ दिवाकर के गद्य-गीतों के संकलन भी हिन्दी में आए हैं, जिनमें पहली रचना विदेशी भाषा की है और दूसरी भारतीय भाषा कन्नड़ की। पहली में खलील जिब्रान की विचारकता है दूसरी में रवि बाबू की भावुकता। इनके अतिरिक्त भी अनुवादों के रूप में पत्र-पत्रिकाओं में फुटकर रचनाएँ देखने को मिलती हैं।

तृतीय अध्याय

गद्य-काव्यात्मक कृतियों का प्रवृत्तिगत विभाजन

यदि हम हिन्दी-गद्य-काव्य की उपलब्ध सामग्री का भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के अनुकूल विभाजन करें तो निम्नलिखित रूपरेखा बनेगी—
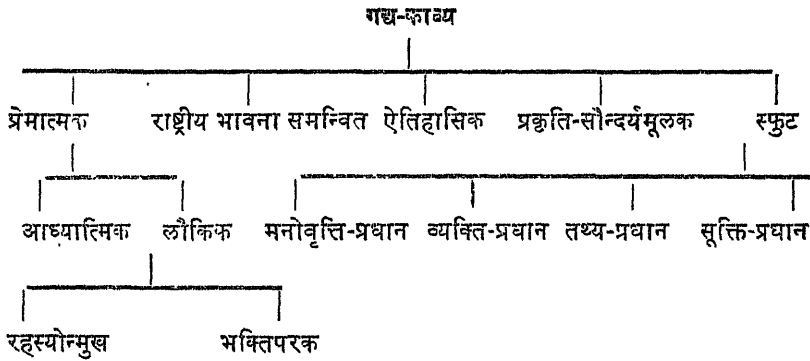
सबसे अधिक गद्य-काव्य प्रेम की प्रवृत्ति को लेकर लिखे गए हैं। यह नितान्त स्वाभाविक भी है, क्योंकि प्रेम रसराज शृंगार का आधार है और शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में सृष्टि का जीवन समाविष्ट हो जाता है। यह प्रेम जब ईश्वर की ओर उन्मुख होता है तो उसके दो रूप होते हैं—एक सगुण को लेकर चलने वाला, जिसे भक्ति कहते हैं और दूसरा निर्गुण को लेकर चलने वाला, जिसे रहस्योन्मुख कहते हैं। जब यह प्रेम किसी हाड़-माँस के प्राणी की ओर उन्मुख होता है तो भी उसके दो रूप हो जाते हैं—एक मानसिक तृप्ति को ही लक्ष्य बनाकर चलने वाला, जो प्रियतम की गुण-गरिमा और सौन्दर्य-सुषमा में तल्लीन रहने में ही अपनी पूर्णता मानता है और उसीसे मिलन-जैसा आनन्द प्राप्त करता है। दूसरे में रहस्यात्मक तथा मानवीय मिलन की उत्कट लालसा होती है। ईश्वरीय प्रेम के भक्ति और ऐन्द्रिक भेद ऐसे नहीं कि जिनके बीच में कोई सीमा-रेखा खींची जा सके, क्योंकि प्रेम एक ऐसी तरल भावना है, जो लौकिकता से आरम्भ होकर ही भक्ति और रहस्योन्मुखता की ओर बढ़ती है। कोई रचना कब लौकिकता में विचरण करे, कब भक्ति की सीमा को छू ले, कब रहस्योन्मुख

हो, उसे यह कहा नहीं जा सकता। यही कारण है कि किसी गद्य-काव्य-लेखक को हम सोलह आने ऊपर की प्रवृत्तियों में से किसी के भीतर नहीं रख सकते। हाँ, उसे किसी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि के रूप में रखेंगे तो केवल इसीलिए कि उसमें उस प्रवृत्ति की प्रधानता है।

रहस्योन्मुख प्रेम की रचनाएँ—रहस्योन्मुख प्रेम की व्यंजना का सूत्रपात श्री रायकृष्णदास की 'साधना' से होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'साधना' का प्रेरणा-स्रोत 'गीतांजलि' है। इसलिए रविबाबू द्वारा प्रवाहित आध्यात्मिक प्रेम रहस्यमयी धारा—जिसमें कबीर और उपनिषदों का चिन्तन माधुर्य का आवरण और पावनता का सुगन्धित आलेपन लिए हुए प्रकट हुआ—को हिन्दी में लाने का श्रेय 'साधना' को है। लम्बे-लम्बे गद्य-काव्यों के स्थान पर छोटे-छोटे गद्य-गीतों का प्रचलन भी 'साधना' द्वारा ही हुआ। इस शैली में ही हिन्दी-गद्य-काव्य साहित्य का अधिकांश लिखा गया है। स्वयं रायसाहब की 'छाया पथ' और 'प्रवाल' ऐसी ही रचनाएँ हैं। श्री केदार लिखित 'अधखिले फूल', नारायणदत्त बहुगुणा-लिखित 'विभावरी', द्वारिकाधीश मिहिर-लिखित 'चरणामृत', श्री रामप्रसाद विद्यार्थी-लिखित 'पूजा', शान्ति प्रसाद वर्मा-लिखित 'चित्रपट', भँवरमल सिंघी-लिखित 'वेदना', नोखेलाल शर्मा-लिखित 'मणिमाला', श्रीमती दिनेशनन्दिनी-लिखित 'उन्मन', ब्रह्मदेव शर्मा-लिखित 'निशीथ', रामेश्वरी गोयल एम० ए०-लिखित 'जीवन का सपना', तेजनारायण काक 'क्रान्ति'-लिखित 'मदिरा' तथा 'मशाल', देवदूत विद्यार्थी-लिखित 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', और 'तूणीर', केशव लाल झा 'अमल'-लिखित 'प्रलाप', श्री जगदीश झा विमल-लिखित 'तरंगिणी', रघुवरनारायण सिंह-लिखित 'हृदय तरंग', सुश्री विद्या भार्गव-लिखित 'श्रद्धांजलि', स्नेहलता शर्मा-लिखित 'विवाद', और श्री महावीरशरण अग्रवाल-लिखित 'गुरुदेव' ऐसी ही कृतियाँ हैं, जो 'साधना'-शैली में लिखी गई हैं।

भक्तिपरक रचनाएँ—हिंदी-गद्य-काव्य में भक्ति-भावना का प्रतिनिधित्व करने वाले गद्य-काव्यकार श्री वियोगी हरि हैं। वे स्वयं परम वैष्णव और सन्तानुयायी साहित्य-स्रष्टा हैं, इसलिए उनकी गद्य-काव्य की कृतियों में अपने आराध्य कृष्ण के प्रति आत्म-निवेदन की प्रमुखता है। उनकी 'तरंगिणी', 'अन्तर्नाद', 'प्रार्थना', 'भावना', 'ठण्डे-छींटे' आदि रचनाओं में भक्ति के उद्‌गार प्रकट किए गए हैं। लेकिन वियोगी हरिजी एक गांधीवादी राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी हैं, इसलिए उनमें राष्ट्र-प्रेम और बलिदान की भावना, सर्व-धर्म-समन्वय और मानवता की पूजा की भावना, हरिजनोद्धार की लगन और दीनों के प्रति प्रेम की भावना, समाज-सुधार का आग्रह आदि से युक्त गद्य-काव्य भी मिलते हैं। 'श्रद्धा-कण' नामक पुस्तक तो गांधीजी के स्वर्गवास होने पर उनके प्रति श्रद्धांजलि के रूप में लिखी गई है।

लौकिक प्रेम की रचनाएँ—लौकिक प्रेम की रचनाओं में श्री राजनारायण 'रजनीश' की 'आराधना', श्री विश्वम्भर 'मानव' की 'अभाव', श्री रावी की 'शुभ्रा', श्री बालकृष्ण बलदुवा की 'अपने गीत', श्री महावीर प्रसाद दाधीचि की 'यौवन तरंग', श्री शिवचन्द्र नागर की 'प्रणय गीत', सुश्री शकुन्तला कुमारी 'रेणु' की 'उन्मुक्ति', स्नेह-

लता शर्मा की 'विषाद', श्रीमती दिनेशनन्दिनी की 'शबनम', 'मौक्तिक माल', 'वंशी रव', 'दुपहरिया के फूल', 'स्पन्दन' आदि रचनाएँ आती हैं। इनमें प्रिय को उतना ही महत्त्व दिया जाता है, जितना आध्यात्मिक प्रेम की रचनाओं में भगवान् को। यह प्रेम गंगा-जल की भाँति पवित्र होता है और इसमें आत्म-समर्पण और अनन्यता की महत्ता पर बल दिया जाता है। प्रेम की इन रचनाओं में यत्र-तत्र ऐन्द्रिकता के भी दर्शन हो जाते हैं। दिनेशनन्दिनीजी की कृतियों में ऐसी अनेक रचनाएँ हैं, जिनमें ऐन्द्रिकता स्पष्ट है। श्री रजनीश की 'आराधना' श्री महावीरप्रसाद दाधीचि की 'यौवन तरंग' और शिवचन्द्र नागर की 'प्रणय-गीत' में भी कहीं-कहीं ऐन्द्रिकता का समावेश हुआ है।

लौकिक प्रेम के वर्ग में ही इस प्रकार की और रचनाएँ हैं, जिनमें 'उद्भ्रान्त-प्रेम' से मिलती-जुलती शैली को अपनाया गया है। इन रचनाओं में रीतिकालीन परिपाटी पर वियोग के उद्गार हैं। श्री व्रजनन्दन सहाय की 'सौन्दर्योपासक', राजा राधिकारमण प्रसादसिंह की 'नवजीवन' या 'प्रेम लहरी', श्री मोहनलाल महतो वियोगी की 'धुँधले चित्र', श्री लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' की 'वियोग', हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश' की 'मनो-व्यथा' आदि पुस्तकें इसी कोटि की हैं।

राष्ट्रीय भावना-समन्वित रचनाएँ—राष्ट्रीयता दूसरी प्रवृत्ति है, जिसने हिन्दी-गद्य-काव्य को प्राण-शक्ति प्रदान की है। इस क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 'साहित्य देवता' के रचयिता श्री माखनलाल चतुर्वेदी का है। उन्होंने राष्ट्र को ही अपने आराध्य के रूप में जीवनादर्श स्वीकार किया और उसके चरणों में श्रद्धापुष्प चढ़ाए। दूसरे राष्ट्रीय गद्य-काव्य-लेखक श्री चतुरसेन शास्त्री हैं। उनकी 'मरी खाल की हाय' और 'जवाहर' रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। 'तरलाग्नि' नामक एक अन्य पुस्तक में शास्त्रीजी द्वारा भारतीय राजनीतिक विकास का एक रेखा-चित्र देने की चेष्टा की गई है। श्री वियोगी हरि ने भी अपनी कृतियों में राष्ट्रीय रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में दी हैं। श्री ब्रह्मदेव शर्मा की 'आँसू भरी धरती' और हरिमोहनलाल श्रीवास्तव की 'भारत-भक्ति' राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति के गद्य-काव्यों की अच्छी कृतियाँ हैं। इनमें देश-प्रेम, बलिदान, क्रान्ति और विद्रोह, महापुरुष-वन्दना और अतीत गौरव से सम्बन्धित भावनाओं का समावेश है।

ऐतिहासिक रचनाएँ—तीसरी प्रवृत्ति ऐतिहासिकता है। ऐतिहासिकता की प्रवृत्ति से सम्बन्धित गद्य-काव्य लिखने वाले एकमात्र लेखक महाराजकुमार श्री डॉक्टर रघुवीरसिंहजी हैं। उनकी 'शेष स्मृतियाँ' इस दृष्टि से एक अमर कृति है। इस क्षेत्र में आपकी रचनाएँ इतनी प्रौढ हुईं कि किसी दूसरे को लेखनी उठाने का साहस ही न हुआ। मुगल-कालीन इमारतों का आधार लेकर लेखक ने अपनी भावुकता का स्रोत बहाया है और पत्थरों के भीतर हृदय की धड़कन का संचार कर दिया है।

प्रकृति-सौन्दर्य-मूलक रचनाएँ—चौथी प्रवृत्ति प्रकृति-सौन्दर्य-मूलक रचनाएँ लिखने की है। यों तो सभी ने प्रकृति-सौन्दर्य-मूलक रचनाएँ लिखी हैं, पर डॉक्टर रामकुमार वर्मा का 'हिम हास' इस दिशा में एक उल्लेखनीय प्रयत्न है। कश्मीर की प्राकृतिक सुषमा से प्रभावित होकर कवि ने महत्त्वपूर्ण उद्गारों को वाणी का रूप प्रदान किया है। प्रो० रामनारायणसिंह की 'मिलन-पथ पर' रचना भी इसी कोटि

में आती है, जिसमें कोकिला, चकोरी, मयूरी, तितली, मीन, मृगी, दामिनी, सरिता, उषा, रजनी आदि पर कवि ने बड़ा ही मार्मिक रचनाएँ की हैं।

स्फुट रचनाएँ—गद्य-काव्य में केवल उपर्युक्त प्रकार की रचनाएँ ही नहीं हैं। उसमें अन्य कई प्रकार की रचनाएँ भी मिलती हैं, जिन्हें हम 'स्फुट' कह सकते हैं। यदि इन स्फुट रचनाओं के भी हम विभाजन करें तो इनके चार मुख्य भाग हो सकते हैं: १. मनोवृत्ति-प्रधान, २. व्यक्ति-प्रधान, ३. तथ्य-प्रधान, ४. सूक्ति-प्रधान रचनाएँ।

मनोवृत्ति-प्रधान रचनाओं में सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रेम-घृणा आदि वृत्तियों का स्वरूप प्रस्तुत करना अभिप्रेत होता है। इस दृष्टि से श्री चतुरसेन शास्त्री का 'अन्तस्तल' हिन्दी-गद्य-काव्य कृतियों में सर्वश्रेष्ठ रचना है। आरा से प्रकाशित 'मोन्मत्त' लिखित "प्रेम लहरी' और शिवपूजन बाबू लिखित 'प्रेम कली' में प्रेम का विवेचन है। वैसे लगभग सभी लेखकों ने जीवन की इन प्रमुख वृत्तियों पर अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है।

व्यक्ति-प्रधान रचनाओं में देवता, राक्षस, मानव, ईसा, गांधी, कवि, गायक, कलाकार, पथिक, पागल, युवक, मित्र, माँ, बालक आदि को आलम्बन बनाया जाता है। इनमें प्रत्येक के महत्त्व, उनकी विशेषता तथा उनकी मानव-कल्याण भावना का स्पष्टीकरण किया जाता है। ऐसी रचनाएँ सभी ने लिखी हैं।

तथ्य-प्रधान रचनाएँ हिन्दी में खलील जिब्रान के प्रभाव से आई हैं। इनमें पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, नदी-निर्झर, पृथ्वी-आकाश आदि के वार्तालाप द्वारा तथ्यों का उद्‌घाटन होता है। श्री तेजनारायण काक की 'निर्झर और पाषाण', ब्योहार राजेन्द्रसिंह की 'मौन के स्वर', वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा की 'ऊँचे नीचे' आदि कृतियाँ इसी कोटि में आती हैं। श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी की 'भ्रमित पथिक' नामक अन्योक्ति भी इसी कोटि की रचना है। उसमें एक पथिक है, जो संसार-भ्रमण करता है और काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह के चक्र में पड़ता हुआ अन्त में मुक्ति के पथ पर बढ़ता है। पथिक साधक का प्रतीक बन-कर आया है। यह पुस्तक पूरी ढाई सौ पृष्ठ की है। अन्य रचनाएँ आठ-दस पंक्तियों या २०-२५ पंक्तियों तक ही की हैं।

श्री रवीन्द्रनाथ के 'स्ट्रेवर्ड्‌स' से सूक्ति-प्रधान रचनाओं का प्रारम्भ हुआ है। इसका अनुवाद श्री रामचन्द्र टंडन ने सन् १९३१ में 'कलरव' नाम से किया था। श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, वियोगी हरि आदि इस धारा के प्रमुख लेखक हैं। संस्कृत के सुभाषितों-जैसी जीवन-सत्य-व्यंजक छोटी-छोटी रचनाओं की परम्परा भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है, जिसमें लेखक एक विचार देकर हृदय में झंकार पैदा करता है। माखनलाल चतुर्वेदी ने कला और साहित्य पर, श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने 'मनन' और 'बुद्‌बुद' में आत्मोन्नति की भावना पर और श्री वियोगी हरि ने 'ठंडे छींटे' में गांधी-वादी विचार-धारा पर ऐसे ही विचार दिए हैं। इनमें चिन्तन के साथ भावुकता भी मिली रहती है।

इस प्रकार हिन्दी-गद्य-काव्य का अपना अलग महत्त्व है। वह केवल बंगला का अनुकरण नहीं है, जैसा कि समझा जाता रहा है। हाँ, रवि बाबू की रचनाओं ने उसको एक निश्चित रूपरेखा देने का महत्त्वपूर्ण कार्य अवश्य किया है और रायकृष्णदास ने उनके

आधार पर छोटे-छोटे गद्य-गीतों का आरम्भ किया है। वैसे भारतेन्दु के युग से ही भावुकतापूर्ण ऐसे उद्गारों की परम्परा मिलती है, जिसे हम सहज ही गद्य-काव्य की कोटि में रख सकते हैं। आकार की दृष्टि से भी छोटे-छोटे गद्य-खण्डों का अभाव भारतेन्दु-युग में नहीं मिलता, इसका प्रमाण तत्कालीन पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठ उलटने से मिल सकता है। इस सबको मिलाकर देखने से हिन्दी-गद्य-काव्य सहसा ही उत्पन्न हुई वस्तु न होकर अपने साथ एक क्रमबद्ध इतिहास रखने वाली पुष्ट धारा है। उसमें अनेक रचनाएँ हैं, जो समय-समय पर विविध प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रकाश में आती रही हैं। बाहर से प्रेरणा लेकर भी उन्होंने अपनी भाषा को एक पुष्ट साहित्यिक धारा की अमूल्य देन दी है। उसने एक लम्बा पथ पार किया है और नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध की सीमा-रेखाओं को पार करते हुए अपना पथ बनाया है। उसकी ओर लोगों का उपेक्षा भाव रहा है, परन्तु वह आज भी अपना अस्तित्व सार्थक कर रही है। उपेक्षित होने पर भी उसने साहित्य में जो स्थान बनाया है, वह उसकी शक्ति और सामर्थ्य का सूचक है।

गद्य-काव्य-सम्बन्धी समस्त सामग्री का प्रवृत्तिगत विभाजन कर लेने के पश्चात् हम अब इस स्थिति में हैं कि गद्य-काव्य की विविध प्रवृत्तियों के विषयों का अनुसन्धान कर सकें। जैसा कि विभाजन के समय कहा गया है, प्रेम की प्रवृत्ति की प्रधानता साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति, हिन्दी-गद्य-काव्य में भी मिलती है। लेकिन यह एक पकड़ में न आने वाली वृत्ति है, इसलिए कवि या लेखक इसकी अनुभूति को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में असमर्थ रहता है। फलतः उस अभिव्यक्ति के अनेक रूप हो जाते हैं। यहाँ हम प्रेम की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में लेखकों की मान्यताओं तथा तत्सम्बन्धी उनके विचारों को पहले लेना चाहते हैं, ताकि उसके स्वरूप का आभास मिल सके।

गद्य-काव्य के प्रेम का स्वरूप—कुछ लेखकों ने प्रेम की परिभाषा करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। श्री माखनलाल चतुर्वेदी प्रेम की पुरुषार्थमयी सुकोमलता मानते हुए कहते हैं—"प्रेम, साहित्य के जगत् में, रस की हृदय को छूने वाली किन्तु पुरुषार्थमयी सुकोलमता का नाम है।"[1] आचार्य चतुरसेन शास्त्री उसे स्वप्न समझते हुए कहते हैं—"प्रेम एक स्वप्न है और जीवन कदाचित् उससे कुछ अधिक।"[2] श्रीमती दिनेशनन्दिनी उसे मादक सुरभि के रूप में ग्रहण करके लिखती हैं—"प्रेम पोस्त का पुष्प है, जो मेरी राग-रागिनियों को अपने सुरभित श्वास से निद्रित कर देता है।"[3] श्री अज्ञेयजी की दृष्टि में 'प्रेम माया-जाल है।'[4] इस प्रकार प्रेम को प्रत्येक लेखक ने अपनी-अपनी दृष्टि से देखकर उसकी परिभाषा करने का प्रयत्न किया, लेकिन उससे प्रेम का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। कारण, अंधों के हाथों की भाँति जिसने जैसा अनुभव किया वैसा ही अपना मत प्रकट कर दिया। इसलिए ये परिभाषाएँ पूर्ण नहीं हैं।

---

१. 'साहित्य-देवता', पृष्ठ ९२।
२. 'अन्तस्तल', पृष्ठ १३१।
३. 'शबनम', पृष्ठ ४७।
४. 'भग्नदूत', पृष्ठ १०१।

लेकिन यह मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब कोई वस्तु परिभाषा की परिधि में नहीं आती तब उसकी शक्ति और महत्ता का परिचय कराने के लिए वह प्रशस्त गान-पद्धति का आश्रय लेता है। हिन्दी-गद्य-काव्य-लेखकों ने भी जब देखा कि प्रेम की परिभाषा करना कठिन है तो उन्होंने उसकी प्रशस्ति गाना उचित समझा। श्री रायकृष्ण-दास भय और प्रेम की तुलना करते हुए प्रथम की संकीर्ण परिधि का द्वितीय की विस्तृत परिधि में पर्यवसान मानते हैं।[१] श्री नांखेलाल शर्मा प्रेम की आकर्षण-शक्ति का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उसी के कारण परमात्मा नीचे पृथ्वी पर उतरता है।[२] श्री वियोगी हरि 'प्रेम एवं परमात्मा' में विश्वास रखते हैं।[3] 'अज्ञेय' प्रेम को ऐसी लता मानते हैं, जिसे न तो विद्वेष की झंझा उखाड़ सकती है, न कलह की दुर्गन्ध उसके सौरभ को दबा सकती है और न प्रलय-लहरी ही उसे डुबा सकती है।[४] श्रीमती दिनेशनन्दिनी प्रेम को महान् सत्य, पूर्ण सौन्दर्य और चिरन्तन प्रकाश मानकर उसे पृथ्वी को पवित्र करने वाला कहती हैं।[५] श्री माखनलाल चतुर्वेदी प्रेम को भक्ति, मुक्ति और योग से भी ऊँचा मानते हैं।[६]

प्रेम की वृत्ति के स्वरूप के स्पष्टीकरण का एक ढंग कुछ कवि-रूढियों का आश्रय लेकर और कुछ स्वतन्त्र रूप से उसकी सांकेतिक अभिव्यक्ति करना भी है। भ्रमर और कमल, चातक और घन, मीन और नीर, चकोर और चन्द्र, पतंग और दीपक प्रेमियों के लिए सदा से आदर्श रहे हैं। श्री वियोगी हरि ने इसी प्रणाली का आश्रय लेकर अपनी 'भावना' नामक पुस्तक में 'प्रीति' शीर्षक से प्रेम का स्वरूप स्पष्ट किया है। उन्होंने उसमें सरिता और समुद्र तथा चपला और घन-जैसे जड़ पदार्थों को भी कवि-प्रशस्तियों की

---

१. भय की परिधि संकीर्ण है, प्रेम की विस्तृत। वह इसमें समा जाता है। जिस प्रकार सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र में देखने से दृश्य वस्तु और ही रूप में दीख पड़ती है, उसी प्रकार प्रेम की दिव्य दृष्टि से ये सब पदार्थ स्वर्गीय रूप में दिखाई देते हैं। भय का अन्त लौकिक अवलोकन के साथ हो जाता है। 'साधना', पृष्ठ २२।

२. यह प्रेम ही का आकर्षण है कि जिसके वशीभूत होकर स्वयं परमात्मा को हमारे लिए नीचे उतर आना पड़ता है और हमारे साथ रहना पड़ता है। 'मणिमाला', पृष्ठ २२।

३. 'तरंगिणी', पृष्ठ ५।

४. उस तरुण लतिका को विद्वेष की झंझा न उखाड़ सकी, कलह की दुर्गन्ध उसके सौरभ को न दबा सकी, न मृत्यु की प्रलय-लहरी उसे डुबा सकी। 'भग्नदूत', पृष्ठ १०३।

५. 'प्रेम, तू ही विश्व में महान् सत्य, पूर्ण सौन्दर्य और चिरन्तन प्रकाश है। तेरी चरणपादुका ने ही इस पृथ्वी को पवित्र तीर्थ-स्थान बनाया है, जिसके रज-कण का तिलक अपने भाल पर लगाने के लिए देवता उत्सुक रहते हैं। कवियों ने अनादि काल से तेरा ही गुण-गान किया है। शहीदों ने तेरी वेदी पर जीवन न्योछावर करके मृत्यु को मुक्ति का राज-मार्ग बना दिया है। चिर-जीवन और चिर-मृत्यु का मधुर मिलन तुझमें ही होता है— तू ही मृत्यु और मृत्युञ्जय है।' 'मौक्तिक माल', पृष्ठ १।

६. यदि भक्ति सचमुच कोई, श्री विवेकानन्द के शब्दों में, योग हो तो उसे भावों के इस दीवाने 'प्रेम' के द्वार की मजदूरिन बनकर रहना पड़ेगा। और मुक्ति-जैसी खुली हुई स्वच्छन्द वस्तु को गरुड़ बनकर अपने पंखों पर इस दीवाने देवता की प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिए। और यदि कोई प्रभु रहता हो तो इस अतिरेक के बीमार से दूर वह कहाँ रहेगा? किस आशा से? 'साहित्य देवता', पृष्ठ ६४।

भाँति प्रयुक्त किया है।[1] यह प्रेमी और प्रेमिका के जीवन की गति-विधि के स्पष्टीकरण का सांकेतिक रूप है। इन जड़-चेतन पदार्थों के पारिवारिक सम्बन्ध की कल्पना द्वारा हमें प्रेम के स्वरूप का आभास होता है। इसी का एक सीधा-सादा रूप भी है, जिसमें प्रेम में मग्न व्यक्ति की अवस्था का चित्र दिया जाता है। श्री देवदूत विद्यार्थी ने 'कुमार हृदय का उच्छ्वास' में 'प्रेम-पागल' का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्रेम-पागल अपने प्रियतम की मूर्ति को हर जगह और हर वक्त अपनी आँखों के सामने ही हाजिर पाता है। अपने प्रियतम को एक क्षण के लिए भी भुलाना या अपने से अलग समझना उसे स्वीकार नहीं। प्रेम-पागल में न आतुरता और उत्सुकता की लहर रहती है, न व्यग्रता और व्याकुलता की ज्वाला। उसके हृदयाकाश से प्रतिक्षण मधुरता, आनन्द और प्रसन्नता की वर्षा होती रहती है। सच तो यह है कि प्रेम-पागल अपने व्यक्तित्व को भुलाकर अपने प्रियतम के ही व्यक्तित्व में समा जाता है। अपने प्रियतम के व्यक्तित्व को ही वह अपना समझने लगता है।[2] श्रीमती दिनेशनन्दिनी भी यही कहती हैं कि प्रीति की रीति सनातन से चली आई है कि प्रेमी विश्वास और अविश्वास से ऊपर उठकर अपना सर्वस्व अपने आराध्य प्रेमास्पद के चरणारविन्दों पर न्योछावर करके उसके प्रेम में फना हो जाए और उपास्य उसके दिल को बलात् छीनकर उसे सितम की शिला पर घिस-घिसकर उसमें अनलहक के रंग की मस्ती ला दे।[3]

इस प्रकार हिन्दी-गद्य-काव्य-लेखकों ने प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करने तथा उसकी शक्ति और पवित्रता को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। अब हम अपने विभाजन के अनुसार प्रेम के अन्तर्गत रहस्योन्मुख प्रेम को व्यक्त करने वाले गद्य-काव्यों के विषय का विवेचन करेंगे।

रहस्योन्मुख प्रेम की रचनाओं के विषय—रहस्योन्मुख आध्यात्मिक प्रेम की प्रवृत्ति का जन्म दर्शन के शुष्क और कठोर ब्रह्म को सांसारिक सम्बन्धों की सरस और कोमल भूमि पर उतारने के कारण हुआ है। सांसारिक सम्बन्धों में माता-पुत्र, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, मित्र-मित्र, पति-पत्नी आदि के सम्बन्ध प्रमुख हैं। रहस्यवाद में तो यों इन सबका ही महत्त्व है, परन्तु फिर भी पति-पत्नी-सम्बन्ध का प्राधान्य है। हिन्दी में रहस्यवाद के आदि प्रवर्तक कवि कबीर ने सर्वप्रथम अपने काव्य में इस सम्बन्ध को प्रभु-प्रेम की अभिव्यक्ति का आधार बनाया। उनके काव्य में वेदान्त और सूफी मत के गूढ तत्त्वों के बीच इस भावनामूलक रहस्यवाद के कारण मरुस्थल में पुष्पित-पल्लवित उपवन की छटा के दर्शन होते हैं। कबीर की सबसे बड़ी देन यही है कि उन्होंने उपनिषदों के ब्रह्म को प्रेयसी आत्मा का प्रियतम बना दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी में जो कार्य कबीर ने किया था वही बीसवीं शताब्दी में विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया। दोनों कवियों की मूल भावना में ऐक्य और अभिन्नता के दर्शन होते हैं। अन्तर है दोनों की अभिव्यक्ति की प्रणाली और मान्यता का। सृष्टि के सौन्दर्य को माया कहकर तिरस्कार करने वाले

१. 'भावना', पृष्ठ ३।
२. 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', पृष्ठ ५१।
३. 'दुपहरिया के फूल,' पृष्ठ ३६।

कबीर ने उससे सदा को नाता तोड़ लिया, जबकि सौन्दर्य और कला की प्रेरक शक्ति प्रकृति को अपने जीवन का आधार मानने वाले विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उसके माध्यम से ही अपनी अभिव्यक्ति का पथ प्रशस्त किया। कबीर ने जिसके त्याग के समर्थन में अनेक तर्क दिए थे उसी के ग्रहण के लिए रवि बाबू ने मधुर और कोमल स्वर में स्फूर्ति-मय गीत गाए। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की—"त्याग में मुझे मुक्ति नहीं। मुझे तो आनन्द के सहस्रों बन्धनों में मुक्ति का रस आता है।"[1] जीवन और मरण का जो खेल आत्मा खेलती है वह उसकी इच्छा का ही वरदान है, उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करना ही मनुष्य का धर्म है, जगत् की क्षणभंगुरता देखकर भागना अशोभनीय है, आदि बातों से जिस आशावादी जीवन-दर्शन का सूत्रपात रविबाबू ने किया उसमें हमें जीवन के प्रति अनुराग की निधि तो मिली ही, हमारी आस्तिकता भी बढ़ी। नास्तिकता के युग में रवीन्द्र के जीवन का सर्वश्रेष्ठ अंश भारतीय संस्कृति के मूल में निहित इसी आस्तिकता के पुनरुत्थान में लगा और इसीलिए वे विश्व-कवि कहलाए। कबीर की भाँति उनकी साधना भी 'सहज' की साधना है और अपने प्रभु को बिना किसी विशेषण के 'तुम' कहकर जो सम्बोधन उन्होंने किया उससे वह मायावी सदा को उनके गीतों में बस गया। इस कारण उनका जीवन प्रभुमय हो गया। कबीर के 'गगन गुफा' या 'ब्रह्मान्ध्र' में अमर रस-पान की साधना को विश्व-कवि ने जीवन की इसी आनन्द-साधना में प्राप्त कर लिया। अस्तु,

विश्व-कवि का यह नूतन रहस्योन्मुख प्रेम आध्यात्मिक प्रेम है, जिसमें अज्ञात और निराकार ब्रह्म हिन्दी-गद्य-काव्यों में अपने व्यापकत्व को लेकर आया। उसका समावेश हमारे गद्य-काव्यों में निम्न रूपों में हुआ है—

१. जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध।
२. ससीमता और असीमता की भावना।
३. जन्म, मरण और अमरत्व की समस्या।
४. अज्ञात के प्रति आकर्षण और समर्पण।
५. संसार और उसकी स्थिति।
६. 'उस पार' या 'उस लोक' की कल्पना।
७. प्रकृति में प्रभु की झलक।
८. जिज्ञासा।
९. खोज और साधक की कठिनाई।
१०. विरह-वेदना।
११. मिलन का उपक्रम और मिलन।

१. जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध—जीव ब्रह्म का ही एक अंश है, यह दार्शनिक मान्यता हिन्दी के गद्य-काव्यों में बराबर मिलती है। श्रीमती दिनेशनन्दिनी ने लिखा है 'कि जो सम्बन्ध चिनगारी का अग्नि से है, नदी का लहर से है, दीप का लौ से है, चन्दन का सुगन्ध से है, वही सम्बन्ध ब्रह्म का जीव से है।'[2] यदि ब्रह्म हिमालय है तो जीव उससे

---

१. 'गीतांजलि', ७३वाँ गीत।
२. 'शबनम', पृष्ठ ५।

प्रवाहित होने वाली मन्दाकिनी, यदि ब्रह्म त्याग है तो जीव उससे उत्पन्न होने वाली शान्ति-सुधा, यदि ब्रह्म पुरुष है तो जीव प्रकृति।[१] श्री रायकृष्णदास कहते हैं कि विश्व में जीव उसी प्रकार ब्रह्म का आधार लेकर ठहरा हुआ है, जिस प्रकार नाल के सहारे कमल जल पर कल्लोल करता रहता है।[२] श्री भँवरमल सिंघी ने जीवन को संगीत की उस मूर्च्छना का अंग बनाया है, जिस पर दिन और रात की गति संचालित है।[३]

लेकिन जब यह शृंगारी भाव है तब क्या कारण है कि जीव और ब्रह्म इस ऐक्य का अनुभव नहीं करते ? इस सम्बन्ध में श्री रायकृष्ण दास का कहना है कि चिरकाल से उस आनन्दमय प्रभु से विलग रहने के कारण जीव की स्थिति यह हो गई है कि वह इस संसार-रूपी इन्द्रजाल को अपने सामने से हटाने से डरता है। और आश्चर्य की बात यह है कि यह सब माया भी उसी मायावी की है।[४] कभी-कभी उन्हें यह रहस्य भी परेशान कर देता है कि जीव ब्रह्म का अंश है, पर ब्रह्म उसे क्षणभंगुर, नाशवान, मृत और जड़ समझकर उससे दूर क्यों रहता है।[५] श्री भँवरमल सिंघी की दृष्टि में जीव ब्रह्म से युग-युग से मिलने का प्रयत्न कर रहा है, पर वह पकड़ में नहीं आता, उसकी झलक-भर मिलती है।[६]

तब क्या इन दोनों में द्वैत भाव है ? नहीं। श्री नोखेलाल शर्मा का मत है कि चकोरी और चन्द्र में तथा कमलिनी और दिनकर में उपासक और उपास्य का भेद भले ही हो, परन्तु जल और उसकी तरंगों में, सूर्य और उसकी किरणों में, विद्युत् और उसकी चंचलता में द्वैत भाव की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए। अद्वैतता में द्वैतता और अभिन्नता में भिन्नता की बातें बेतुकी हैं।[७] श्रीमती दिनेशनन्दिनी की दृष्टि में ब्रह्म और जीव दोनों बराबर हैं। यदि ब्रह्म की रागिनी की झंकार प्रलय को स्तम्भित करने की क्षमता रखती है तो जीव का गान ब्रह्म के हृदय-सिन्धु में सतत उठने वाले राग के ज्वार को मन्त्र-मुग्ध कर देने में समर्थ है।[८]

२. ससीमता और असीमता की भावना—आत्मा या जीव ससीम है और परमात्मा या ब्रह्म असीम। अनादि काल से ससीम असीम होने का प्रयत्न करता चला आ रहा है। साधकों के जीवन की सार्थकता ही इसमें है कि ससीम असीम हो जाए। हिन्दी के गद्य-काव्यों में ससीम और असीम की भावना के दो रूप मिलते हैं—एक तो वह जिसमें ससीम की महत्ता और अनिवार्यता का उल्लेख है और उसके अभावग्रस्त होने पर भी उसके अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध की गई है और दूसरा वह जिसमें ससीम के

---

१. 'शबनम', पृष्ठ ३५।
२. 'साधना', पृष्ठ २०।
३. 'वेदना', पृष्ठ ८४।
४. 'साधना', पृष्ठ ४५।
५. वही, पृष्ठ १२।
६. 'वेदना', पृष्ठ ४।
७. 'मणिमाला', पृष्ठ ५२।
८. 'शारदीया', पृष्ठ १७।

असीम में लय हो जाने को ही जीवन का लक्ष्य माना गया है और इसी के लिए साधक प्रयत्नशील रहता है। प्रथम प्रकार की भावना के विषय में श्री रायकृष्णदास का कहना है कि जन्म-मरण के बन्धन में ही जीव की मर्यादा रक्षित रह सकती है। मृदंग के गुणों (रस्सी) से बँधे रहने से ही उसमें विभिन्न स्वर निकलते हैं। यह सगुणता ही जैसे उसके जीवन का चिह्न है और इसके नष्ट हो जाने से जैसे उसका नाश हो जाएगा, उसी प्रकार जीव का अस्तित्व भी उसके जन्म-मरण के बन्धन से ही रक्षित है।[१] फिर प्राणों की रक्षा भी की जा रही है तो इसलिए कि यह उस प्रभु की असीम की धरोहर है।[२] यही क्यों श्री वियोगी हरि तो ससीम में ही असीम की अनुभूति करते हैं और आनन्दमग्न होते हैं।[३] श्रीमती दिनेशनन्दिनी ससीम को असीम के आनन्द का साधन मानती हैं और कहती हैं कि ससीम के दर्पण में ही असीम अपना रूप और यौवन देखता है। ससीम की पुस्तक में ही असीम ने अपनी वंश-परम्परा और जीवनी अंकित की है, ससीम की रचना करना और मिटाना ही असीम का आनन्द है।[४]

द्वितीय प्रकार की भावना में ससीमता का अर्थ जड़ता मानकर उसका तिरस्कार किया गया है और अनुभूति के सत्यमय और ज्ञानमय होने को ही अर्थात् ससीम के असीम में लय होने को ही सर्वस्व माना गया है।[५] इस भावना में यह संकोच और आत्मग्लानि होती है कि जीवन-सरिता बहकर अभी उस समुद्र के गर्भ में नहीं पहुँच सकी जिसके लिए वह बहती है, क्योंकि जीवन-सरिता की स्मृतियाँ और अनन्त सागर की कल्पनाएँ दोनों की निकली हुई स्वर-लहरियाँ एक सुखद संगीतात्मक छन्द की रचना कर दें तब समझो कि साधना पूरी हुई।[६]

३. जन्म, मरण और अमरत्व—जब तक मनुष्य जन्म और मरण के बन्धन में बँधा रहता है तब तक निरन्तर इसी संसार में उसका आवागमन होता रहता है। श्री रायकृष्णदास ने बार-बार जन्म लेने और मरने को सरलता से कुटी बनाने और उसके बरसात में बह जाने की उपमा दी है और इस प्रकार निरन्तर जन्म-जन्म में अशान्त रहने की ओर संकेत किया है। गहरी नींव देकर प्रासाद बनाने को उन्होंने अमरत्व का प्रतीक माना है। साथ ही यह भी बताया है कि घोर संकट और अशान्ति के बीच ही अर्थात् जन्म और मरण के प्रहारों द्वारा ही शान्ति अर्थात् अमरत्व का लाभ होता है। इस प्रकार जो अमरत्व मिलेगा—इतने प्रयत्न से जो प्रासाद बनेगा उसे प्रकृति या सांसारिक माया नष्ट-भ्रष्ट न कर सकेगी।[७] श्री भँवरमल सिंघी ने लिखा है कि यदि वे तपस्वी अर्थात् अमरत्वाभिलाषी होते तो उस मन्त्र की साधना करते जिससे जीवन का धूमकेतु

---

१. 'साधना', पृष्ठ ३२।
२. वही, पृष्ठ ३५।
३. 'तरंगिणी', पृष्ठ ६।
४. 'शबनम', पृष्ठ ४०।
५. 'वेदना', पृष्ठ ६।
६. वही, पृष्ठ ४५।
७. 'साधना', पृ० ११।

अस्त होना भूल जाता।[1] श्रीमती दिनेशनन्दिनी ने कहा है कि आत्मा रूपी बुलबुल इस जन्म-मरण रूपी पिंजरे में बन्द है और विधाता-रूपी सैयाद ने उसके पर कतर दिए, जिससे उसमें उड़ने की सामर्थ्य नहीं रही। वह पगली बाहर से मिलने को पंख फैलाती है, पर कटे हुए पंखों से ऊपर उठने में अपने को असमर्थ पाती है।[2] इस अवस्था में निरन्तर जीवन का भक्ष्य लेने वाली भूखी मृत्यु को हृदय का उष्ण रक्त पिलाकर वे उसे सदा को सुला देने के लिए तैयार हैं, यदि एक बार वह अमरता का केन्द्र-बिन्दु मिल जाए। उस अमर प्रियतम को प्राप्त करना ही अमरत्व पाना है।[3]

४. अज्ञात के प्रति आकर्षण और समर्पण—आज तक किसी ने उस रूप-हीन अज्ञात् को चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा। सहस्राब्दियों से साधक अपने को उसके लिए मिटाते आ रहे हैं, उसके लिए अपना सर्वस्व समर्पण करते आ रहे हैं। श्री भँवरमल सिंघी ने लिखा है कि तुम तो अज्ञात ही हो, पर मैंने अपने अरमान तुम्हारे मार्ग में बिछा दिए हैं।[4] प्रणय-पिपासु के लिए उनकी सम्मति है कि अपने अश्रुओं की गर्म धारा को किसी अज्ञात किनारे से सागर की लहरों को दे दे और हास्य की पीड़ा के जल में बुझा दे।[5] श्री वियोगी हरि प्रार्थना के स्वरों में पुकार उठते हैं कि हे अज्ञात मनमोहन! इस निर्जन और नीरव वन में अब मुझे भय लगता है। तुम्हारे बिना तब तक मैं अकेली खड़ी क्या करूँ?[6] श्रीमती दिनेशनन्दिनी केवल इसीलिए नहीं फूली समातीं कि वह देवता परोक्ष में उनकी पूजा स्वीकार करता रहा और वे उसकी क्षणिक झलक के लिए सर्वस्व समर्पण को तैयार रहीं।[7] वह प्रभु पर्दानशीन होने पर भी हिरण्यगर्भ बिन्दु है, जिसका गोलाकार अखिल ब्रह्माण्ड है। ऐसे अज्ञात के प्रति आत्म-समर्पण से गद्य-काव्य भरे पड़े हैं।

५. संसार और उसकी स्थिति—संसार को मुख्यतः दो रूपों में लिया गया है—एक उसे मायामय और क्षणभंगुर रूप में और दूसरा उसे परमात्मा की अभिव्यक्ति के रूप में। पहले रूप में उसके प्रति घृणा व्यक्त की गई है और प्रभु-प्राप्ति में उसे बाधक माना गया है। श्रीमती दिनेशनन्दिनी ने उसे तृष्णा का तप्त मरुस्थल[8] और माया का लाक्षागृह[9] कहा है। श्री नोखेलाल शर्मा उसे मायाजाल[10] कहते हैं तो श्री शान्तिप्रसाद वर्मा उसे झूठा संगीत[11] कहकर पुकारते हैं। श्री रघुवरनारायणसिंह संसार को असत्य

१. 'वेदना', पृ० ६०।
२. 'शबनम', पृ० ७४।
३. 'मौक्तिक माल', पृ० २८।
४. 'वेदना', पृ० ७३।
५. वही, पृ० ८५।
६. 'तरंगिणी', पृ० ७७।
७. 'शारदीया', पृ० ८२।
८. 'मौक्तिक माल', पृष्ठ ७।
९. 'शारदीया', पृष्ठ २०।
१०. 'मणिमाला', पृष्ठ २६।
११. 'चित्रपट', पृष्ठ २७।

मानते हैं और ब्रह्म को सत्य।[१]

दूसरे रूप में वह परमात्मा की अभिव्यक्ति माना गया है। श्री रायकृष्णदास का कहना है कि यदि ब्रह्म सब जगह है तो संसार में भी है, इसलिए वह माया नहीं। यदि माया हो भी तो उससे बाहर जाने का मार्ग नहीं। इतना ही नहीं, भगवान् स्वयं जिस संसार का माली है उसे माया कहने वाला स्वयं जड़ जगत् में बद्ध है।[२] वे तो संसार को कल्पवृक्ष तक कह उठते हैं।[३] श्री वियोगी हरि संसार को इसलिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि उससे मुक्ति की इच्छा जगी।[४]

एक तीसरा रूप और भी है, जिसके रूप में संसार का ग्रहण हुआ है। इस रूप में संसार का सुख दुःखमय है। मनुष्य को इन दोनों वृत्तियों का अनुभव निरन्तर होता रहता है, जिससे जीवन के प्रति उसकी रुचि बनी रहती है। श्री रायकृष्णदास ने 'पागल पथिक' गद्य-काव्य में यही भावना व्यक्त की है।[५] श्री द्वारिकाधीश मिहिर ने भी संसार को एक उद्यान मानकर उसमें फूल और काँटों की स्थिति स्वीकार करके उसकी सुख-दुःखात्मक स्थिति पर विचार प्रकट किए हैं।[६]

एक चौथा रूप और हो सकता है, जिसमें विश्व एक रंग-बिरंगा खिलौना माना गया है, जिसे प्रभु-रूपी पिता अपने पुत्र-रूपी मानव के हाथों में उसे बहलाने के लिए देता है और उसको छीन लेने का अर्थ है प्रभु द्वारा मनुष्य को अपनाना।[७] श्री वियोगी हरि ने उसे जो सराय[८] माना, वह भी इसीलिए कि गन्तव्य और कोई है।

६. **'उस पार' या 'उस लोक' की कल्पना**—चिरकाल से हमारी संस्कृति में यह भावना दृढ़ रही है कि संसार में हम दुर्भाग्यवश आ पड़े हैं। यह दुःखमय और नश्वर संसार हमारा घर नहीं है। यह मानवात्मा के लिए परदेश है। 'रहना नहिं देश बिराना है' कहकर कबीर ने इसी विचार को व्यक्त किया है। सन्तों और भक्तों ने माया-मोह से विरक्ति के लिए संसार के प्रति जो यह दृष्टिकोण अपनाया था उसे आज की भाषा में पलायनवाद कहते हैं। इसमें एक ऐसे लोक की कल्पना है, जिसमें संसार में मिलने वाली स्वार्थ और संघर्ष की कटुता का नितान्त अभाव है। उसे सामान्यतः स्वर्ग की कल्पना कहा जाता है। माना यह जाता है कि वहाँ सब प्रकार के सुख हैं। उस लोक तक पहुँचने के लिए हमें संसार-रूपी सागर या संसार रूपी नदी को पार करना आवश्यक है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में 'उस पार' या 'उस लोक' के लिए लेखकों में बड़ी उत्कट लालसा मिली है। श्री चतुरसेन शास्त्री अपना घर उस पार मानते हैं और बीच में यह धारा (संसार)

---

१. 'हृदय तरंग', पृष्ठ ६७।
२. 'साधना', पृष्ठ २१।
३. वही, पृष्ठ २१।
४. 'तरंगिणी', पृष्ठ ३२।
५. 'साधना', पृष्ठ ९८।
६. 'चरणामृत', पृष्ठ ५८।
७. 'साधना', पृष्ठ १८।
८. 'भावना', पृष्ठ ४०।

है, जिसे पार करके उसे सब प्रकार के सुख-साधन के देश में पहुँचना है।[१] श्री शान्ति-प्रसाद वर्मा की आत्मा 'दूर की वस्तुओं' के लिए प्यासी है और धुँधले, सुदूर क्षितिज का कोई अज्ञात छोर छूना चाहती है।[२] श्री नोखेलाल शर्मा 'अनन्त जीवन के तट पर' खड़े होकर अनुभव करते हैं कि वह (प्रियतम) तरंग-हस्तों से उन्हें उस पार बुला रहा है।[३] वे यहाँ इसलिए नहीं आए कि इस सागर के तट पर उजली सीपियों को एकत्र करते रहें या इस हाट (संसार) में हीरे (आत्मत्व) के बदले चमकते हुए पत्थर (सांसारिक आकर्षण) खरीदते रहें; क्योंकि उनके जीवन का आदर्श वह अन्तिम स्थान है जिस ओर उनका जीवन अनायास बहता जा रहा है।[४] श्री रघुवरनारायणसिंह जीवन की अनन्त की ओर प्रगति को ही 'उस ओर' कहकर पुकारते हैं।[५] श्री वियोगी हरि संसार की स्वार्थपरता से ऊबकर उस लोक की ओर चलने का निश्चय करते हैं जहाँ प्रेम और निश्छलता का वातावरण है।[६] उस लोक में सहज स्वतंत्रता अपनी स्वर्गीय सुषमा के साथ निवासित है।[७] वे माँझी से अपनी नाव 'उस पार' पहुँचाने की प्रार्थना भी इसीलिए करते हैं कि उस पार वाले भी बाँसुरी सुन सकें।[८] श्रीमती दिनेशनन्दिनी अपनी नाव 'हास्य-रुदन' के परे वाले लोक में घुमाती दिखाई देती हैं।[९] उनका वह लोक 'सात समन्दर पार मरकत द्वीप' में है।[१०] उस 'स्वर्णिम द्वीप' में सदा वसन्त विराजता है।[११] वे अपने प्रेमी से 'उस पार' के 'उस लोक' में चलने का अनुरोध करती हैं, जहाँ दुःख का नाम नहीं है।[१२] वे मेघ-यान पर चढ़कर विश्व की रंग-रँगीली, मनभाती, उछाह-भरी लहरों के उस पार अवश्य जाएँगी।[१३] श्री भँवरमल सिंघी उस वन में जाना चाहते हैं, जहाँ चिरन्तन प्रकाश-वती ज्योति बिखरी है।[१४] श्री ब्रह्मदेव कहते हैं कि इस 'सैकत देश' (संसार) से बहुत दूर पिता का आवास है।[१५] वह 'नीहार का देश' तीव्र दिवा लोक और रजनी की छाया से बहुत दूर है, जहाँ जीवन-पथ की सीमा शेष हो जाती है।[१६]

७. प्रकृति में प्रभु की झलक—प्रकृति में प्रभु की झलक देखना इस युग की

---

१. 'अन्तस्तल', पृष्ठ १६३।
२. 'चित्रपट', पृष्ठ ६१।
३. 'मणिमाला', पृष्ठ ३।
४. वही, पृष्ठ ३ और ७४।
५. 'हृदय तरंग', पृष्ठ ७४।
६. 'तरंगिणी', पृष्ठ ८१।
७. 'वही', पृष्ठ ३२।
८. 'भावना', पृ० ६०-६१।
९. 'शबनम', पृ० ६।
१०. 'मौक्तिक माल', पृ० ७।
११. 'वही', पृ० १३०।
१२. 'शारदीया', पृ० ३१ : ७७।
१३. 'उन्मन', पृ० ६५ : ८५।
१४. 'वेदना', पृ० ७४।
१५. 'निशीथ', पृ० ६।
१६. 'वही', पृ० १०।

विशेषता है। हिन्दी के गद्य-काव्यों में भी प्रकृति के सौन्दर्य में प्रभु की महत्ता के दर्शन करना, उनकी सत्ता का अनुभव करना और उस पर मुग्ध होना ही नहीं, प्रकृति का प्रभु के लिए उत्कण्ठित होना तथा मिलन का साज सजाना भी वर्णित होता है। श्री रायकृष्ण-दास प्रकृति की सुन्दरता से प्रभु की महत्ता का ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।[१] श्री वियोगी हरि समस्त सृष्टि में उसी की व्याप्ति देखते हैं।[२] श्रीमती दिनेशनन्दिनी को कमल, वसन्त और नक्षत्र उस दिव्य लोक की झाँकी कराते हैं।[३] श्री देवदूत विद्यार्थी को भी अपने प्रियतम की झलक प्रकृति में ही मिलती है।[४] श्री शान्तिप्रसाद वर्मा को समस्त प्रकृति के भीतर प्रभु का संकेत मिलता है। उन्हें लगता है जैसे कोई नक्षत्रों द्वारा उन्हें अपनी ओर आने की प्रेरणा दे रहा है।[५] श्री नोखेलाल शर्मा को प्रफुल्ल प्रकृति उत्कण्ठित जान पड़ती है, इसलिए प्रियतम के आने की आशा जागती है।[६] श्री वियोगी हरि को प्रभाव की खिली और सजी-सजाई प्रकृति के कारण वह वेला प्रभु के पदार्पण की वेला जान पड़ती है।[७] श्री ब्रह्मदेव को समस्त प्रकृति प्रभु की प्रतीक्षा और ध्यान में लीन दिखाई पड़ती है।[८] श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने भी प्रकृति को प्रभु के स्वागत में उल्लसित दिखाया है।[९]

८. **जिज्ञासा**—इस समस्त सृष्टि के नियन्ता को जानने की इच्छा किसे नहीं होती? किसके मन में यह भावना नहीं होती कि वह उसे जाने? जिसके लिए पेड़-पौधे अपने पत्ते हिलाकर संकेत करते, विहग-वृन्द चहचहाते और नदी-निर्झर लहराते हैं। श्री भँवरमल सिंघी आश्चर्य-चकित होकर पूछते हैं कि पर्वत-शिखर का गुलाब का फूल, आकाश-दीप और खण्डहर का पत्थर किसकी कहानी कहते हैं।[१०] श्री शान्तिप्रसाद वर्मा को समस्त सृष्टि के सूत्रधार को जानने की अभिलाषा है।[११] कभी-कभी सीधे प्रभु से ही यह प्रश्न किया जाता है कि तुम कौन हो। ऐसे स्थलों पर प्रभु की शक्तिमत्ता, उसकी व्यापकता, उसकी कुशलता की प्रशंसा होती है और उसे अज्ञात कहकर सम्बोधित किया जाता है।[१२] अपने हृदय की झंकार के मूल को जानने की उत्सुकता भी स्वाभाविक होती है।[१३]

---

१. 'साधना', पृ० २१-२३।
२. 'तरंगिणी', पृ० ५३, ५४, ५८।
३. 'शबनम', पृ० १५।
४. 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', पृ० ४८।
५. 'चित्रपट', पृ० ६५।
६. 'मणिमाला', पृ० २७।
७. 'भावना', पृ० १।
८. 'निशीथ', पृ० १०।
९. 'साहित्य देवता', पृ० ११७।
१०. 'वेदना', पृ० ५।
११. 'चित्रपट', पृ० ४३।
१२. वही, पृ० ३३, ६७; और 'शारदीया', पृ० ८८, 'दुपहरिया के फूल', पृ० ३।
१३. 'वेदना', पृ० ५८।

९. खोज और साधक की कठिनाई—जिसके लिए जिज्ञासा होती है उसके लिए खोज भी आरम्भ होती है। ऐसा लगता है कि उसको पाए बिना जीवन व्यर्थ है। होता वह है कि जिसकी खोज की जाती है। वह अपनी ही बहुमूल्य निधि जान पड़ती है और उसके अभाव में बेचैनी होती है। कभी साधक सर्वत्र प्रकृति में उसकी व्याप्ति देखता है और घबराकर प्रभु से ही पूछ उठता है कि तुम्हें कहाँ ढूँढ़ूँ।[१] थोड़ी देर के लिए उसकी झलक मिलती है, पर फिर वही खोज का अनन्त पथ सामने दिखाई देने लगता है और यही आँख-मिचौनी चलती रहती है।[२] खोज के पथ पर चलते-चलते स्वयं खोजने वाला अपने को खोया हुआ अनुभव करता है तब और भी आश्चर्य होता है।[३] बाह्य सृष्टि में और सर्वत्र खोज करने पर भी जब वह नहीं होती तब अपने भीतर ही उसकी प्राप्ति हो जाती है।[४] लेकिन वह सहज ही प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। इसकी खोज में आगे बढ़ने वाले को बार-बार कठिनाई का अनुभव होता है। जीवन-विहंग उस चिदाकाश को छूने की बार-बार चेष्टा करके असमर्थ होकर रह जाता है।[५] उसके द्वार पर पहुँचकर भी जब यह दिखाई देता है कि उसका पट बन्द है तो अन्तिम समय में किंकर्तव्यविमूढ होकर रह जाना पड़ता है।[६] विवश होकर उस छलिया को पुकारना पड़ता है और उसकी क्षमा-शक्ति पर विश्वास कर उसे ही सब-कुछ मानकर सन्तोष करना पड़ता है।[७]

१०. विरह-वेदना—प्रियतम की खोज के मार्ग पर चलते हुए विरह के जो तीव्र दर्शन सहने पड़ते हैं उनकी कोई सीमा नहीं है। विरह-वेदना के कारण रात-दिन चैन नहीं पड़ता। आँखों में एक ज़हरीला नशा होता है और प्राणों में मारक कसक।[८] बिछोह की मृत्यु-मिश्रित हाला में तिरस्कार का विषम हीरक-कण घुला होने से विरही तिल-तिलकर मिटता है।[९] फिर भी प्रियतम के स्वप्नों के सहारे जीने को विवश होना पड़ता है।[१०] कभी-कभी उन्माद की दशा हो जाती है और विरही वायु के झकोरों से ही उसका पता पूछने लगता है।[११] उस निर्मोही की प्रतीक्षा में आरती सजाए या माला पिरोते हुए विरहिणी बैठी रहती है और वह आरती का दीप बुझाने तथा माला के पुष्पों के मुरझाने पर भी नहीं आता, यह भाव हिन्दी-गद्य-काव्यों में प्रचुरता से मिलता है।[१२] प्रियतम

---

१. 'चित्रपट', पृ० ३० ।
२. 'प्रार्थना', पृ० १३ ।
३. 'शबनम', पृ० ६८ ।
४. 'चरणामृत', पृ० ३ ।
५. साधना', पृ० ५२; 'वेदना', पृ० ७८; 'चरणामृत', पृ० ८०; 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', पृ० ८०; 'मणिमाला', पृ० २३ ।
६. 'वेदना', पृ० ५४ ।
७. 'मणिमाला', पृ० ६१ ।
८. 'शबनम', पृ० ५४ ।
९. 'भावना', पृ० २२ ।
१०. 'शारदीया', पृ० ४१ ।
११. 'अन्तस्तल', पृ० १६८ ।
१२. 'साधना', पृ० ७१; 'चित्रपट', पृ० ४; 'जीवन धूलि', पृ० ३२; 'शबनम', पृ० ८३ ।

का आभास भी कभी-कभी होता है, पद-ध्वनि भी सुनाई देती है, पर उससे भेंट नहीं होती।[१] विरह की उस स्थिति का चित्रण भी है, जिसमें मिलने की आशा नहीं रहती।[२]

११. मिलन का उपक्रम और मिलन—प्रियतम से मिलन के उपक्रम में हिन्दी-गद्य-काव्य के लेखकों ने अभिसार का पथ अपनाया है। श्री रायकृष्णदास शब्दों की अँधेरी रात में अभिसार करके प्रिय से मिलने को चल देते हैं और अपरिचित पथ होने पर भी उनके पग सीधे पड़ते हैं।[३] श्री भँवरमल सिंघी श्रृंगार-विधि से अनभिज्ञ होने के कारण प्रिय के यौवनमय सौन्दर्य (जो सूर्य और चन्द्र से सजा है) पर न्योछावर-भर ही सकते हैं।[४] श्री वियोगी हरि एकान्त कक्ष में प्रियतम का ध्यान करने को ही प्रियतम से मिलन की तैयारी समझते हैं।[५]

मिलन बहुधा प्रतीक्षा-रत थकित नयन-साधक को स्वप्न में होता है। उस मिलन में दो बातों का विशेष योग होता है—एक चुम्बन और दूसरा आलिंगन।[६] बहुधा चाँदनी रात में ही यह मिलन होता है और स्थान पुष्पित होता है।[७] कभी-कभी स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओं में भी मिलन का अनुभव होता है—स्वप्न में प्रणय-गान सुनकर और जागृति में उसकी ज्योति देखकर।[८] यह मिलन की प्रेरणा जीवन में सर्वत्र मिलन का क्रम देखकर भी मिलती है। अवनि-अम्बर, यौवन-जरा, जीवन-मृत्यु सभी मिल रहे हैं तो प्रिया और प्रियतम क्यों न मिलें? यह तो महा मिलन की वेला है।[९] जब वह प्रियतम हृदय में प्रवेश करता है तो सर्वत्र आनन्द का प्रकाश हो जाता है। उस मंगल प्रभात में, नव प्रभात में, किरण में, नव-नव आलोक में जीवन और-का-और हो जाता है।[१०] तब अपना कुछ नहीं रह जाता, सब-कुछ उस प्रभु का ही हो जाता है।[११] साधक जो कुछ भी करता है वह उसी प्रियतम का कार्य होता है।

भक्तिपरक रचनाओं के विषय—हम पीछे कह आए हैं कि रहस्योन्मुख प्रेम और भक्तिपूर्ण रचनाओं के बीच सीमा-रेखा खींचना बड़ा कठिन कार्य है। दोनों में अन्तर है तो केवल यह कि रहस्योन्मुख प्रेम में जहाँ प्रेमी-प्रेमिका के रूप में आत्मा-परमात्मा के एकाकार होने की भूमिका को महत्त्व दिया जाता है वहाँ भक्ति में प्रभु की कृपा प्राप्त करना ही, उनका सामीप्य-लाभ करना ही लक्ष्य माना जाता है। यहाँ मुक्ति अथवा

---

१. 'अन्तस्तल', पृ० १५१।
२. 'वंशीरव', पृ० २३।
३. 'साधना', पृ० ४६।
४. 'वेदना', पृ० ३५।
५. 'तरंगिणी', पृ० १६।
६. 'साधना', पृ० ४७, ६६, ७७; 'छाया पथ', पृ० ४६; 'चित्रपट', पृ० ६३; 'तरंगिणी', पृ० ११।
७. 'वेदना', पृ० १५।
८. 'उन्मत्त', पृ० २६।
९. 'प्रवाल', पृ० ५; 'वेदना, पृ० ७७; मणिमाला पृ० ४०।
१०. 'वंशीरव', पृ० १७; 'स्पन्दन', पृ० २२।
११. 'चित्रपट', पृ० ४७।

सांसारिक ऐश्वर्य की वांछा को हेय समझा जाता है। भगवान् के प्रति अहेतुक प्रेम इसका आधार है। उसीसे भक्त उस आनन्द की सहज प्राप्ति कर लेता है, जिसे ज्ञानी साधनों द्वारा भी नहीं प्राप्त कर पाता। ऐसी भक्ति की प्रशंसा श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने इस प्रकार की है—"भक्ति ?—वह तो मुक्ति के माथे की लाली, मुक्ति के सुहाग का सिन्दूर-बिन्दु।' लोकमान्य ने 'गीता-रहस्य' में संन्यासियों पर एक तीर छोड़ा है—'संन्यासी होने पर मनुष्य को मोक्ष का लालच तो रहता ही है।' विनोबा ठीक कहते हैं कि यह तीर भक्तों के सम्मुख नहीं ठहरेगा। तुका और तुलसी, सूर और मीरा ने लालच को ही संन्यास देकर घर छोड़ा था, तब फिर उनके पास कौन-सा लालच रह जाता—लालच छोड़ने के लालच के सिवा ? भक्ति की 'भाजी बिन लौन' के सामने 'मुक्ति की महमानी' का मूल्य ही कितना ?

वृन्दावन के राजा हैं दोउ श्याम राधिका रानी।
चारि पदारथ करत मजूरी मुक्ति भरत जहँ पानी॥"[१]

श्री वियोगी हरि ने प्रेम-लक्षणा-भक्ति को ही मधुमय ठहराकर ज्ञान, कर्म और उपासना की हीनता दिखाई है। वे ज्ञान को आत्म-विकास की प्रेरणा, कर्म को सत्ता की एक अनुकूल संवेदना और अव्यक्त उपासना को आत्मा की एक उत्कृष्ट धारणा भर मानते हैं।[२] इसीलिए वे प्रभु से यह वरदान माँगते हैं कि भावुक जन हंसों के समान उनके प्रेम-सरोवर में क्रीड़ा करते रहें और उनकी भक्ति भागीरथी ज्ञान की मरुभूमि को सदा सींचती रहे।[३] ऐसी अमूल्य निधि के लिए भक्त अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार रहते हैं। अब हम भक्तों के भगवान् के स्वरूप पर विचार करेंगे और देखेंगे कि वह रहस्योन्मुख प्रेम के अज्ञात आलम्बन से किस रूप में भिन्न होता है।

भगवान् का स्वरूप—वह निर्गुण निराकार भक्तों के लिए सगुण साकार होता है।[४] वह विराट् और महान् है। चन्द्र-सूर्य उसके नेत्र हैं। मेघ उसके केश हैं, तारे मुकुट से जड़े हीरे! सारे लोक उसके सभासद् हैं, वायु उसका चँवर डुलाता है, खगवृन्द साँझ-सवेरे विरुदावली गाते हैं, न्याय उसकी छड़ी, प्रेम उसका मन और आनन्द उसकी आत्मा है। उसकी आँखों का खुलना सृष्टि और मुँदना प्रलय है।[५] वह बल, पौरुष और सौन्दर्य में वृन्दारकों-सा दिव्य है।[६] अति महान् संसार-सागर भी उसके पद-युगल पखारने में समर्थ नहीं हैं।[७] वह सत्य और झूठ से परे है, पाप-पुण्य की सीमा में नहीं आता, काल की सीमा में नहीं बँधता।[८]

---

१. 'साहित्य देवता', पृ० १२।
२. 'भावना', पृ० ५६।
३. 'वही', पृष्ठ ६३।
४. 'तरंगिणी', पृष्ठ ३३; 'साधना', पृष्ठ १०१, 'मणिमाला', पृष्ठ ५३।
५. 'मौक्तिक माल', पृष्ठ ७२।
६. 'उन्मुक्ति', पृष्ठ ५५।
७. 'मौक्तिक माल', पृष्ठ १६।
८. 'वेदना', पृष्ठ ४६।

भगवान् का स्वभाव—भगवान् के स्वभा की सबसे बड़ी विशेषता है उनका करुणामय होना। उसके कारुणामृत की दो बूँदें समस्त असन्तोष और वेदना को दूर करने में समर्थ हैं।[१] जड़ और चेतन में उसकी कृपा का प्रसार दिखाई देता है और जीवों के कृतघ्न होने पर भी उसके इस करुणामय स्वभाव में अन्तर नहीं आता।[२] उसने बादल, समुद्र, खेत, उपवन आदि प्रकृति की ऐसी चीज़ें दी हैं, जो मनुष्य के समस्त कष्टों को हर लेती हैं।[३] उसकी करुणा ऐसी पवित्र और सरस सरिता है, जो त्रितापनाशिनी और निराशा को आशा में परिवर्तित कर देने वाली है।[४]

भक्त-वत्सलता उनके स्वभाव का दूसरा गुण है। जब कभी भक्त निराश होकर व्यथित होने लगता है तभी वह 'पाँव-पियादे' भक्त की ओर दौड़ता है और उसका सारा क्लेश हर लेता है।[५] वह स्वयं भक्तों की चिन्ता करता है और उनके लिए विकल रहता है।[६] सबसे बड़ी बात यह है कि वे अपने भक्त का अपमान नहीं देख सकते और भक्त की भावना के पुजारी हैं।[७]

उनके स्वभाव की तीसरी विशेषता यह है कि वे प्रेम के भूखे हैं। ऐश्वर्य और आडम्बर से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। बात यह है कि बाह्य सज-धज से मनुष्य का वह रूप, जो परमात्मा का दिया हुआ है, विकृत हो जाता है इसलिए परमात्मा के मिलन का मार्ग आडम्बरहीन जीवन में है।[८] ज्ञान और उपासना भी आडम्बर है, क्योंकि ज्ञान में अभिमान है और उपासना में प्रदर्शन; इसलिए संतप्त-हृदय के भक्त की पुकार भगवान् को विशेष रूप से प्रभावित करती हैं।[९] इसलिए प्रभु से मिलन के लिए बीच के झूठे आवरणों को निरर्थक समझकर छोड़ देना चाहिए।[१०]

भगवान् के स्वभाव की चौथी विशेषता है उनका पतित पावन होना। अनादि काल से पापियों के उद्धार का कार्य करते-करते प्रभु थकते नहीं और उनमें इतनी शक्ति है कि वे नरक को भी स्वर्ग बना देते हैं।[११] घोर-से-घोर संकट में भक्त की सहायता के लिए उसके पास रहते हैं।[१२] जिस मृग-मरीचिका में भक्त पड़ा है उससे वही छुड़ा सकते हैं।[१३]

---

१. 'मणिमाला', पृष्ठ ४१, ४२।
२. 'तरंगिणी', पृष्ठ ६।
३. 'भावना', पृष्ठ ५।
४. 'साधना', पृष्ठ ७२, ७४।
५. 'मणिमाला', पृष्ठ ६४।
६. 'चरणामृत', पृष्ठ ७५-७६।
७. 'चित्रपट', पृष्ठ ६, ७।
८. 'वेदना', २८-२९; 'शबनम', २५, मौक्तिक माल १२; 'उन्मुक्ति', २५; 'प्रार्थना', २६, ३१।
९. 'भावना'; ७६, 'शबनम', २३।
१०. 'छाया पथ', ७२।
११. 'चरणामृत', ५९।
१२. 'साधना', १००।
१३. 'गीतांजलि', ११वाँ गीत।

दीनों से प्रेम करने में परमात्मा की प्राप्ति उनके स्वभाव की पाँचवीं विशेषता है। कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' में इस भावना को सबसे पहले स्थान मिला, जिसके फलस्वरूप हिन्दी के गद्य-काव्य-लेखकों में से लगभग प्रत्येक ने उसको अपनाया। रवि बाबू ने लिखा है कि वह 'प्रभु' तो कठिन भूमि में हल चलाते हुए किसान और पत्थर तोड़ते हुए सड़क बनाने वाले श्रमिक के साथ हैं। उसके वस्त्र धूल से भर गए हैं, धूप और वर्षा की भी उसे चिन्ता नहीं। तू अपने पवित्र वस्त्रों को उतार डाल और उसी भाँति धूलि-भूमि में उतर आ![1] हमारे यहाँ बिलकुल यही शब्दावली प्रयुक्त हुई। श्री वियोगी हरि स्वयं कहते हैं कि मैं करुणा-क्रन्दन करने वालों का साथ देने को पैदा हुआ हूँ, अमीरों का नहीं। मुझे वहीं रहने दो। कारण प्रभु भी प्रकृति और दीन-दुखियों में मिलेंगे। श्री नोखेलाल शर्मा ने प्रभु को उन्हीं दुखियों की खोज में लीन बताया है, जो संसार की घृणा के पात्र हैं।[2] श्रीमती दिनेशनन्दिनी ने भी ईश्वर की दीनबन्धुता की ओर संकेत करते हुए भंगी की सफाई को मन्दिर की पूजा से अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि उन्हें पहले का कार्य पसन्द है। उनका स्वभाव ही दुखियों को अपनाना है।[3]

भक्त और भगवान् का सम्बन्ध—हिन्दी के गद्य-काव्यों में जहाँ कहीं भक्ति-भाव में विभोर होकर भक्त ने अपने तादात्म्य का प्रदर्शन किया है और संसार से निराश होकर प्रभु की शरण चाही है, वहाँ उसने स्वामी के रूप में उसका स्मरण किया है।[4] माता के रूप में भी उस शक्ति-सामर्थ्यवान का स्मरण किया गया है।[5] सखा के रूप में तो भगवान् से लड़ने-झगड़ने और उपालम्भों की भरमार ही मिलती है।[6] लेकिन एक-मात्र प्रेम का सम्बन्ध ही भक्त को अभिप्रेत है। श्री वियोगी हरि ने एक स्थान पर लिखा है, क्योंकि मुझमें तेरे (प्रभु के) गुण नहीं हैं इसलिए मैं पिता-पुत्र का नाता नहीं निभा सकता। उपकृत होने पर भी कलह करता है, इसलिए भाई का सम्बन्ध नहीं हो सकता। चरणों पर मस्तक नहीं झुकता इसलिए स्वामी और सेवक का सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता। तुम मेरे सर्वस्व हो इसलिए एक प्रेम का ही सम्बन्ध रह सकता है।[7]

प्रभु का प्रेम प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित बातों की ओर हमारे गद्यकाव्यों में संकेत हुआ है—

आत्म-समर्पण—प्रभु को प्राप्त करने के लिए संसार का वैभव भी जब काम नहीं आता तब भक्त को अपने को ही देना पड़ता है।[8] ऐसा करने वाले भक्त के लिए स्वर्ग

१. 'अन्तर्नाद', १०, 'चित्रपट', ८।
२. 'मणिमाला', ३०।
३. 'मौक्तिक माल', ६२; 'उन्मन', ४६; 'स्पन्दन', १०४।
४. 'विनय पत्रिका', १६; पद, ७६।
५. 'साधना', १८, 'चित्रपट', ५१; 'मणिमाल', १७; 'चरणामृत', ५५; 'वेदना', ३६; 'मौक्तिक माल', ११२।
६. 'चित्रपट', ५७; 'प्रवाल', १।
७. 'वेदना', ६१-६२; 'मणिमाला', ६३; 'तरंगिणी', १८; 'भावना', ६२; 'मणिमाला', ८०; 'उन्मुक्ति', ५१, ८०।
८. 'साधना', ३८।

प्रभु ही विनिमय के हेतु प्रस्तुत रहते हैं।[1] स्वयं भक्त जब भगवान् की ओर उन्मुख होता है तो उसकी कामना ही यह होती है कि वह अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों पर निछावर कर दे।[2] वस्तुतः सच्ची पूजा भी आत्म-समर्पण में होती है।[3] कभी-कभी तो भक्त मौज में आकर प्रभु को अपना भिखारी भी कह उठता है और इस प्रकार अपनी जीवन-भर की कमाई उसे दान में दे देता है।[4] आत्म-समर्पण ही अमरत्व और जीवन का चरम आनन्द है।[5]

अनन्यता—भक्त की धारणा होती है कि सबके साथ छोड़ देने पर भी प्रभु साथ रहता है। इसलिए वह उससे बराबर सम्पर्क रखना चाहता है।[6] यह है भी ठीक, क्योंकि जहाँ प्रभु है वहीं सब-कुछ है।[7] प्रीति यदि लता है तो प्रभु तमाल, वह यदि चाह-भरी चातकी है तो प्रभु घन, वह यदि तड़पती हुई मछली है तो प्रभु स्वच्छ सरोवर, वह यदि चंचला चकोरी है तो प्रभु पूर्ण चन्द्र, वह यदि सरल सरिता है तो प्रभु महा सागर, वह यदि अस्थिरा चपला है तो वह कृष्ण वारिद। इस प्रकार दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[8] इस अनन्यता के कारण ही भक्त मुक्ति का तिरस्कार करता है तो प्रभु के हाथ से जीवन के बन्धन में बँधने में गौरव अनुभव करता है।[9] प्रभु को समर्पण कर देने पर सृष्टि के समस्त आकर्षण फीके जान पड़ते हैं।[10]

दैन्य-प्रदर्शन—प्रभु को अहंकार अच्छा नहीं लगता। इसलिए उनकी प्रसन्नता के लिए भक्त को दैन्य-प्रदर्शन करना पड़ता है। वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि वासना, प्रलोभन और दुर्भावना से घिरा होने के कारण वह प्रभु की गोद में विश्राम करने को लालायित है।[11] वह प्रभु के मार्ग में पद-दलित होने के लिए पड़ जाता है ताकि वह उसे कुचलकर सार्थक कर दें और उसकी ओर सजल दृष्टि से देखकर उसे शीतल कर दें।[12] निराश होकर वह चिल्ला उठता है कि क्या उसकी करुण पुकार व्यर्थ जाएगी, क्या वह यों ही मर जाएगा।[13] दैन्य-प्रदर्शन के साथ-साथ अभावों का भी उल्लेख बार-बार होता है।[14] अभावों के कारण प्रभु की प्रतीक्षा करने की प्रेरणा भी मिलती है और मिलन की

१. 'साधना', ५६।
२. 'निशीथ', ४।
३. 'मणिमाला', ६१।
४. 'तरंगिणी', २५।
५. 'चरणामृत', ६७; 'उन्मुक्ति', २६, ७६; 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', ६४; 'मौक्तिक माल', २७।
६. 'साधना', ३६; छायापथ ३०।
७. 'प्रार्थना' २; 'तरंगिणी', २२।
८. 'भावना', ३।
९. वही, ५४।
१०. 'शबनम', ३१।
११. 'चित्रपट', १०६।
१२. 'साधना', १८।
१३. 'चित्रपट', ५१।
१४. 'चरणामृत', २४, २५।

भूमि तैयार होती है इसलिए भी उनकी चर्चा होती है।[1]

अपने पापों की स्वीकृति—प्रभु के निकट जाते हुए भक्त को पग-पग पर शंका होती है कि वे कहीं उसे ठुकरा न दें, इसलिए वह अपनी बुराइयों को एक-एक करके प्रभु के समक्ष रखता चलता है।[2] वह बताता है कि मेरी कथनी और करनी में बड़ा भेद है, मैं दम्भी हूँ, मैं कुटिल हूँ।[3] मैं अपदार्थ हूँ और बुराई को अच्छाई समझकर अपना जीवन नष्ट कर रहा हूँ।[4] ऐसा कहकर वह प्रभु की शरण में जाता है और अपनी भूलों पर प्रायश्चित्त करने का वचन देता है।[5] यही नहीं, अपराधों के लिए दण्ड को भी प्रस्तुत हो जाता है।[6]

वरदान माँगना—भक्त भगवान् से वरदान माँगने के लिए सदैव तत्पर रहता है। वरदान में वह कोई इहलौकिक सुख की समग्री नहीं चाहता। वह तो एकमात्र यही इच्छा प्रकट करता है कि उसका जीवन प्रभुमय हो जाए। उसकी जीवन-वीणा से प्रभु का संदेश झंकृत हो। उसके शरीर, मन और आत्मा में प्रभु के स्नेह-दीप से नई ज्योति जाग्रत हो जाए।[7] वह चाहता है कि उसको अपनी बुराइयों से बल मिले, झूठे सांसारिक आकर्षणों से विरक्ति हो जाए और समत्व-बुद्धि की भावना के संचार से वह दुःख में भी सुख का अनुभव कर सके।[8] प्रभु से यह चाहता है कि प्रभु का सामीप्य उसे मिलता रहे, जिससे वह प्रभु चरणामृतपूर्ण अमर प्याला पीता रहे।[9] उसकी आकांक्षा रहती है कि वह घृणित जीवों और दुखियों को सुख पहुँचाने, निर्बलों का साथ देने, नीचों को ऊँचा उठाने, दरिद्रों की सेवा करने, पराधीनों को स्वाधीन बनाने में समर्थ हो सके।[10] कभी-कभी भक्त ऐसी विचित्र माँग भी रखता है, जिसमें वह तो सबको प्रेम करता रहे और दूसरे उसे ठुकराते रहें।[11] ऐसे भी भक्त-हृदय हैं जो अपने लिए कुछ न माँगकर भगवान् से यही प्रार्थना करते हैं कि वे गरीबों की प्रार्थना सुनकर उनका उद्धार करें।[12]

उपालम्भ—भक्त प्रभु की ओर उन्मुख होता है, यह सोचकर कि उसे पापों और क्लेशों से छुटकारा मिल जाएगा, उस पर प्रभु की कृपा के अमृत की वर्षा हो जाएगी और उसका जन्म-जन्मान्तर का सन्ताप मिट जाएगा। लेकिन ऐसा नहीं होता तो भक्त को क्रोध आता है और भगवान् को बुरा-भला कह डालता है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में

---

१. 'वेदना', ५६; 'साधना', ६४।
२. 'मणिमाला', ५६।
३. 'प्रार्थना', १०, १८, १६, २६।
४. 'भावना', २८, ५८।
५. 'प्रार्थना', २१।
६. 'शबनम', ११।
७. 'चित्रपट', २६, ५६; 'वेदना', १२; 'तरंगिणी', १।
८. 'मणिमाल', १८, ४८, ७७।
६. 'चरणामृत', २२।
१०. 'साधना', पृ० २२।
११. 'प्रार्थना', ६।
१२. 'भग्नदूत', १२५।

उपालम्भ बहुत मिलते हैं। एक भक्त ने संसार का सुख छोड़कर प्रभु से प्रेम किया, पर प्रभु ने उसके साथ नाता नहीं निभाया तो खीझकर कहने लगा कि दयानिधि कहलाकर भी तुमने मुझे संसार-सुख से वंचित करने की निष्ठुरता क्यों की ?[१] एक कहते हैं कि मेरे रोने पर ध्यान देकर इतने क्षुब्ध क्यों होते हो ? जब अपनाना ही नहीं था तो यह ढोंग क्यों किया ? एक तो प्रभु की निठुराई देखकर स्पष्ट रूप से कह देते हैं कि भविष्य में कभी मेरे दुःख को दूर करने का प्रयत्न न करना, अब मेरा निश्चय है कि मैं अपना दुःख स्वयं भोगूँगा। कारण इतने दिन हो गए, पर कभी मिला ही नहीं।[२] एक से कुछ और नहीं बन पड़ता तो प्रभु की स्मृति को ही कोसने लगता है और गोपियों, सूरदास तथा मीरा के साथ की गई निष्ठुरता की ओर संकेत करके केवल न जाने कैसे हो, कहकर ही रह जाता है।[३] यह उपालम्भ भक्तिभावनापूर्ण गद्य-काव्यों का एक महत्त्वपूर्ण अंश है।

सेवा और पूजा—नवधा भक्ति के श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वन्दन, दासत्व, मित्रत्व और आत्म-निवेदन ये ९ अंग माने जाते हैं। इनमें से चरण-सेवा और पूजा का महत्त्व हिन्दी-गद्य-काव्यों में विशेष है। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति की अपेक्षा भगवान् की सेवा में ही भक्त को आनन्द आता है और वह प्रभु के चरण-कमलों में भ्रमर अथवा केतकी, रज में करिवर की भाँति लीन रहना चाहता है।[४] कभी भक्त को ऐसा लगता है कि पुष्पमालाओं से प्रभु का सौन्दर्य दब जाता है, इसलिए सूने हाथों ही उसकी पूजा में पहुँच जाय।[५] कभी वह समस्त इन्द्रियों को प्रभुमय करके ही पूजा-कर्म पूर्ण करना चाहता है। आँखों से प्रभु के दिव्य आनन की छटा देखना, कानों से उनका गुण-गान सुनना, जिह्वा से उनका नामोच्चारण करना, हाथ से प्रभु के लिए माला गूँथना ही उसकी पूजा हो जाती है।[६] लेकिन प्रभु का शृंगार किये बिना भक्त को तृप्ति नहीं होती। जैसे कभी-कभी एक ही रंग के वस्त्र मनुष्य पहनता है वैसे ही भक्त अपने प्रभु का केवल आम्र-मंजरी से शृंगार करना चाहता है। मुकुट में, हाथों में, वनमाला में, पादपों में वह मंजरियाँ ही सजाना चाहता है।[७] पूजा के समय वह अपने ताप से प्रिय को दुखी न करने का निश्चय करता है और जल से प्रियतम के पदारविन्द धोता है। उसे सन्तोष है कि उसने प्रियतम को दुखी नहीं किया।

भक्ति के अन्य अंगों में आत्म-निवेदन की प्रमुखता गद्य-काव्यों की विशेषता है। यह आत्म-निवेदन 'आत्म-समर्पण' वाले शीर्षक में आ गया है। सख्य भाव की झलक भी स्थान-स्थान पर दिखाई देती है। एक स्थान पर तो भक्त स्पष्ट कह देता है कि तुमसे मेरी एक लड़ाई है। तुम अपने को बड़ा दानी, महान्, सौन्दर्यशाली, पूज्य क्यों कहलाते हो।

---

१. 'साधना', ४४।
२. 'वेदना', ८३, ८८।
३. 'मणिमाला', ८।
४. 'भावना', २४, ६२।
५. 'साधना', ११, ६१; 'मौक्तिक माल', ११३; 'दुपहरिया के फूल', ६।
६. 'तरंगिणी', ८।
७. 'भावना', ४६।

तुम्हारे इन्हीं गुणों में से छोटा, भिखारी, खुशामदी, रूपलोभी और पुजारी बनता हूँ।[१] एक कहते हैं कि मैं तुम्हें न जाने दूँगा। तुम्हारे आत्यंतिक विरह से वासना को नष्ट करके समता की साधना करूँगा और प्रेम की माला से बाँध लूँगा।[२]

नाम-स्मरण, कीर्तन और ध्यान तो क्षण-भर भी नहीं भूलता। नाम को वाङ्मय मानकर उसमें वेद, शास्त्र, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, इतिहास, काव्य आदि सबका समावेश माना गया है।[३] रात-दिन उसी नाम का कीर्तन और प्रभु की मूर्ति का ध्यान भक्त की दिनचर्या होती है।[४]

लौकिक प्रेम की रचनाओं के विषय—लौकिक प्रेम की रचनाओं के विषय का विवेचन करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि इनमें आलम्बन का स्वरूप क्या रखा गया है। स्थूल रूप से देखा जाए तो तीन प्रकार से इनमें प्रेम की व्यंजना की गई है :

१. स्त्री को आलम्बन मानकर उसके प्रति पुरुष-लेखकों द्वारा की गई प्रेम की व्यंजना।
२. पुरुष को आलम्बन मानकर उसके प्रति स्त्री-लेखिकाओं द्वारा की गई प्रेम की व्यंजना।
३. आलम्बन स्त्री होते हुए भी उसे पुरुष-रूप में सम्बोधित करके पुरुष-लेखकों द्वारा की गई प्रेम की व्यंजना।

पहले प्रकार के गद्य काव्यों की संख्या सबसे अधिक है। 'उद्भ्रांत प्रेम' की परंपरा में आनेवाली सर्वश्री ब्रजनन्दन सहाय की 'सौन्दर्योपासक'; राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की 'नवजीवन या प्रेम लहरी'; मोहनलाल महतो 'वियोगी' की 'धुँधले चित्र'; लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' की 'वियोग' आदि पुस्तकें तो इस वर्ग में आती ही हैं; विश्वम्भर 'मानव'; की 'अभाव', शिवचन्द्र नागर की 'प्रणय-गीत'; रजनीश की 'आराधना' आदि छायावादी परम्परा की रचनाएँ भी ऐसी ही हैं। दूसरे प्रकार की रचनाओं का प्रतिनिधित्व श्रीमती दिनेशनन्दिनी ने किया है। उनकी 'शबनम', 'मौक्तिक माल', 'शारदीया' 'दुपहरिया के फूल', 'वंशी रव', 'उन्मन' और 'स्पन्दन' सभी गद्य-काव्य-कृतियों में पुरुषों को ही आलम्बन माना गया है। इस परम्परा में आने वाली कृतियाँ हैं स्वर्गीय रामेश्वरी गोयल की 'जीवन का सपना'; स्नेहलता शर्मा की 'विषाद' और शकुन्तला कुमारी 'रेणु' की 'उन्मुक्ति'। तीसरे प्रकार की रचनाओं में सर्वश्री रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी' की 'शुभ्रा'; राजकुमार रघुवीरसिंह की 'जीवन धूलि'; वृन्दावन लाल वर्मा की 'हिलोर' आदि। एक चौथे प्रकार की रचनाएँ वे भी हैं, जिनमें प्रेम की व्यंजना में स्त्री और पुरुष दोनों को ही आलम्बन बनाया गया हैं। लेखक भले ही स्त्री हो या पुरुष। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है श्री अज्ञेय की 'चिन्ता'। उसके पूर्वार्द्ध में अज्ञेयजी ने पुरुष द्वारा नारी के प्रति प्रेम-भाव की व्यंजना की है, और उत्तरार्द्ध में नारी द्वारा पुरुष के प्रति। अन्य

---

१. 'वेदना', पृष्ठ ६२।
२. 'तरंगिणी', पृ० २।
३. 'भावना', पृ० ६१।
४. 'शबनम', पृ० १७।

लेखकों में भी ऐसा हुआ है कि पुरुष कभी स्त्री का रूप लेकर या स्त्री पुरुष का रूप लेकर प्रेम-भाव की व्यंजना करते दिखाई देते हैं; लेकिन अन्य लेखकों में ऐसा कम ही हुआ है। अस्तु,

स्वर्गीय पत्नी या प्रिया की स्मृति में लिखी गई रचनाओं के विषय—लौकिक प्रेम के गद्य-काव्यों में आलम्बन के स्वरूप पर विचार करने के बाद हम स्वर्गीया पत्नी या प्रिया की स्मृति में लिखे गए गद्य-काव्यों के विषयों को लेते हैं। इन सब गद्य-काव्यों में पत्नी की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए अपने जीवन को निराश्रित माना जाता है और विलाप किया जाता है। कभी उसके रूप-सौन्दर्य का वर्णन होता है, कभी उसके स्वभाव की विशेषताओं का उल्लेख; कभी उसके प्रभाव का चित्रण होता है, कभी उसके बिना करुण स्थिति का। समाज, राष्ट्र, परिवार में प्रिया की स्थिति से लेकर धर्म और दर्शन की बड़ी-बड़ी गुत्थियाँ सुलझाई जाती हैं। संसार प्रिया की अनुपस्थिति में कैसा लगता है, इस पर बार-बार विचार किया जाता है। जैसा कि कहा जा चुका है 'उद्भ्रान्त प्रेम' की पद्धति ऐसी ही है। हमारे यहाँ 'सौन्दर्योपासक' में नायक अपने विवाह के अवसर पर अपनी साली पर मोहित हो जाता है और उसके विरह में तड़पता हुआ अपनी पत्नी को भूल जाता है। नायक उसके सौंदर्य के कारण उसके प्रति आकर्षण को पाप नहीं समझता।[१] प्रत्युत प्रेम और भक्ति को एक ही समझकर अपने साली के प्रति प्रेम को महत्त्वपूर्ण वस्तु मानता है।[२] यह प्रेम पवित्र प्रेम है, इसकी घोषणा भी की गई है।[३] न केवल नायक वरन् जिससे वह प्रेम करता है वह नायिका (साली) भी प्रेम करना आरम्भ कर देती है, परन्तु अपनी बड़ी बहन की स्थिति को दयनीय नहीं बनाना चाहती, इसलिए वह विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा देती है।[४] दोनों विरह में जलते रहते हैं। कुछ दिन बाद मालती (नायक की साली) की शादी हो जाती है और नायक घोर निराशा में पड़ जाता है। उसकी पत्नी पति की व्यथा में चल बसती है और अन्त में मालती भी राजयक्ष्मा से पीड़ित होकर मृत्यु की गोद में सो जाती है, नायक विलाप करता हुआ अन्त में एक महात्मा द्वारा उपदिष्ट होकर शान्ति प्राप्त करता है।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की पुस्तक 'नव जीवन' या 'प्रेम लहरी' में नायक और नायिका के विवाह, प्रथम मिलन, सुहागरात आदि का वर्णन किया गया है। दोनों के पारस्परिक प्रेमालाप का सजीव चित्र अंकित किया गया है, जिसमें स्थान-स्थान पर उसके सौन्दर्य का वर्णन है। यह मिलन ससुराल में ही हुआ है। नायक अपने घर लौटता है और दूसरे दिन तार से समाचार पाता है कि दुलहिन हार्ट फेल होने से चल बसी। नायक अपनी भतीजी के जन्म से अपनी सुन्दरी पत्नी को भूल जाता है।

श्री लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु' की 'वियोग' पुस्तक बँगला की 'उद्भ्रान्त प्रेम' के जोड़ की है। इसका विषय पत्नी का वियोग है। इसमें लेखक अपने दुःख की करुण

१. 'सौन्दर्योपासक', पृ० २५।
२. वही, पृ० २६।
३. वही, पृ० ६५।
४. वही, पृ० १०८।

अनुभूति को बड़े कौशल से व्यक्त करता है। वह अपनी पत्नी में चन्द्रमा से अधिक आकर्षण, संगीत के संवादक निनाद से अधिक प्रभविष्णुता, प्रकृति से भी अधिक सौन्दर्यशालिनी और वह उसे प्राणों से अधिक प्यार करता था।[१] वह एकान्त में उसके लिए रोता और अश्रुपात करता है और किसी प्रकार उसे नहीं भूल पाता। स्वप्न में उससे मिलन होने पर वह उसके साथ एक मन्दिर में जाता है, परन्तु वह तो मन्दिर का द्वार खोलकर भीतर चली जाती है और लेखक की आँखें खुल जाती हैं।[२] उसे सुख की सब वस्तुओं में दुःख का अनुभव होता है।[३] उसकी मृत्यु पर विचार करके पंचभूतों का दार्शनिक विवेचन करता है और अन्त में यह निष्कर्ष निकालता है कि यदि प्रेमी को प्रेमिका की करुणा प्राप्त नहीं हुई तो उसका जीवन व्यर्थ है।[४]

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' के 'धुंधले चित्र' में यौवनकालीन प्रेम की कहानी कही गई है, जिसमें उसे कुमुदिनी (प्रेमिका) ने यौवन-मदिरा का एक घूंट पिला दिया है। "वह (कुमुदिनी) धवल ज्योति थी, ज्योति की आत्मा थी, वह केवल ज्योति की आत्मा की परामूर्ति थी, वह केवल उस पर रूप की तन्मात्रा थी, वह वह थी, मैं वह था।"[५] प्रेम को ईश्वर का रूप मानकर लेखक प्रेममय और ईश्वरमय होने को एक ही बात बताता है। अपने को एक किशोरी के प्रेम में डालकर वह संसार को भूल जाता है। अचानक उससे बिछोह हो जाता है। उस मिलन-बिछोह की झाँकी उसने इस पुस्तक में दिखाई है।

श्री हृदयनारायण पांडेय की 'मनोव्यथा' नामक छोटी-सी पुस्तक में 'पूर्वार्द्ध' में प्रेमिका द्वारा प्रिय की कठोरता और निर्ममता का और अपने समर्पण का उल्लेख है और उत्तरार्द्ध में प्रिय के प्रेमिका के द्वार पर जाने और तिरस्कृत होने का वर्णन है।

अभी जिन पुस्तकों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार किया है वे सब उपन्यास प्रणाली की रचनाएँ हैं, जिनमें प्रलाप अधिक है। शैली अलंकृत और ज्ञान-विज्ञान विवेचनपूर्ण है। उनमें प्रेमिका और पत्नी दोनों रूपों को लिया गया है।

आधुनिक ढंग के छोटे-छोटे गद्य-काव्यों में मृत पत्नी के सौन्दर्य, स्वभाव और विशेषताओं पर विचार करने वाले श्री चतुरसेन शास्त्री हैं। अपनी 'अन्तस्तल' पुस्तक में 'वह'[६] शीर्षक से उन्होंने विवाह से लेकर मृत्यु तक के अपनी पत्नी के कार्य-कलाप तथा उसके अभाव में अपनी हीनावस्था का चित्र खींचा है। १७ वर्ष तक विवाहित जीवन बिताने के बाद स्वर्ग जाने वाली पत्नी के वियोग में उनका हृदय रो उठा है। अधिकांश गद्य-गीतों का आरम्भ प्रथम मिलन की स्मृति से होता है और अन्त मृत्यु के

---

१. 'वियोग', पृष्ठ २१।
२. वही, पृ० ६५।
३. वही, पृ० ७१।
४. वही, पृ० ११६।
५. 'धुँधले चित्र', पृ० ७२।
६. 'अन्तस्तल', पृ० १, ३।

द्वारा दिए गए घोर सन्ताप से।[१] उसकी मृत्यु के समय की परिस्थिति के चित्र भी कई हैं।[२] उसकी कल्याण-कामना करते-करते भी वह नहीं थकता।[3] वह ऐसे लोक में है, जहाँ भौतिक जीवन की छाया भी नहीं पहुँच सकती।[४] प्रकृति उसके बिना दुखदायी जान पड़ती है।[५] लेखक जीता है तो केवल उसके स्वप्नों के सहारे।[६] उसकी स्मृति में कभी वह उस पथ की धूलि से भी अपने को हेय मानता है जिस पर होकर वह महायात्रा के लिए निकली थी[७] और कभी विकल होकर उसे पुकार उठता है।[८]

आनन्द भिक्षु सरस्वती लिखित 'सपना' भी 'अन्तस्तल' की कोटि की रचना है। यह भी एक ऐसी सती-साध्वी पत्नी के वियोग में लिखी गई रचना है जो २५-२६ वर्ष तक साथ रही थी। इस सम्बन्ध में लेखक ने स्वयं लिखा है—"उसके न रहने पर मेरा हृदय सूख गया। वह गई, मानो मेरे हृदय की हरियाली चली गई।"[९] वह मेरे साथ २५-२६ वर्ष तक रही। उसका-मेरा जो-कुछ और जैसा-कुछ सम्बन्ध रहा, उसके विषय में कुछ कहना व्यर्थ है। उसका मेरा सदा एक हृदय, एक आदर्श और एक ही विचार रहा। मैं और वह दो शरीर मानो एक ही पदार्थ थे।[१०] "विरह क्या है, पीड़ा क्या है? दर्द क्या है? मैं तो इसे विश्व का अमूल्य धन जानता हूँ—सृष्टि की सर्वोत्तम निधि समझता हूँ।"[११] माता का प्रेम, भाई-बहन का प्यार, कितना मीठा, कितना रसीला होता है। यह प्रेम नहीं, अन्तरिक्ष से उतरी हुई पवित्रता की गंगा है, जिसमें भाई-भाई, बहन-बहन, एक-दूसरे को गोते देते, खेलते और प्यार करते हैं, परन्तु पति-पत्नी का प्यार भी एक स्वर्गीय पदार्थ है—मनुष्य को दी हुई ईश्वर की कृपाओं में से एक अपूर्व और महती कृपा है।[१२] भिक्षुजी के लिए पत्नी-वियोग सुधांशुजी अथवा शास्त्रीजी की भाँति उन्माद की सृष्टि करने वाला नहीं है वरन् मातृ-ऋण से उऋण होने, सेवा-व्रत धारण करने और परहित में सर्वस्व निछावर करने की प्रेरणा देने वाला है।[१३]

दूसरे प्रकार के गद्य-काव्य वे हैं, जिनमें आलम्बन प्रेयसी होती है। होता यह है कि इन गद्य-काव्यों में सहसा ही किसी के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। कुछ दिन तक वह प्रेम पल्लवित भी होता है, लेकिन उसके पुष्पित होने के समय प्रेमिका सामाजिक

---

१. 'अन्तस्तल', पृ० ११८, १२०, १३०, १३१, १३८, १५३।
२. वही, पृ० ११२।
३. वही, पृ० १३७।
४. वही, पृ० १३९।
५. वही, पृ० १२६, १४४।
६. वही, पृ० १६२।
७. वही, पृ० १२८।
८. वही, पृ० १५१।
९. 'सपना', ११२।
१०. वही, पृ० १६१।
११. वही, पृ० १६४।
१२. वही, पृ० १४८।
१३. वही, पृ० ८०।

व्यवधान से दूसरे की हो जाती है। प्रेमी इस परिस्थिति में हताश होकर गद्य-काव्यों में अपना हृदय उँडेल देता है। लेकिन वह मर्यादा और सीमा का उल्लंघन नहीं करता। अपने जीवन-व्यापी रुदन का आभास कराना ही उसका ध्येय होता है। हाड़-मांस की प्रेयसी उसके लिए प्रभु का स्थान ग्रहण कर लेती है और पूजा में भी उसका ध्यान बार-बार उसी की ओर चला जाता है। कभी उसका ध्यान भूलता ही नहीं। श्री विश्वम्भर 'मानव' की 'अभाव'; रजनीश की 'आराधना' और शिवचन्द्र नागर की 'प्रणय गीत' पुस्तकें इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति-भाव से पूर्ण उद्‌गार इन लेखकों ने अपनी प्रेयसी के चरणों में चढ़ाए हैं। इनके प्रेम में प्रतिदान की भावना नहीं। प्रेयसी की कल्याण-कामना इनके जीवन का ध्येय है। इनके लिए प्रेयसी ही सर्वस्व है। वह दूर है पर भावना से उसे निकट अनुभव करते हैं। उसकी उपेक्षा या मौन को ये विवशता कहकर सन्तोष कर लेते हैं। कभी-कभी इनके मन में नग्न सौन्दर्य देखने की लालसा जग जाती है।[१] अन्यथा सदैव उसकी महत्ता ही इनके गद्य-काव्यों का आधार होती है और वे अपने जीवन-पात्र के जल से उसके पवित्र चरणों का प्रक्षालन करना ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। श्री रामप्रसाद विद्यार्थी की 'शुभ्रा' तो किसी अतीन्द्रिय लोक की नारी-प्रतिमा है, जिसे उन्होंने पुरुष सम्बोधन ही दिया है। उनकी प्रेयसी किन्हीं सूक्ष्म तत्त्वों से निर्मित है इसीलिए पूर्ण परिचित न होते हुए भी वे उसे अपनी भावनाओं से सम्बद्ध पाते हैं।[२] उनका मिलन स्वप्न में होता है और वह भी अशरीरी।[३] यही कारण है कि एक बार देखकर ही वे अपनी प्रेयसी की वेदना को देख लेते हैं और उसके साथ आत्मीयता का अनुभव करते हैं। वस्तुतः रावीजी का गन्तव्य कोई मधुवन है इसलिए वे अपनी प्रेयसी को उसी लोक की बनाना चाहते हैं।[४] सामान्य स्तर पर वे बात ही नहीं कर पाते।

लेकिन जहाँ उनमें इतनी अशारीरिकता है वहीं उनमें यह भावना भी तीव्र है कि वे केवल मात्र अपनी प्रेयसी के होकर ही नहीं रह सकते। उनकी प्रेयसी विश्वप्रिया है और वे कुछ समय तक ही उसके पास ठहरे हैं।[५] रावी के पुरुष और नारी के इस बन्धन-हीन सम्बन्ध का चरम विकास श्री अज्ञेय की 'चिन्ता' में हुआ है। वे कहते हैं—"हमारा-तुम्हारा प्रणय इस जीवन की सीमाओं से बँधा नहीं है। इस जीवन को मैं पहले धारण कर चुका हूँ। पढ़ते-पढ़ते, बैठे-बैठे, सोते हुए, एकाएक जागकर जब भी तुम्हारी कल्पना करता हूँ, मेरे अन्दर कहीं बहुत-से बन्धन टूट जाते हैं, एक निर्बाध प्रवाह मुझे कहीं बहा ले जाता है, मेरे आस-पास का प्रदेश, व्यक्ति सब-कुछ बदल जाता है, मैं स्वयं भिन्न रूप धारण कर लेता हूँ। पर ऐसा होते हुए भी जान पड़ता है, मैं अपना ही कोई पूर्वरूप,

---

१. 'प्रणय गीत', पृ० १७।
२. 'आराधना', पृ० १८।
३. 'शुभ्रा', पृष्ठ १।
४. वही, पृष्ठ ६-७।
५. वही, पृष्ठ १०।

कोई घनीभूत रूप हूँ।[१] अज्ञेयजी के गद्य-काव्यों में प्रेम के लिए पुरुष का स्वतन्त्र अस्तित्व रक्षित रहना आवश्यक है। उनका कहना है—"बिना स्वतन्त्र अस्तित्व रखे प्रेम नहीं होता। यदि मैं अपने को तुममें खो दूँ तो तुमसे प्रेम नहीं कर सकूँगा। वह केवल प्रेम की ज्वाला से बच भागने का एक साधन है।[२] इसीलिए अपने गद्य-गीतों में उन्होंने अपनेपन से मुक्त होकर निरपेक्ष भाव से अपने जीवन का पर्यवलोकन किया है।[3] लेकिन उनमें शारीरिकता का आग्रह है। एक स्थान पर वे कहते हैं—"मैं विजयी हूँ, मैंने तुम्हारे भूत, वर्तमान, भविष्य को जीत लिया है, तुम्हारी इस शरीर-रूपी दिव्य विभूति पर अधिकार कर लिया है।"[४] पुरुष के दर्प और अहं की अभिव्यक्ति उनके गद्य-गीतों में आवश्यकता से अधिक है। उनके गद्य-गीतों की नारी पुरुष के दर्प के समक्ष अपने को हेय समझकर ही कह उठती है—"प्रियतम! इस जीवन में और इससे पूर्व हजार बार मैंने अपना जीवन तुम्हें अर्पित किया है, फिर भी मुझे जान पड़ता है, मैं चोर हूँ।"[५] पुरुष नारी के अस्तित्व का प्राण है और वह उसकी शक्ति की संरक्षिका-मात्र, यह भावना ही उसकी चिन्ता के मूल में है।[६] लेकिन एक गम्भीर वेदना, एकाकीपन का भारीपन और तृष्णा का ज्वलन्त आवेग उनमें बराबर बना रहता है।

अज्ञेय के दर्प और अहं का उत्तर श्रीमती दिनेशनन्दिनी ने दिया है। जैसे पुरुष अपने गर्व की हुंकार से नारी को कँपाता हुआ चिन्ता में कुण्डली मारे बैठा है, वैसे ही श्रीमती दिनेशनन्दिनी के गद्यगीतों में नारी का अहं जाग्रत है। एक स्थान पर वे कहती हैं—"मैं फूलों-बिछे मार्ग पर गिन-गिनकर ताल से कदम रखने वाली ऐश्वर्य रानी हूँ और तुम मेरी स्वर्णिम पादुका के नीचे पिसकर धूल बन जाने वाले तुच्छ रज-कण।"[७] इस अहं के कारण वे विश्व-जीवन की सामूहिक विषमता देखकर अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहतीं और अपने को सृष्टिनियन्ता समझने लगती हैं।[८] लेकिन दिनेशनन्दिनी नारी हैं और अहं का कितना ही बडा ज्वालामुखी उनके भीतर छिपा हो उनको शान्ति तभी मिल सकती है जब वे मानव के पुरुषार्थ की सबल बाजुओं में रह अपनी लम्बी पलकों से उसका पथ बुहार लें।[९] दिनेशनन्दिनीजी का प्रियतम लौकिक है।[१०] अतृप्ति का पुञ्जीभूत रूप उनका जीवन प्रेम के अभाव में निराश हो गया है।[११] वे अपने को

---

१. 'शुभ्रा', पृष्ठ ६१।
२. वही, पृष्ठ ३२।
३. वही, पृष्ठ ३३।
४. वही, पृष्ठ ५३।
५. वही, पृष्ठ १७।
६. 'मौक्तिक माल', पृष्ठ ८।
७. वही, पृष्ठ १२१; 'वंशी रव', पृ० ४७; 'दुपहरिया के फूल', पृ० ३७; 'उन्मन', पृ० ५३।
८. 'दुपहरिया के फूल', पृ० १।
९. वही, पृ० ३; 'उन्मन', पृ० २३, ५१, ६६; 'स्पन्दन', पृ० १५, ६२, ६३।
१०. 'मौक्तिकमाल', पृ० १०२, ११८; 'शारदीया', पृ० ७६, ८७।
११. 'दुपहरिया के फूल', ४२; 'शारदीया', पृ० ४६; 'वंशी रव', पृ० ६०।

अभिशप्त और वंचिता कहती हैं।[1] यौवन की तड़प और वेदना उनमें पर्याप्त मात्रा में है। अपने प्रियतम से वे कहती हैं कि यदि शादी न करेगा तो मैं कुमारी ही रहूँगी। मौलिकता के प्रति उनके मन में कितनी अनुरक्ति है, इसका एक और प्रमाण यह है कि वह पुरुष पुरातन भी जब उनके कक्ष में आता है तो वे सोलहों शृंगारों से सुशोभित होकर कुमकुम मोतियों से उसे बाँध लेती हैं और अपने अक्षत यौवन को प्याली में ढालकर उसके अधरों से लगा देती हैं, जिसे पीकर वह जी उठता है और अमरों-सा दिव्य बन जाता है।[2] 'अज्ञेय' और दिनेशनन्दिनी दोनों में यह ऐन्द्रिकता मिलती है। वासना का आवेग दोनों में बड़ा तीव्र और उन्मादकारी है। नारी के नाते दिनेशनन्दिनी में उसका रूप और भी तीखा है। प्रेमी की निष्ठुरता[3] और उसके कारण जीवन के सुखों से विरक्ति[4] उनके गद्य-काव्यों की विशेषता है।

दिनेशनन्दिनीजी के स्वर-में-स्वर मिलाकर चलने वाली दो और लेखिकाएँ हैं— स्वर्गीया कुमारी स्नेहलता शर्मा और श्रीमती शकुन्तला कुमारी 'रेणु'। इन दोनों ने क्रमशः 'विषाद' और 'उन्मुक्ति' नामक कृतियाँ लिखी हैं। 'विषाद' की लेखिका अपने प्रियतम से सामाजिक बन्धनों के कारण नहीं मिल सकती। यह विवशता वही है जो विश्वम्भर 'मानव', रजनीश और शिवचन्द्र नागर के जीवन में व्याप्त है। लेखिका का किशोर हृदय अचानक किसी की ओर खिंच गया है। लेकिन निष्ठुर संसार मिलने दे तब न ? लहरों के पारस्परिक आलिंगन को देखकर वह कहती है—"मैं भी तो तुमसे मिलना चाहती हूँ। तुम उस पार हो, मैं इस पार, और है हमारे बीच समाज-सागर। मैं अपने हृदय का रक्त देकर भी इस समाज को प्रसन्न न कर सकी। लहरियों का प्रियतम तो उनसे बहुत दूर है। किन्तु तुम तो मेरे निकट, अति निकट हो। फिर भी हम नहीं मिल सकते। क्या इस विवशता पर तुम क्षुब्ध नहीं होते ?[5] समाज की शक्ति मृत्यु से भी अधिक है, तभी तो एक हल्के-से आघात ने उसे प्रियतम से अलग कर दिया। उसने प्रतीकों और अन्योक्तियों के माध्यम से अपनी बात कही है, दिनेशनन्दिनी की भाँति उसमें सीधी व्यंजना नहीं है। इसका कारण यौवन और किशोरावस्था की सन्धि है।[6] वह दूर रहकर ही सुख का अनुभव करने का प्रयत्न करती है, पर उसकी जीवन-धारा अशान्त ही रहती है।[7] 'उन्मुक्ति' में विषाद की विवशता नहीं है, उसमें अध्यात्मवाद की ओर झुकाव है। यद्यपि यह पथ-परिवर्तन सांसारिक प्रेम में निराश होने पर ही किया गया है।[8] इसीलिए दिनेश-नन्दिनी की भाँति वे अपने प्रियतम से कहती हैं कि जब मैं न रहूँ तब तुम मेरी जीवन-

---

१. 'वंशी रव', पृ० ५४।
२. वही, पृ० ५४।
३. 'मौक्तिक माल', ३२; 'शारदीया,' ६०।
४. 'मौक्तिक माल', २६, ५१; 'वंशी रव', १०।
५. 'विषाद', पृ० १५।
६. वही, पृ० ३, १३, १७, २३, २४, २७।
७. वही, पृ० ३१।
८. 'उन्मुक्ति', पृ० ४३।

स्मृति से खेलना।[१]

लौकिक प्रेम के गद्य-काव्यों में एक बहुत बड़ा अंश प्रिय के सौन्दर्य-वर्णन का है। प्रेमी अपने प्रिय के रूप पर मुग्ध रहता है और उसके प्रभाव का व्यक्तीकरण होता है।[२] दूसरी बात प्रिय की उपेक्षा की है कि वह मिलता नहीं।[३] लेकिन फिर भी प्रेमी की कल्याण-कामना की जाती है।[४] प्रथम परिचय और दर्शन की तो बार-बार याद दिलाई जाती है।[५] सम्बन्ध-भावना का भी प्रदर्शन होता है। जिस पथ पर प्रियतम गया है अथवा जिस शैया पर वह लेटा है वह बड़ी सुखद जान पड़ती है।[६] विरह-वेदना तो सर्वत्र व्याप्त ही रहती है। उसका रूप प्रतीक्षा में अधिक व्यक्त होता है, जब स्वागत का साज सजाए प्रेमिका बैठी रहती है और प्रेमी नहीं आता।[७] आँसुओं को सम्बोधित करके भी व्यथा व्यक्त करने की प्रणाली अपनाई जाती है।[८] लौकिक प्रेम के गद्य-काव्यों में विदा होते समय की परिस्थिति का चित्र भी दिया जाता है और उस समय की बातें याद दिलाई जाती हैं।[९] प्रिय के अभाव में प्रेमी उसकी स्मृति और ध्यान को ही अपना सर्वस्व समझता है।[१०]

राष्ट्रीय रचनाओं के विषय—आधुनिक हिन्दी-कविता की भाँति हिन्दी-गद्य-काव्यों में भी राष्ट्रीय भावना का पूर्ण समावेश हुआ है। राष्ट्रीय जागरण के उषा-काल से लेकर स्वतन्त्रता के सूर्य के उन्मुक्त प्रकाश के विकीर्ण होने तक भारतवासियों के राष्ट्र-प्रेम, विद्रोह, महापुरुषों के बलिदान, देश के पतन तथा ह्रास के चित्र बड़े उत्साह के साथ दिये गए हैं। श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने अपने 'साहित्य देवता' में जहाँ राष्ट्र को साहित्य का पर्यायवाची मानकर उसकी विराट्ता की ओर संकेत किया[११] वहाँ श्री चतुरसेन शास्त्री ने भारत के पराधीन होने से लेकर स्वतन्त्र होने तक का ऐतिहासिक सिंहावलोकन

---

१. वही, पृ० २३, ४६, ५०, ७८।

२. 'अन्तस्तल', पृ० ३ 'मणिमाला', पृ० २५, ८१; 'अन्तर्नाद', अ० १०, २७; 'हिम हास', पृ० १६; 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', पृ० ५८; 'शबनम', पृ० ६३; 'मौक्तिक माल', पृ० ६८; 'हृदय तरंग', पृ० २६; 'यौवन तरंग', पृ० १४, १६, २०।

३. 'वेदना', पृ० १४; 'मौक्तिक माल', पृ० ८८; 'शारदीया', पृ० ३३, ३८; 'वंशी रव', पृ० २।

४. 'उन्मन', पृ० २२; 'स्पन्दन', पृ० ६६, ७०; 'तूणीर', पृ० १४।

५. 'वेदना', पृ० १७; 'शबनम', पृ० १६२, १६३; 'विषाद', पृ० ३७, ३६; 'आराधना', पृ० ५२; 'उन्मन', ४२; 'स्पन्दन', पृ० ७१।

६. 'साहित्य देवता', ११७, १२१; 'साधना', ७१; 'जीवन धूलि', पृ० ३६, 'अन्तर्नाद', पृ० ५६ 'शबनम', ८३; 'मौक्तिक माल', ६, ८६; 'शारदीया', १४, १६; 'वंशी रव', ६३; 'उन्मन', ८४; 'चरणामृत', ७०।

७. 'वेदना', ७; 'मणिमाला', २०; 'भावना', ३६।

८. 'प्रणय गीत', ४८; 'अभाव', ६।

९. 'चित्रपट', २८, ५५, ६१; 'अन्तस्तल'' १६५।

१०. 'शबनम', ३६।

११. 'साहित्य देवता', ६७।

भावावेशमयी भाषा में किया।[1] श्री वियोगी हरि ने मातृभूमि के प्रति प्रेम-प्रदर्शन के साथ वर्तमान अधोगति की ओर संकेत किया और उसके उद्धार की भावना के समक्ष स्वर्ग का भी तिरस्कार कर दिया। श्री ब्रह्मदेव ने विश्व को युद्धों से बचाने के लिए भारत की सांस्कृतिक परम्परा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया तो श्री हरिमोहन-लाल वर्मा ने 'भारत-भक्ति' की आवश्यकता बताई।[2] इस प्रकार राष्ट्रीय प्रवृत्ति के गद्य-काव्यों में विभिन्न विषयों को आधार बनाया गया है। यहाँ हम प्रमुख विषयों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

अतीत गौरव—श्री माखनलाल चतुर्वेदी को भारत में वाल्मीकि से लगाकर तुलसी-दास तक, राम से लगाकर छत्रपति शिवाजी और राणाप्रताप तक सब यहीं (भारतवर्ष में) रहते दिखाई देते हैं। व्यास यहाँ हैं, बुद्ध यहीं हैं, महावीर यहीं हैं, रघु यहाँ हैं, दिलीप यहीं हैं, कृष्ण यहीं हैं, विदुर यहीं हैं, नारद यहीं हैं, सरस्वती यहीं हैं, सीता यहीं हैं, द्रौपदी यहीं हैं, मीरा यहीं हैं, सूर यहीं हैं, चैतन्य यहीं हैं, रामतीर्थ यहीं हैं, तुकाराम-रामदास यहीं हैं। इस ज़मीन की एक तह भी उखाड़ो कि अनेक मनस्वी उठकर बातें करने लगेंगे। इनकी हड्डियों पर हम नन्दन वन बनाते चल रहे हैं।[3] श्री रघुवरनारायण सिंह भारत माता से निवेदन करते हैं कि वह पुनः भारतवासियों को स्वर्णिम अतीत को लौटाने की शक्ति दे।[4] चतुरसेन शास्त्री चित्तौड़ के किले के पास से सायंकाल को गुज़रते भेड़ों के रेवड़ को केसरिया बाना पहने वीरों की वर्तमान हीनता का द्योतक मानते हैं।[5] उन्होंने स्वदेश का मानवीकरण करते हुए देश-प्रेम की बड़ी सुन्दर झलक दी है।[6] श्री हरिमोहन-लाल वर्मा ने भी राजस्थान, महाराष्ट्र, बुन्देलखण्ड, मालवा आदि के प्राचीन गौरव का स्मरण करके एक बार पुनः सूरमा सजाने की प्रेरणा माँगी है।[7] श्री ब्रह्मदेव ने विश्व-शान्ति की कामना से प्राचीन भारतीय गौरव का स्मरण किया है और हिमालय के तुषार, गंगा की पवित्र धारा और भगवान् बुद्ध के देश से अपनी प्रकाश-यात्रा का तूर्य मुखरित करने की प्रार्थना की है।[8]

वर्तमान अवस्था का चित्रण—अतीत गौरव के स्मरण के साथ ही वर्तमान अवस्था का चित्रण राष्ट्रीय गद्य-काव्यों की विशेषता है। श्री वियोगी हरि दासत्व-शृंखला में जकड़ी भारत माता की दशा का चित्रण करते हुए लिखते हैं—"एक ओर एक तेजस्विनी वृद्धा छाती पीटती हुई बिलख-बिलखकर रो रही थी। उसके हाथ-पैर जंजीरों से जकड़े हुए थे। छाती से रक्त बह रहा था। वस्त्र रुधिर से लथपथ थे। खुले हुए केश धूल से सने थे। नेत्रों से प्रलयंकारी चिनगारियाँ निकल रही थीं। इतनी सब दुर्दशा होने

१. 'तरलाग्नि', पृ० १५।
२. 'अन्तर्नाद', पृ० ६५।
३. 'आँसू-भरी धरती', पृ० ६।
४. 'भारत-भक्ति', पृ० ८।
५. 'जवाहर', पृ० २०।
६. वही, पृ० ४४।
७. 'भारत-भक्ति', पृ० ६।
८. 'आँसू-भरी धरती', पृ० ३।

पर भी उस त्रिलोक-वन्दनीया देवी का रूप बड़ा ही दिव्य और शान्त था।"[१] श्री चतुरसेन शास्त्री अनूपशहर के घाट पर गंगा-स्नान को जाते हैं और कुत्तों को पूड़ियाँ फेंकते हैं तो तीन गरीब लड़कियाँ भी कुत्तों के साथ पूड़ियाँ लपकने के लिए दौड़ती हैं। इस दृश्य पर वे भारतीय नारी की अधोगति के साथ देश की गरीबी पर कराह उठते हैं।[२] अनाथालय के बालकों को देखकर लगभग ऐसे ही उद्‌गार श्री वियोगी हरि ने भी प्रकट किए हैं।[३] महाराज कुमार रघुवीरसिंह ने धार्मिक पाखण्डों और मत-मतान्तरों के कारण उत्पन्न विषमता पर प्रकाश डालते हुए देश के अधःपतन का चित्र प्रस्तुत किया है।[४]

अंग्रेजों के प्रति घृणा व्यक्त करते समय देश की दुर्दशा और भुखमरी का उत्तरदायित्व उन्हीं के ऊपर डाला गया है।[५] श्री ब्रह्मदेव युद्ध-काल में विदेशी सैनिकों की वासना-तृप्ति के लिए भारतीय नारी के शरीर को खरीदने की कल्पना पर रो रहे हैं और अपनी हीनता पर ग्लानि से मस्तक झुका लेते हैं।[६] श्री चतुरसेन शास्त्री अंग्रेज तथा अन्य जातियों के आगमन पर विचार करते हुए पतन के कारणों पर विचार करते हैं और इनका उत्तरदायित्व पारस्परिक वैमनस्य और फूट को देते हैं।[७] श्री वियोगी हरि ने विलासी राजाओं और कामी युवकों को देश की दुर्दशा का उत्तरदायी ठहराया है। युवकों का एक चित्र देखिए—"आज वे अपने-आपको भूलकर कृत्रिम सभ्यता रमणी के गुलाम हो रहे हैं। उनके ओजस्वी नेत्रों में कामोद्दीपक मद्य छलक रहा है। जटाजूट के स्थान पर तेल-रंजित छल्लेदार बाल चमक रहे हैं। जिनकी छाती पर लोहे के कवच बँधे रहते थे, वहाँ आज फूलों के हार भी भार-से मालूम होते हैं। जिनकी कलाइयाँ फौलाद की बनी हुई थीं, जिन पर रण-कंकण बांधा जाता था, आज ये नाजुक दिखाई पड़ती हैं और रण-कंकण के स्थान पर रिस्ट-वाच नजर आ रही हैं।[८] उनके अन्तर्नाद में ऐसे चित्र भरे पड़े हैं।[९]

देश और जाति की दुर्दशा पर व्यापक रूप से विचार करने वाले गद्य-काव्य-लेखकों की भी कमी नहीं है। श्री आनन्द भिक्षु सरस्वती लिखित 'मगना' और श्री देव शर्मा 'अभय' लिखित 'तरंगित हृदय' पुस्तकें इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

महात्मा गांधी तथा अन्य देश-भक्तों की प्रशस्ति—हिन्दी-गद्य-काव्यों की राष्ट्रीय प्रवृत्ति में एक बहुत बड़ा अंश महात्मा गांधी तथा अन्य देश-भक्तों की प्रशस्तियों का है। सबसे अधिक गद्य-काव्य महात्मा गांधी पर ही लिखे गए हैं। महात्माजी के ऊपर

१. 'अन्तर्नाद', पृ० ७२।
२. 'जवाहर', पृ० १७।
३. 'अन्तर्नाद', पृ० १०७।
४. 'जीवन धूलि', पृष्ठ ३६।
५. 'अन्तर्नाद', पृष्ठ ५७, ६२; 'भारत-भक्ति', पृष्ठ ११; 'चित्रपट'; पृष्ठ ७७।
६. 'आँसू-भरी धरती', पृष्ठ २०।
७. 'तरलाग्नि', पृष्ठ ३।
८. 'अन्तर्नाद', पृष्ठ ६६।
९. 'अन्तर्नाद', पृष्ठ ५५, ५७, ६६, ८२, ११०, १११, ११३।

लिखे गए गद्य-काव्यों में उनको भूत और भविष्य का ज्ञाता, विज्ञान से युद्ध करके अध्यात्म-तत्त्व की विजय का शंखनाद करने वाले और देश-उद्धार के लिए निन्दा-स्तुति से परे रहकर निरन्तर निश्चित पथ पर बढ़ने वाले योद्धा के रूप में बार-बार उनका स्मरण किया गया है। उनको निर्धनों, पददलितों और गरीबों का साथी बताया गया है।[१] वह क्षीणकाय पुरुष सत्व, जिसकी सूखी हड्डियों पर केवल चर्मलेप था और कमर में केवल मोटा खद्दर का एक टुकड़ा, हाथ में शस्त्र के स्थान पर चार अंगुल की पेंसिल थी।[२] उसकी वाणी सर्वव्यापक ब्रह्म की भाँति मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, गिरजों आदि समस्त देवालयों और विश्व की उलझन के साधन बाजारों और जनस्थलों में गूंजी और उसने भारत को हीन भावना से बचाया।[३] उसकी पुकार में जादू था कि हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, जवान, बूढ़े, बालक, स्त्रियाँ सब अंग्रेज से लड़ने को खड़े हो गए। उसके प्रभाव के व्यक्तीकरण के साथ उसे 'मुक्त कीर' के रूप में सम्बोधित किया गया और दासता की निकृष्ट बेड़ियाँ काटने वाला बताया गया।[४] उसे शान्ति का सन्देश देने वाला और स्वतन्त्रता की पुकार लगाने वाला कहा गया।[५] सविनय अवज्ञा के अस्त्र से प्रबल प्रतापी साम्राज्य को परास्त करने वाले सत्यनिष्ठ, धर्म और राजनीति में समन्वय करने वाले युग-पुरुष, सर्वांगीण उन्नति का विधान रचने वाले सुधारवादी विशेषणों ने उन्हें अवतार की कोटि तक पहुँचा दिया।[६]

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद बापू को साम्प्रदायिक विष को पीने वाले शंकर की भूमिका में उतरना पड़ा और युद्धों के विरुद्ध अपनी अहिंसा को लेकर खड़ा होना पड़ा। इसका बड़ा सुन्दर चित्रण 'आँसू भरी धरती' में श्री ब्रह्मदेव ने किया है। देश के विभाजन के लिए जो रक्त-पात हुआ, नोआखाली में बापू ने जो ऐतिहासिक यात्रा की, भ्रातृत्व के रक्त की बाढ़ उमड़ने पर भी जो उनकी प्रार्थना का स्वर अटल रहा, आदि की ओर उन्होंने बार-बार संकेत किया है।[७]

उनकी मृत्यु पर भी श्रद्धांजलि-रूप से गद्य-काव्य लिखे गए हैं। श्री वियोगी हरि ने तो 'श्रद्धा-कण'[८] नामक एक पुस्तक भी लिखी है। इस पुस्तक में उन्होंने गांधीजी के महत्त्व, उनके कार्य, उनके सिद्धान्त, उनके प्रभाव आदि की व्यंजना की है। सत्य, अहिंसा, अस्पृश्यता, सर्वधर्म समभाव, स्वदेश-प्रेम आदि एकादश व्रत और साम्प्रदायिक एकता, खादी, स्त्रियाँ, ग्रामोद्योग, किसान, मजदूर, राष्ट्रभाषा आदि रचनात्मक कार्य-क्रम-सम्बन्धी बातों को बड़े कलापूर्ण ढंग से इस पुस्तक में रखा गया है। साथ ही उनके द्वारा प्रवर्तित आन्दोलनों पर भी विचार किया गया है। उनके जीवन में सिद्धान्तों के

१. 'साहित्य देवता', पृष्ठ ८८।
२. 'तरलाग्नि', पृष्ठ ३६।
३. वही, पृष्ठ ३८।
४. 'तरंगिणी', पृष्ठ १०४।
५. 'अन्तर्नाद', पृष्ठ ८४।
६. 'भारत-भक्ति', पृष्ठ १३।
७. 'आँसू भरी धरती', पृष्ठ २१, २५, २६, ३०।
८. सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

क्रियात्मक रूप लिया था, इस कारण सबको प्रेरणा मिलती थी। उनके जाने के बाद उनका अनुकरण नाम-मात्र को हुआ, इस बात के भी कई गद्य-काव्य लिखे गए हैं।

अन्य महापुरुषों में जवाहरलाल नेहरू[१], कमला नेहरू[२], माता स्वरूप रानी[३], नेताजी सुभाष बोस[४], विश्व-कवि[५] रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सरदार पटेल[६] आदि की वीरता, त्याग और देश-प्रेम को व्यक्त करने में भावुकता का परिचय दिया है। 'तरलाग्नि' में स्वतन्त्रता की लड़ाई का सिंहावलोकन होने से कोई भी प्रमुख राजनीतिक पुरुष नहीं बच पाया है। लोकमान्य तिलक, राजगोपालाचार्य, मौलाना आज़ाद, लाला लाजपतराय, राजेन्द्र बाबू, मालवीयजी, सरोजिनी नायडू, तेज बहादुर सप्रू आदि सभी आ गए हैं।

योद्धाओं की प्रशस्ति—राष्ट्रीय गद्य-काव्यों में योद्धा दो प्रकार के हैं। एक तो स्वदेश के स्वतन्त्रता-संग्राम में लड़ने वाले सत्याग्रही सैनिक और दूसरे युद्ध-मात्र में लड़ने वाले पेशेवर सैनिक। सत्याग्रही वीरों को या तो विदा देते समय का चित्र अंकित किया गया है, जिसमें पिता या माता द्वारा प्रसन्नता से विदा दिलाई गई है।[७] या जेल से छूटकर आने वाले योद्धा के स्वागत को साज सजाया गया है, जिसमें स्वागत करने वालों पर मर्मवेधी व्यंग्य किये गए हैं।[८] या उसे युद्ध में निश्चल खड़े रहने की प्रेरणा दी गई है।[९] या युद्ध का वर्णन करके कायरों के भीतर वीरता का संचार किया गया है।[१०] बन्दी जीवन के चित्र भी दिए गए हैं, जिसमें बन्दी के स्वाभिमान को उभारकर दिखाया गया है।[११] दूसरे प्रकार के सैनिकों के कठोर जीवन और निर्भयता की प्रशंसा करके अन्त में उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई है।[१२] युद्ध में वीर गति पानेवाले योद्धा की स्थिति का चित्रण करके उसे बढ़ावा दिया गया है कि उसने शत्रु के अस्त्र से विद्ध होकर वीरता की कथा लिखी।[१३]

त्योहार—त्योहारों के ऊपर लिखे गए गद्य-काव्यों में दो बातें मिलती हैं। या तो उनके सहारे अपनी हीनावस्था का चित्रण किया गया और त्योहार न मनाने का निश्चय किया गया है।[१४] या उस त्योहार की परम्परा का वर्णन करके प्रभु से प्रार्थना की गई है

---

१. 'जवाहर', पृ० ६; 'तरलाग्नि', पृ० ५४।
२. वही, पृ० ११, १२, १३।
३. 'मरी खाल की हाय', पृ० ८५, ९०।
४. 'तरलाग्नि', पृ० ५१; 'जवाहर', पृ० २५; 'भारत-भक्ति', पृ० १७।
५. 'आँसू भरी धरती', पृ० ६, ८; 'तरलाग्नि', पृ० ४७।
६. 'भारत-भक्ति', पृ० १६; तरलाग्नि', पृ० ४८।
७. 'जवाहर', पृ० १९।
८. वही, पृ० २६।
९. वही, पृ० १६।
१०. 'अन्तर्नाद', पृ० १६, ५५।
११. 'भग्नदूत', पृष्ठ १३१; 'जवाहर', पृष्ठ १४, १५।
१२. 'आँसू भरी धरती', पृष्ठ ४, १६।
१३. वही, पृष्ठ १७।
१४. 'जवाहर', पृष्ठ १८।

कि वह हमें बल दे जिससे हम उस त्योहार को उसके वास्तविक रूप में मना सकें।[१] या त्योहार के बहाने देशवासियों का उद्‌बोधन किया गया है।[२] त्योहारों को उनके महत्त्व के अनुकूल ही जागरण का आलम्बन बनाया गया है। वे सब प्रेरक-शक्ति बनकर हमारे मन में आर्यत्व, देश-प्रेम, वीरता और बलिदान तथा त्याग की भावना भरते हैं।[३]

१५ अगस्त, २६ जनवरी आदि—सांस्कृतिक त्योहार ही नहीं राष्ट्रीय त्योहारों पर भी गद्य-काव्य लिखे गए हैं। इन राष्ट्रीय त्योहारों में उनके महत्त्व के साथ-साथ वर्तमान दशा का चित्र खींचा गया है और फिर उसे देवी या देवता के रूप में प्रतिष्ठित करके उससे ऐसी शक्ति की याचना की गई है, जो उन्हें राष्ट्र का हित-साधन करने योग्य बनाए।

शरणार्थी—देश के विभाजन के बाद शरणार्थियों की समस्या पर विचार किया गया है। ये राष्ट्र की असंख्य जनता के अंग होने से हमारे हृदय में करुणा जगाते हैं। उनके घरों का जलना, बच्चों और संगी-साथियों का मरना और पीछे रहना, मार्ग के कष्टों का भीषण रूप आदि की ओर संकेत करके इन घरहीन, भोजनहीन और वस्त्रहीन व्यक्तियों को अपना भाई कहकर उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई है और इनके आने से उत्पन्न स्थिति पर विचार किया है। स्वराज्य की प्राप्ति के साथ देश-विभाजन का कलंक हमारी हीनता का परिचायक है, इस बात पर भी विचार किया गया है।[४]

क्रान्ति और उद्‌बोधन—क्रान्ति के स्वरूप को प्रस्तुत करने और युवकों को उद्‌बोधित करने का प्रयत्न भी हिन्दी-गद्य-काव्यों का विषय रहा है। मानवता की रक्षा के लिए वीणा की रागिनी को छोड़कर क्रान्ति की अग्नि-शिखाओं से लिपटे रक्तिम गीतों को गाने का अनुरोध किया जाता है, जिसमें रुद्र के तृतीय नेत्र की प्रलयंकारी महा निशा की ज्वाला द्वारा हिंसा, शोषण और आततायियों के अत्याचारों की समाप्ति का स्वप्न देखा जाता है।[५] क्रान्ति का मानवीकरण भी किया गया है। कापालिक कालचक्र की कर्कशा कला के रूप में और शोषकों को क्षण में नष्ट-भ्रष्ट करने की उसकी शक्ति की प्रशंसा की गई है।[६]

उद्‌बोधन में एक ओर भारतीय युवक को अतीतकालीन गौरव को पुनर्जीवित करके ब्राह्मी स्थिति का साक्षात्कार करने की प्रेरणा की गई है[७] तो दूसरी ओर विशाल दृष्टि-समन्वित उस क्रान्ति के विधान की ओर संकेत किया गया है, जिससे युद्ध-लोलुप राष्ट्रों को सदैव के लिए पंगु बना दिया जाए।[८] इसके लिए भारत को 'शान्ति का देवता'

१. 'जीवन धूलि', पृ० ३६।
२. 'साहित्य देवता', पृ० १३१।
३. 'चित्रपट', पृष्ठ ११४।
४. 'मन के गीत', पृ० ६०, ७७।
५. 'उन्मन', पृ० १३।
६. 'भरत-भक्ति', पृ० २१।
७. 'अन्तर्नाद', पृ० ६२।
८. 'आँसू भरी धरती', पृ० १४।

कहकर अहिंसात्मक क्रान्ति का स्रष्टा बताया गया है।[1] धर्म का ढोंग करने वाले, विलासी धन-कुबेरों, कर्तव्यहीन सत्ताधारियों और शृंगारी कवियों को भी समय की पुकार सुनने के लिए कहा गया है।[2]

इस प्रकार हिन्दी के गद्य-काव्यों में राष्ट्रीयता से सम्बन्धित कोई ऐसी बात नहीं जिसकी झलक उसमें न मिलती हो।

ऐतिहासिक रचनाओं के विषय—ऐतिहासिकता की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले एक-मात्र गद्य-काव्यकार महाराजकुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह हैं। उनकी 'शेष स्मृतियाँ' पुस्तक इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके गद्य-काव्यों के विषय मुगल-कालीन भव्य भवन और खण्डहर हैं। आगरा, दिल्ली और लाहौर में मुगल-साम्राज्य के वैभव और ऐश्वर्य ने प्रेम और सौन्दर्य के साथ रंगरेलियाँ की हैं। एक ओर विलासी जीवन-चित्र है तो दूसरी ओर उनके पतन का अश्रुपात। ताजमहल, फतहपुर सीकरी, लाल किला, अनारकली की कब्र आदि पर लेखक ने भावुकता का स्रोत बहाया है। इन भवनों के एक-एक कक्ष में, एक-एक दीवार और स्तम्भ में, एक-एक पत्थर में सजीवता के दर्शन करके उन्होंने इतिहास को काव्य का रूप दिया है। अपनी इन स्मृतियों के सम्बन्ध में स्वयं लेखक ने कहा है—"स्मृतियाँ भग्नाशाओं के वे अवशेष...कितने उन्मादक होते हैं ? प्रेम की उस करुण कहानी को देखकर न जाने क्यों आँखों में आँसू भर आते हैं और उन भग्न खण्डहरों में घूमते-घूमते दिल में तूफान उठता है, दो आहें निकल पड़ती हैं, उसाँसें भर जाती हैं, आँसू ढलक पड़ते हैं और...उफ ! इन खण्डहरों में भी जादू भरा है,—समय को भुलावा देकर, अब वे मनुष्य को भुलावा देने का प्रयत्न करते हैं। भग्न स्वप्न-लोक के टूटे हुए हृदय के, उजड़े स्वर्ग के उन खण्डहरों ने भी एक नये मानवीय कल्पना-लोक की सृष्टि की। हृदय तड़पता है, मस्तिष्क पर बेहोशी छा जाती है, स्मृतियों का बवण्डर उठता है, भावों का प्रवाह उमड़ पड़ता है, आँखें डबडबाकर अन्धी हो जाती हैं और.... अब विस्मृति की वह मादक मदिरा पीकर...नहीं समझ पड़ता है कि किधर बहा जा रहा हूँ। धमनियों में कम्पन हो रहा है, दिल धड़कता है, मस्तिष्क में एक नवीन स्फूर्ति का अनुभव होता है...। पागलपन ? मस्ती ? दीवानापन ? कुछ भी नहीं समझ में आता कि क्या हो गया है मुझे ? और कहाँ ? किधर ? यहाँ तो कुछ भी नहीं सूझ पड़ता है।"[3]

यह भावुकता लेकर महाराजकुमार रघुबीरसिंह ने अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के जीवन-काल के मुगल-साम्राज्य के उत्थान-पतन और नूरजहाँ, अनारकली और मुमताज महल के रूप-सौन्दर्य के मध्याह्न और सायंकाल पर विचार किया है। अतीत-काल को अपनी रंगीन भाषा से, गतिशील कल्पना से, अद्भुत चित्रण-कौशल से जीता-जागता रूप दे दिया है। चिन्तन की गहराई से महाराजकुमार नये-नये भावरत्न निकाल लाते हैं। सम्भावना द्वारा कल्पना-जगत् में विचरण करना उनकी विशेषता है।[4]

---

१. 'आँसू भरी धरती', पृ० १६।
२. 'अन्तर्नाद', पृष्ठ ८१।
३. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ५१।
४. वही, पृ० ६७-६८।

वे पत्थरों की आवाज़ सुनते हैं और आह भरते हैं।[1] पत्थरों पर की गई कारीगरी के वर्णन का वे अनुभव करते हैं।[2] उन्होंने स्थान-स्थान पर मानवीकरण की सहायता ली है।[3] निर्धन तथा निर्बलों ने साम्राज्य के लिए, इन उच्च भवनों के निर्माण में क्या योग दिया इसका भी उल्लेख किया गया है।[4] एक बात और है कि महाराजकुमार इतिहासज्ञ हैं, अतएव भावुकतावश इतिहास की हत्या कहीं नहीं होने दी।

प्रकृति-सौन्दर्य-मूलक रचनाओं के विषय—प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति तीव्र अनुराग हिन्दी-गद्य-काव्यों की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। हिन्दी-गद्य-काव्य लेखकों ने दिवस-रात्रि, प्रभात-संध्या, पर्वत-समुद्र, आकाश-पृथ्वी, नदी-निर्झर, झील-सरोवर, बादल-बिजली, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि के साथ-साथ मनुष्य द्वारा निर्मित अन्य अनेक पदार्थों पर भावुकतापूर्ण उद्‌गार व्यक्त किये हैं। नीचे हम उन दृश्यों और वस्तुओं-सम्बन्धी गद्य-काव्यों पर विशेष रूप से विचार करेंगे, जिन पर विशेष लिखा गया है।

प्रभात—प्रभात-सम्बन्धी गद्य-काव्यों में दो प्रकार के गद्य-काव्य हैं : एक उषा-सम्बन्धी और दूसरे सूर्योदय सम्बन्धी। उषा-सम्बन्धी गद्य-काव्यों में उषा का विशाल-हृदया नारी अथवा देवी के रूप में मानवीकरण किया गया है और उसकी प्रशस्ति गाई गई है।[5] इनमें ही कहीं उसे स्वप्न-संसार को मिटाने वाली भी कहा गया है।[6] कहीं सामान्यतः उषाकालीन दृश्यों का वर्णन-भर कर दिया गया है।[7] प्रभात का वर्णन विशेष रूप से पृष्ठभूमि के रूप में किया गया है और उससे मन में आशा का संचार होने की भावना व्यक्त की गई है।[8] कहीं उसका अलंकृत वर्णन कर दिया गया है।[9] प्रभात के वर्णन में मानवीकरण की प्रणाली भी अपनाई गई है। उदाहरण के लिए एक स्थान पर सूर्य की स्वयं में लीन रहने वाले कवि और तपस्वी से तुलना की गई है।[10]

सन्ध्या—सन्ध्या के चित्र प्रभात की अपेक्षा अधिक हैं। इसका कारण यह है कि अधिकांश गद्य-काव्य-लेखकों ने साधक के दिन-भर प्रतीक्षा करने का वर्णन किया है। सन्ध्या का पृष्ठभूमि के रूप में चित्रण विशेष रूप से किया गया है। हुआ यह है कि सूर्यास्त होने, पक्षियों के अपने-अपने नीड़ों में लौटने, कुछ-कुछ अँधेरा झुकने और सांध्य-तारे के उदय होने आदि का उल्लेख करके अपने प्रिय के न आने पर पश्चात्ताप या चिन्ता

---

१. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ७०-७१।
२. वही, पृ० ६।
३. वही, पृ० १३२, १३५।
४. वही, पृ० ६३।
५. 'वेदना', पृ० ३८; 'मणिमाला', पृ० ७।
६. 'तरंगिणी', पृ० ५२; 'शारदीया', पृ० १५।
७. 'प्रणय गीत', पृष्ठ १।
८. 'जवाहर', पृष्ठ ११, १२; 'आँसू भरी धरती', पृष्ठ ११, २१; 'साधना', पृष्ठ २३; 'चित्रपट', पृ० ६०; 'शबनम', पृ० २६; 'वंशी रव', पृ० ४६।
९. 'छाया पथ', पृ० ५६; 'मणिमाला', पृ० ७२।
१०. 'वेदना', पृ० ७।

प्रकट की गई है।[१] संध्या की उदास परिस्थिति का चित्रण अपनी मानसिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए भी किया गया है।[२] प्रभात-वर्णन में जैसे उषा का तथा प्रभात-सूर्य का मानवीकरण हुआ है, उसी प्रकार संध्या का तथा सांध्यकालीन सूर्य का भी मानवीकरण हुआ है। संध्या का मानवीकरण करते हुए उसे बादलों का घूंघट डाले सोलह शृंगारों से पूर्ण नायिका बताया गया है।[३] सूर्य को एक ऐसे वृद्ध के रूप में देखा गया है, जिसकी प्रकाश-यात्रा समाप्त हो चुकी हो और जो शान्त बैठा हो।[४]

रात्रि—चाँदनी रात और अन्धकारमयी रात दोनों के चित्र हिन्दी-गद्य-काव्यों में मिलते हैं। रात्रि के अधिकांश चित्र उद्दीपन के प्रयोजन से दिये गए हैं। चाँदनी रात के वर्णन में उसे मस्ती और सौन्दर्य की अनन्त वर्षा करने वाली और आनन्द की वृद्धि करने वाली बताया गया है।[५] चन्द्रमा को विपत्ति में उपहास करने वाले शत्रु के रूप में भी देखा गया है।[६] अन्धकारमयी रात्रि के चित्र भी उद्दीपन के लिए विशेष रूप से आए हैं, जिसमें विरही की दशा और भी दयनीय हो जाती है।[७] रात्रि के वर्णन में अलंकृत चित्रण और नवीन उद्भावनाओं और कल्पनाओं का समावेश भी किया गया है। श्री वियोगी हरि को रात्रि शून्यवाद की धारणा जान पड़ती है, जो निराकार से साकार हो गई है। श्री शान्तिप्रसाद वर्मा को ज्योत्स्ना का आलिंगन करने के लिए दूर्वा के तन्तुओं के रूप में पृथ्वी रोमांचित दिखाई देती है[८] और चन्द्रमा श्वेत हल्के बादलों के झुण्ड में ऐसा लगता है जैसे धूल में खेलता बालक। श्री रायकृष्णदास पूर्ण चन्द्र को[९] देखकर विशेषणों की झड़ी लगा देते हैं। श्री रामकुमार वर्मा को चन्द्र-किरण[१०] नीलाकाश के शरीर की साँस-सी जान पड़ती है। श्री ब्रह्मदेव[११] रात्रि से निवेदन करते हैं कि वह शान्ति के दूत गांधी के मरने पर उसके नक्षत्रों का तिलक करे और वध करने वाले पर क्षमा की चाँदनी की वर्षा करे।[१२]

ऋतु-वर्णन—स्वतंत्र रूप से ऋतु-वर्णन के लिए हिन्दी-गद्य-काव्यों में अवकाश नहीं है। पृष्ठभूमि के रूप में ही ऋतुओं का चित्रण हुआ है। सबसे अधिक चित्र ग्रीष्म ऋतु के हैं। इसका कारण यह है कि संसार को मृगतृष्णा के रूप में माना गया है और साधक को उस प्रियतम ब्रह्म रूपी अमृतोपम शीतल जल की खोज करने वाले पथिक के

---

१. 'साधना' २३; 'अन्तस्तल', १२६; 'चित्रपट', १३-७३; 'मणिमाला', ५४; 'तरंगिणी', ४६।
२. 'शबनम' ५५; 'मौक्तिक माल', ११८; 'उन्मन', ५३; 'चित्रपट', ५७।
३. 'वंशी रव', ४।
४. 'आँसू भरी धरती', ६।
५. 'भावना', २६; 'शबनम', १२; 'वंशी रव', ४।
६. 'अन्तस्तल', १२६।
७. 'अन्तर्नाद', ६; 'शबनम', १६।
८. 'चित्रपट', २४, २५।
९. 'साधना', १०३।
१०. 'हिम हास', १।
११. 'आँसू भरी धरती', ३७।
१२. 'छाया पथ', ४४; 'अन्तर्नाद', ३२; 'भावना', ४४; 'शारदीया', ८६; 'साहित्य-देवता', १०८।

रूप में लिया है। साधक की कठिनाई का आभास करने के लिए ग्रीष्म की भयंकरता का चित्र अंकित किया जाता है और अन्त में अकस्मात् प्रिय के शीतल स्पर्श से समस्त क्लांति के निवारण का आयोजन होता है।[1] ग्रीष्म के बाद दूसरी ऋतु वसन्त है, जिसे हिन्दी-गद्य-काव्य में महत्त्व का स्थान मिला है। वसन्त जैसे प्रकृति में उल्लास की साँस फूँकता है वैसे ही मानव-जीवन में प्रियतम का सम्पर्क नवीन प्राण संचार करता है। इस उल्लास को व्यक्त करने के लिए कहीं उसके द्वारा हृदय की उमंग व्यक्त हुई है[2] तो कहीं उसके साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है।[3] कहीं-कहीं मानव-जीवन की गहरी निराशा को व्यक्त करने के लिए भी उसका उपयोग किया गया है। ऐसे स्थलों पर वसन्त का वर्णन करके मानव-मन की व्यथा की ओर संकेत कर दिया गया है।[4] अन्य ऋतुओं में वर्षा और शरद् का वर्णन उद्दीपन और पृष्ठभूमि के रूप में ही हुआ है।

समुद्र, पर्वत, नदी, पृथ्वी आदि—हिन्दी-गद्य-काव्यों में समुद्र, पर्वत, नदी, पृथ्वी आदि का वर्णन बार-बार हुआ है। यह वर्णन कहीं मानवीकरण का रूप लेता है, कहीं मानव-हृदय में नवीन भावनाओं की सृष्टि करता है और कहीं जीवन के सत्य का साक्षात्कार कराता है। महाराजकुमार रघुबीरसिंह को समुद्र श्वेत फुहारों के मुकुट से सुशोभित अपना मस्तक उठाए लहरों की हरहराहट द्वारा किसी निष्ठुर प्रेमी को पुकारता दिखाई देता है।[5] श्रीमती दिनेशनन्दिनी को भी वह अपनी व्यथा सुनाने के लिए करुण-क्रन्दन करता दिखाई देता है।[6] डॉक्टर रामकुमार वर्मा की दृष्टि में निर्झर प्रकृति का शिशु है, जो कल-कल स्वर की हँसी से चट्टानों की ठोकरों को भी हँसी से सहता जाता है।[7] श्री 'अज्ञेय' को भी निर्झर के हृदय की निर्मलता पथावरोधक शिला-खण्ड जान पड़ते हैं।[8]

नई उद्भावनाएँ तो प्रकृति के इन उपादानों से असंख्य उत्पन्न होती हैं। श्री रामकुमार वर्मा की 'हिम हास' रचना इस दृष्टि से हिन्दी की अद्वितीय पुस्तक है। निर्झर, पुष्प, बादल, वृक्ष, शैल-शृंग, अपह्नुति, दृष्टान्त, उदाहरण आदि अलंकारों द्वारा उन्होंने अपने हृदय की उन भावनाओं को व्यक्त किया है, जो प्रकृति के इन उपकरणों ने मन में जगाई हैं। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

प्रभु! यह निर्झर नहीं है—मेरी कविता बह रही है। लाओ, इसमें तुम्हारे चरण धोकर इसे संसार को पवित्र करने के लिए प्रवाहित कर दूँ।[9]

घटा के काले केश-कलाप में यह इन्द्र-धनुष की नवीन और सद्य-प्रस्फुटित माला

---

१. 'भावना', ४६।
२. 'अन्तस्तल', १४६।
३. 'उन्मुक्ति', ३६।
४. 'भावना', १६।
५. 'शबनम', ४६।
६. 'हिम हास', ३२।
७. वही, ३१।
८. 'भग्नदूत', ३२।
९. 'हिम हास', ५२।

किसने पहना दी।[१]

तू वृक्ष समय की भाँति विस्तृत है और मैं पल्लव की भाँति उससे जुड़ा हुआ हूँ।[२]

यह पर्वत मानो पृथ्वी संसार का बीभत्स कार्य-कलाप देखकर वनान्त में सिकुड़-कर बैठी हुई है।[३]

प्रकृति ने अपने शिशु पर्वत को बार-बार चूमा है। ये हिम-खण्ड उसी के चुम्बन-चिह्न हैं।[४]

जीवन के सत्य की व्यञ्जना में ये उपकरण कितना काम करते हैं, वह तो इसी से पता चलता है कि गद्यकाव्यों में दृष्टान्त-शैली का आज अत्यधिक प्रचलन हो गया है। श्री भँवरमल सिंघी कहते हैं कि नदी का समतल का रूप ही नहीं है, उसका वह रूप भी है, जो चट्टान पर गिरने के समय का है। श्री राय कृष्णदास झरने से यह तथ्य निकालते हैं कि पृथ्वी के हृदय में जहाँ ज्वाला है वहीं करुणा-कल्लोलिनी भी है, जो पाषाण हृदय तक को बेध डालती है।[५] श्री शान्तिप्रसाद वर्मा लहर की सीमित जीवन-धारा से प्रभावित होकर लहर बनने की कामना करते हैं ताकि हँसते हुए महा-मिलन की तैयारी कर सकें।[६]

कभी-कभी प्राकृतिक उपकरणों को सम्बोधित करके अपने मन की बात कही जाती है। जैसे श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'माँ! गंगी'[७] और श्री महाराजकुमार रघुबीरसिंह ने 'वह प्रवाह' में गंगा को सम्बोधित कर क्रमशः प्राचीन संस्कृति और आधुनिक पतन पर विचार प्रकट किया है तथा स्वयं गंगा का महत्त्व बताया है।

पेड़-पौधे और पशु-पक्षी—हिन्दी-गद्य-काव्यों में पेड़-पौधों का उपयोग विशेष रूप से उपदेश के लिए किया गया है। इस दृष्टि से हिन्दी-गद्य-काव्यों में पुष्प का उल्लेख अधिक हुआ है। पुष्प का खिलना और मुरझा जाना जीवन की क्षणभंगुरता का प्रतीक माना गया है।[८] पुष्प उपदेश के अतिरिक्त अनेक प्रकार के दूसरे भाव भी जगाता है। जैसे श्री भँवरमल सिंघी को पुष्प प्रियतम-मिलन का साज सजाता और मिट्टी में मिलता हुआ दिखाई देता है।[९] श्री देवदूत विद्यार्थी पुष्प को इसलिए सुखी नहीं कहते कि बेचारा माली द्वारा तोड़ा जाने पर दुकानदार द्वारा माला में पिरोए जाने पर, ग्राहक द्वारा खरीदा जाने पर और प्रतिमा पर चढ़ाए जाने पर भी प्रेम प्राप्त नहीं कर पाता।[१०] श्री शांतिप्रसाद

---

१. 'हिम हास', ६५।
२. वही, ७३।
३. वही, ७६।
४. वही, ७६।
५. 'वेदना', ५१
६. 'चित्रपट', पृ० १०६।
७. 'जवाहर', ३१।
८. 'जीवन धूलि', ५०।
९. 'अन्तस्तल', १२६।
१०. 'तरंगिणी', १०७; 'हिम हास', १७।
११ 'चित्रपट', ५४।

वर्मा को मुरझाये हुए पुष्प की दृष्टि में तृष्णा, करुणा और अर्थशून्यता दिखाई देती है। श्री रायकृष्णदास पुष्प और दूर्वा की बातचीत द्वारा निर्जीव वस्तुओं में प्रेम और कोमलता की प्रतिष्ठा करते हैं।[1] महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंह का विचार है कि पुष्प इसलिए मुरझा गया कि वह अपने आराध्य के गले का हार बनकर न रह सका।[2] पेड़ों का उपयोग उपदेश के लिए ही किया गया है और उनकी परोपकार-वृत्ति की ओर संकेत किया गया है।[3]

पशु-पक्षियों में कोयल, चातक, चकोरी, बुलबुल, तितली, मधुमक्खी, चिड़िया, कबूतर, हंस, नीलकण्ठ आदि का बार-बार प्रयोग किया गया है। सबसे अधिक गद्य-काव्य कोयल और बुलबुल पर मिले हैं। श्री रायकृष्णदास कोयल की तान के तीखेपन पर आश्चर्य करते हुए कोयल से उसकी साधना के सम्बन्ध में पूछते हैं।[4] श्रीमती दिनेश-नन्दिनी उसको आदिकवि कहकर पुकारती हैं और उनके स्वर की प्रशंसा करती हैं।[5] श्रीमती शकुन्तला कुमारी 'रेणु' कोकिल के स्वर में रुदन और पंखों में अन्तर की जलन की कालिमा देखती हैं।[6] बुलबुल पर श्रीमती दिनेशनन्दिनी को ही विशेष ममता है। इसका कारण यह है कि उनके प्रेम में फारसी की सूफियाना शायरी का प्रभाव है। कहीं वे उपमार्थ,[7] कहीं स्वतंत्र,[8] कहीं अन्योक्ति[9] के रूप में बुलबुल पर अपनी ममता प्रकट करती हैं। उन्होंने नीलकण्ठ,[10] हंस,[11] गिद्ध या उकाब पर भी लिखा है। झींगुर का उल्लेख तो उन्होंने अपने गद्यगीतों में खूब ही किया है।[12] कबूतर और कठफोड़वे पर दो सुन्दर गद्य-काव्य श्री तेजनारायण काक ने लिखे हैं, जिनमें उनके सरल स्वभाव के चित्र हैं।[13] श्री काक ने तो चीटों तक पर लिखा है। भ्रमर, पतंग, चातक, चकोर आदि तो सामान्यत: प्रेम के प्रसंग में सब जगह आए ही हैं। यों छोटे-से-छोटे जीव को भी गद्य-काव्य में स्थान मिला है।

दीपक, दर्पण, वीणा, वंशी—गद्य-काव्यों का विषय प्रेम है इसलिए दीपक का उपयोग प्रेम की व्यञ्जना के लिए होना अनिवार्य है। उसी के साथ पतंग जुड़ा हुआ है। दीपक यदि साधक की एकनिष्ठता का प्रतीक है तो पतंग प्रेमी के बलिदान का। कहीं तो

---

१. 'छाया पथ', ६० ।
२. 'जीवन धूलि', ५४ ।
३. 'वंशी रव', ५० ।
४. 'छाया पथ', २३ ।
५. 'शारदीया', ७६ ।
६. 'उन्मुक्ति', ७० ।
७. 'शबनम', ४७ ।
८. वही, ४५ ।
९. वही, ७४ ।
१०. वही, १८, ४४, ५५
११. वही, २४ ।
१२. 'उन्मन', ५७ ।
१३. 'मदिरा' पृ० सं० १०, १५ ।

स्नेह-दीप की रक्षा के लिए साधक निरन्तर प्रयत्नशील दिखाई देता है।[१] कहीं वह उस प्रियतम से प्रार्थना करता है कि उसका दीपक उसके शरीर में अपना प्रकाश फैला दे।[२] कहीं दीपक और पतंग के जल मरने को अमर मिलन की भूमिका बताया गया है।[३] कहीं दीपक के भीतर प्राण-संचार करके उसे जलन का मूर्त रूप कहा गया है।[४] तात्पर्य यह है कि जहाँ कहीं प्रेम की व्यञ्जना या प्रेमी की जलन का आभास कराया गया है, वहीं दीपक को आलम्बन बनाया गया है। दर्पण काँच का एक टुकड़ा है। यदि पारा न चढ़ा हो तो उसका कोई अस्तित्व नहीं, फिर भी वह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि स्वरूप का दर्शन कराता है।[५] लेकिन इस दर्पण में रूप देखना व्यर्थ है, कारण यह दर्पण तो काँच का एक टुकड़ा है। वास्तविक दर्पण तो प्रकृति का या हृदय का है, उसी में रूप सँवारने से दिव्यता आती है।[६] वीणा का प्रयोग दो रूपों में हुआ है। एक तो उसे हृदय अथवा जीवन का प्रतीक माना गया है और दूसरे उसे ही आलम्बन बनाया गया है। पहले रूप में यह भाव प्रकट किया गया है कि यह जीवन या हृदय एक वीणा है और इसका कार्य प्रभु की रागिनी बजाना है।[७] यहाँ जीवन की प्रत्येक गतिविधि, दूसरे शब्दों में वीणा के तारों की प्रत्येक झंकार प्रभु की इच्छा का व्यक्तीकरण है।[८] कवि इस जीवन रूपी वीणा को प्रभु की दी हुई मानता है।[९] दूसरे रूप में वीणा की स्वर-लहरियों में डूबकर शान्ति प्राप्त करता है और चाहता है कि उसे बराबर शान्ति मिलती रहे।[१०] वंशी का सम्बन्ध यों कृष्ण से है और गोपीभाव के भक्ति के उद्‌गार जहाँ प्रकट हुए वहाँ उसकी उपस्थिति अनिवार्य रही है। रास में तो उसके द्वारा नया ही समाँ बँध जाता है।[११] लेकिन वीणा की भाँति प्रभु की मधुर अनुकम्पा के अर्थ में भी उसका ग्रहण हुआ है।[१२] वीणा और वंशी के साथ खंजड़ी[१३] और एकतारे[१४] का समावेश हुआ है, लेकिन वह तब जबकि साधक ने अपने को फकीर के रूप में रखा है।

नौका, माला और प्याला—नौका भी वीणा की भाँति जीवन का प्रतीक है। यह बहुधा 'जीर्ण' विशेषण के साथ आती है, जिसका अर्थ अभावग्रस्त जीवन होता है।

---

१. 'चित्रपट', १६।
२. वही, ५६।
३. 'चरणामृत', ६५।
४. 'जीवन धूलि', ५५।
५. 'छाया पथ', ३१।
६. 'अन्तर्नाद', ४५।
७. 'चित्रपट', ४७।
८. 'तरंगिणी', ३३; 'उन्मुक्ति', ३०।
९. 'चरणामृत', ४६।
१०. 'अन्तर्नाद', १६।
११. 'भावना', २६।
१२. 'चित्रपट', २१; 'अन्तर्नाद', २४।
१३. 'शबनम', ५७।
१४. 'चित्रपट', ४६।

संसार रूपी समुद्र या नदी की लहरों या मँझदार में उसका असहायावस्था में पड़ना दिखाया जाता है और उस कर्णधार (प्रभु) से प्रार्थना की जाती है या उसका आह्वान किया जाता है कि उसकी नाव को उस पार पहुँचा दे, दूसरे शब्दों में उसे कष्ट से मुक्त कर दे।[1] कभी-कभी प्रभु को कर्णधार के स्थान पर प्रदीप-गृह या प्रकाश-स्तम्भ भी कहा गया है, जिसके सहारे नाव अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती है।[2]

माला का हिन्दी-गद्य-काव्यों में बड़ा महत्त्व है। उपासना या पूजा के उपकरणों में उसका प्रमुख स्थान होने से प्रभु को प्रसन्न करने के लिए प्रत्येक भक्त उसे तैयार करता है। बहुधा यह होता है कि भावुक भक्त बड़े परिश्रम से माला तैयार करता है। प्रभु के मिलने पर वह माला स्वयं प्रभु के द्वारा उसके हाथ से लेकर उसी के गले में डाल दी जाती है।[3] कभी उस माला को बहुमूल्य समझकर भक्त स्वयं ही गले में डाल लेता है।[4] यह भी होता है कि जिसके लिए माला बनाई जाती है वह नहीं आता और माला मुरझाकर भक्त को घोर निराशा में छोड़ जाती है। माला द्वारा जीवन के सत्य की व्यञ्जना करने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है।[5]

प्याला हृदय के लिए आता है। इस प्याले में या तो प्रेम की मदिरा पी जाती है[6] या दया की भीख माँगी जाती है।[7] इनमें से पहला कार्य प्रेमियों का और दूसरा भक्तों का है। प्रेमी उस प्रभु को 'साकी' के रूप में लेते हैं और भक्त भगवान् के रूप में। हिन्दी-गद्य-काव्यों में श्रीमती दिनेशनन्दिनी के गद्य-काव्यों में साकी, शराब, प्याले और पैमाने का प्रयोग अधिक हुआ है।

अन्य विषय—जैसा कि हम कह चुके हैं, गद्य-काव्यों के लिए सृष्टि की छोटी-सी चीज़ भी आलम्बन हो सकती है। आधुनिक वैज्ञानिक वस्तुएँ, जैसे ट्रेन और ट्राम्वे तक पर गद्य-काव्य लिखे गए हैं। ट्रेन के आधार पर मन की प्रमाद की अवस्था को व्यक्त किया गया है कि किस प्रकार यह सोचते-सोचते कि अभी तो गाड़ी में देर है, गाड़ी छूट जाती है।[8] ट्राम्वे के बिजली से चलने पर आश्चर्य व्यक्त करके शरीर रूपी ट्राम को उस बड़ी बिजली से चलने वाली बताया गया है। जैसे बिजली के स्पर्श के हटते ही ट्राम बेकार है वैसे ही उस महाज्योति के स्पर्श के बिना शरीर बेकार है।[9] वैज्ञानिक आविष्कारों की निन्दा सामूहिक रूप से की गई है और मन्त्रों को दानव कहकर आत्म-दर्शन के लिए श्रद्धा-

---

१. 'चित्रपट', ११,३५; 'तरंगिणी', ११४; 'भावना', ६०; 'चरणामृत', ३२; 'साधना', २६; 'पूजा', २२।
२. 'तरंगिणी', ५४।
३. 'वेदना', २५; 'तरंगिणी', २२।
४. 'छाया पथ', ४।
५. 'चरणामृत', ५२; 'कुमार हृदय का उच्छ्वास' पृ० सं० ४४।
६. 'छाया पथ', ८८।
७. 'शबनम', ५२।
८. 'छाया पथ', पृ० ६।
९. 'अधखिले फूल', पृ० ६४, ६५।

मूलक शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता पर बल दिया गया है।[१] आधुनिक सभ्यता के उपकरणों में कमरे के चित्र और ड्राइंग रूम का 'नमदा' भी गद्य-काव्य के विषय बने हैं।[२] और तो और, 'चाबुक' पर भी हमारे कवियों की दृष्टि गई है, जहाँ उसे एक ऐसे निर्मम प्रतीक के रूप में उपस्थित किया गया है, जिसे दूसरों को पीड़ा पहुँचाने में ही आनन्द आता है।[३] तथ्य-चित्रण के लिए तलवार और हँसिया तक हमारे गद्य-काव्यों में आ गए हैं।[४] ये सब गद्य-काव्य की व्यापकता और विस्तार का परिचय कराने वाले उपकरण हैं।

मनोवृत्ति-प्रधान रचनाओं के विषय—स्फुट हिन्दी-गद्य-काव्यों का मनोवृत्ति-विश्लेषण अपने ढंग की अनोखी वस्तु है। इस प्रकार के गद्य-काव्यों में मनोवृत्ति-विशेष का मानव-जीवन में प्रभाव, उसका महत्त्व, उसकी व्याख्या और उसके मूर्तीकरण का विधान किया जाता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री हिन्दी में ऐसे गद्य-काव्य लिखने में प्रधान हैं। उनकी 'अंतस्तल' पुस्तक इस दृष्टि से अद्वितीय है। उन्होंने रूप, प्यार, लज्जा, दु:ख, क्रोध, लोभ आदि मनोवृत्तियों का मूर्तीकरण किया है। शास्त्रीजी की प्रणाली यह है कि वे जीवन की घटनाओं के वर्णन द्वारा वृत्ति-विशेष का रूप खड़ा करते हैं। उदाहरण के लिए, चिन्ता वृत्ति पर लिखा उनका गद्य-काव्य लिया जा सकता है, जिसमें उन्होंने एक ऐसे चिन्ताग्रस्त-व्यक्ति द्वारा स्वगत-कथन-प्रणाली में मन के भाव प्रकट कराए हैं, जो अपनी जवानी की भूलों पर पश्चात्ताप कर रहा है और जिसे न खाना-पीना अच्छा लगता है, न बाल-बच्चे।[५] वृत्तियों पर लिखे गए उनके गद्य-काव्यों को पढ़कर वृत्ति-विशेष का स्वरूप समझ में आ जाता है और मन कह उठता है कि इस वृत्ति में यही दशा होती है।

शास्त्रीजी के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने भी यदा-कदा वृत्तियों पर लिखा है, पर उनमें वृत्ति का बिम्ब ग्रहण कराने की वह सामर्थ्य नहीं जो शास्त्रीजी में है। हाँ, किसी-किसी लेखक में वृत्ति का बिम्ब ग्रहण कराने की शक्ति के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। यहाँ हम कुछ मनोवृत्तियों और गद्य-काव्य-लेखकों द्वारा उनकी स्वरूप-प्रकाशन-पद्धति पर विचार करेंगे। प्रेम की मनोवृत्ति का वर्णन इस अध्याय के आरम्भ में ही किया जा चुका है, अत: उसकी विवेचना की यहाँ आवश्यकता उपयुक्त नहीं जान पड़ती। यही सोचकर प्रेमेतर कुछ अन्य मनोवृत्तियों को लिया जाता है।

आशा-निराशा—आशा मनुष्य के जीवन का आधार है। घोर-से-घोर संकट में भी मनुष्य उसके सहारे बढ़ता चला जाता है।[६] आशा के पास मनुष्य को बाँध रखने वाले जो आकर्षण हैं वे हैं स्वर्ग का लोभ, शान्ति की आशा आदि।[७] इसीलिए आशा को 'उज्ज्वलआलोककी देवी', 'साहस और धीरज की अधिष्ठात्री' और 'मन की रानी' कहकर

१. 'आँसूभरी धरती', पृ० १८; 'तरंगिणी', पृ० ७८।
२. 'निर्झर और पाषाण', पृ० २०, ४३।
३. वही, पृ० २४।
४. 'दुपहरिया के फूल', पृ० ८।
५. 'अन्तस्तल', ४४, ४७।
६. 'भग्नदूत', १३२; 'जीवन धूलि', ६१; 'उन्मुक्ति', ८।
७. 'अन्तस्तल', ६१।

सम्बोधित किया गया है।[1] यह आशा और निराशा द्वारा ही जन्म पाती है।[2] किसी भावी सुख की आशा से ही मनुष्य संघर्ष और अशान्ति में पड़ता है, इसलिए उसे दुःख का मूल भी कहा गया है।[3]

यह आशा का रूप है। निराशा में मनुष्य घोर संकट की कल्पना करके घबराता है, संसार में सुख नहीं मानता, सन्तोष-वृत्ति को अपनाता है और काम को असम्भव मान लेता है।[4] निराशा को दूसरी दृष्टि से देखने वालों का कहना है कि निराशा ही जीवन के गम्भीर तत्त्वों और रहस्यों का अनुभव कराती है और उसी के द्वारा मनुष्य साहस संचित करके जीवन को सरल और सुन्दर बनाता है।[5]

शान्ति-अशान्ति—शान्ति मानव-जीवन का परम लक्ष्य है, परन्तु उसका प्राप्त करना बड़ा ही कठिन कार्य है, इसीलिए वह संसार के लिए एक समस्या बन गई है।[6] इस अशान्त और हलचल-भरे संसार में यदि शान्ति कहीं मिल सकती है तो वह ब्राह्मी स्थिति में पहुँचे हुए कर्मयोगी को ही मिल सकती है।[7]

अशान्ति में मनुष्य को अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तोष रहता है, अपना जीवन उसे असफल जान पड़ता है। स्त्री, पुत्र आदि पर अविश्वास हो जाता है, एक विचित्र परेशानी की स्थिति में वह पड़ जाता है।[8]

स्मृति और विस्मृति—स्मृति हमारे समक्ष अतीत की घटनाओं को साकार कर देती है। उसे मन्दाकिनी और पयस्विनी के समान शीतल तथा शिशु स्मित के समान मधुर कहा गया है।[9] वह हठीली बालिका के समान हृदय-मन्दिर में मचल उठती है और प्रियतम के सुखद सम्पर्क के एक-एक प्रसंग को लेकर अठखेलियाँ करती रहती है।[10] विस्मृति सन्तोष की पराकाष्ठा है, असन्तोष की सर्वोच्च सीढ़ी है, विश्वास का केन्द्र है और अविश्वास की जड़।[11] युग-युग की करुण मधुर संस्मृतियों पर विस्मरण का आवरण पड़ने पर सुख और तल्लीनता की प्राप्ति होती है।[12]

दुःख, सुख, वेदना, वियोगादि— दुःख प्रभु का वरदान है। इसी के कारण बुद्ध को निर्वाण, ईसा को भ्रातृभाव और चैतन्य को प्रेम प्राप्त हुआ था।[13] सुख न प्यार में है

---

१. 'जवाहर', ३० ।
२. 'वेदना', ३६ ।
३. 'अन्तस्तल', ५६ ।
४. 'कुमार हृदय का उच्छ्‌वास', ४२ ।
५. 'हृदय तरंग', २७ ।
६. 'अन्तर्नाद', ४६ ।
७. 'अन्तस्तल', ७६ ।
८. 'भावना', ५०, ५१, ।
९. वही, २४ ।
१०. 'हृदय तरंग', ८४ ।
११. 'उन्मुक्ति', ४९ ।
१२. 'भावना', ४० ।
१३. 'अन्तर्नाद', पृष्ठ ३२ ।

न धन में; न ज्ञान में है न यश में, वह तो सन्तोष में है।[१] वेदना जीवन के लिए पारस पत्थर है, जिसके स्पर्श-मात्र से हृदय की भावनाएँ सुवर्ण बन जाती हैं, इसीलिए जिसके पास वेदना है वही जीवन के मार्ग को समझने की शक्ति रखता है।[२] विरह की अग्नि में तप-तपकर ही हृदय दृढ़ता प्राप्त करता है।[३] रुदन जीवन की विश्रान्ति है, पुतलियों का सौन्दर्य है, सूने हृदय का राशि-राशि प्यार है, कवि के अमर काव्य की मधुरिमा है।[४]

इसी प्रकार जीवन की अनेक प्रेरक वृत्तियों को लेकर गद्य-काव्य लिखे गए हैं। ऊपर वर्णित वृत्तियों के अतिरिक्त कल्पना,[५] भावना,[६] तृष्णा,[७] मोह,[८] लज्जा,[९] स्वतन्त्रता, परतन्त्रता,[१०] ईर्ष्या[११] आदि वृत्तियों का विवेचन किया गया।

मनोवृत्तीय विश्लेषण-पद्धति पर ही कुछ अन्य वस्तुओं की परिभाषा और स्वरूप को लेकर चला गया है, जैसे जीवन, मृत्यु, मुक्ति, हृदय, साहित्य-कला, कविता, मातृत्व, स्त्रीत्व आदि। जीवन एक खेल है, जिसकी बाजी मृत्यु के हाथ रहती है।[१२] वह एक ऐसी मदिरा है, जिसे सब चाहते हैं।[१३] मृत्यु अत्यन्त जीवन-प्रदायिनी और संसार के संकटों से मनुष्य को मुक्ति दिलाने वाली है।[१४] इसीलिए उसे 'जीवन का अनन्य सखा' और 'चिर आकर्षण' कहकर पुकारा गया है।[१५] कभी-कभी उसे 'निष्ठुर' कहकर भी पुकारा गया है।[१६] मृत्यु के समय की परिस्थिति के चित्र बहुत-से लेखकों ने दिए हैं।[१७] मुक्ति में जीवन अनन्त आनन्द' प्रकाश से संयुक्त हो जाता है, आत्मा को और अनन्त अमर शान्ति और अमर प्रकाश की प्राप्ति हो जाती है, किसी प्रकार का बन्धन या कष्ट नहीं रहता।[१८] हृदय को ऐसा स्टेशन कहा गया है, जिस पर अस्तित्व अपना 'लगेज' लेकर नहीं आ-जा सकता। अस्तित्व का यह स्थान, आकर्षण का यह देवालय, प्रवाह का यह अमरत्व, गति का यह संकेत दर्शन, गुप्तांगों की तरह मनुष्य के साथ रहता है और

१. 'अन्तस्तल', पृ० १८९, १९०।
२. 'वेदना', पृ० ५७।
३. 'दुपहरिया के फूल', १६।
४. 'वंशी रव', पृ० ४६।
५. 'उन्मुक्ति', पृ० ८।
६. 'शारदीया', पृ० ७३।
७. 'निर्झर और पाषाण', पृ० ३६।
८. 'छाया पथ', पृ० १७।
९. 'शबनम', पृ० २७; 'शारदीया', पृ० ३; 'अन्तस्तल', पृ० १०।
१०. 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', पृ० ८८।
११. 'शारदीया', पृ० ५९।
१२. 'अन्तस्तल', पृ० ७६।
१३. 'वेदना', पृ० २०।
१४. 'साधना', पृ० १०६।
१५. 'चित्रपट', पृ० ८३।
१६. 'अन्तस्तल', पृ० ६०।
१७. वही, पृ० ६४; 'तरंगिणी', पृ० ७६; 'मौक्तिक माल', पृ० ३८।
१८. 'साहित्य देवता', पृ० ५८।

जीवन की समस्त परिमितताओं के साथ यह उसी के साथ रहता आया है, उसी के साथ रहता जाएगा।[१] एक यौवन की तड़प से बेचैन हृदय क्या है ? श्मशान-भूमि। उसमें विचारों, उद्देश्यों तथा आकांक्षाओं और पवित्र भावों की चिताएँ धधकती हैं। उनसे निरन्तर निकलने वाली लपटें इस ईंधन को पाकर और भी प्रचण्डता धारण करती हैं, जो कुछ सामने पड़ जाता है, उसे ही भस्मीभूत करती बढ़ती हैं। बाल्य-काल की चुल-बुलाहट, भोलापन, सौकुमार्य आदि इस अग्नि में आहुति बन जाते हैं।[२] कला की पीढ़ी अंगुलियों की गिनती पर होती है। गंगा से कृष्ण की दूरी ही की तरह एक गरीब की दूसरे गरीब से दूरी होती है, किन्तु उनके इरादों के 'अपनी पर आने' का सेतु बँध जाने पर 'ज़माना-का-ज़माना' इस पार से उस पार और उस पार से इस पार होता रहता है।[३] साहित्य मनोराजा की मृगछाला पर बैठा हुआ बिना शस्त्र और बिना सेना का बृहस्पति है, जिसके अधिकार को कोई चुनौती नहीं दे सकता।[४] श्री माखनलाल चतुर्वेदी का 'साहित्य देवता' साहित्य कला और कविता के स्वरूप को हृदयंगम कराने वाली अभूतपूर्व कृति है। कविता हृदय की भाषा है, मौन शब्दालाप है, निःशब्द सम्भाषण है, नीरव चीत्कार है।[५] कविता के अमरत्व का प्रमाण यह है कि जनक की फुलवारी में सीताराम के प्रथम दर्शन की प्रेम-लीला लोप हो गई। त्रेता की अयोध्या का अस्तित्व न रहा, रावण की स्वर्ण लंका भस्मीभूत हो गई, किन्तु तुलसी के अमर वाग्विलासों में वे ज्यों-की-त्यों आज भी सजीव हैं।[६] मातृत्व के भव्य मन्दिर के स्वर्ण सिंहद्वार का उद्-घाटन विश्वेश्वर ने स्वयं अपने वरद हाथों से किया है और जय और विजय पार्षद उसकी पवित्रता सदा अक्षुण्ण बनाए रखते हैं।[७] नारी भावों के उतार-चढ़ाव अपने आँसुओं में लपेट, काल की अवज्ञा करके न जाने कब से संसार की वेदना को आँचल में बाँध प्रेम का भार ढो रही है।[८] उसमें लाडलों के प्रति अपरिसीम वात्सल्य, कल्याण-सिन्धु के अनन्त बुदबुदों के प्रति दया भाव, प्रीतम के पुनीत पादारविन्दों के प्रति अम्बर का असीम प्रेम और जीवन के लिए मायामोह है।[९] स्त्री कोमल है, क्षमा है, आत्म-समर्पणप्रिय है; पुरुष बल है, साहस है, संकटप्रिय है, स्त्री सहन-शक्ति है, धैर्य है, लज्जा है; पुरुष महत्त्वाकांक्षी है, संघर्ष है, विजय है।[१०]

इसी प्रकार शैशव, कौमार्य, यौवन, सौन्दर्य आदि अवस्थाओं के विषय में भी लिखा गया है। शैशव को प्राणों का पुण्य प्रत्यूष, नूतनता से ओत-प्रोत जीवन का स्वर्ण

१. 'जीवन धूलि', पृ० ११।
२. 'साहित्य देवता', पृ० २८।
३. वही, पृ० ७।
४. 'चित्रपट', पृ० ३७।
५. 'मौक्तिक माल', पृ० ११५।
६. 'शारदीया', पृ० ५१।
७. 'वंशी रव', पृ० १८, १९।
८. वही, पृ० १८, १९।
९. 'तूणीर', पृ० ४४; 'शारदीया', पृ० ७०।
१०. 'चित्रपट', पृ० ८०।

विहान और जीवन के प्रथम प्रभात को एक रहस्यमयी मादकता से आलोकित कर देने वाला कहा गया है।[१] कौमार्य निर्भयता और साहस तथा उदय और उत्कर्ष का केन्द्र, कौतूहल और आतुरता का जनक तथा कर्तृत्व-शक्ति का कोष है। यौवन शैशव की कली को सुमन बनाने वाला है और प्रयोगों की सुन्दर अभिनयशाला है।[२] यौवन के उषा-काल में ही शौर्य प्रवाहित हो सकता है, उसके जाने पर रीती आँखों से किसी को आकर्षित नहीं किया जा सकता।[३] सौन्दर्य उठती हुई एक सुन्दर ज्वाला है, इठलाता हुआ प्रमत्त सागर है, खिला हुआ पंकिल पद्म है। उसकी उपासना की जा सकती है, उसे छुआ नहीं जा सकता।[४] वह अछूता ही पवित्र होता है।[५]

व्यक्ति-प्रधान रचनाओं के विषय—इन रचनाओं में देवता, राक्षस, मानव, ईसा, गांधी, कवि, गायक, कलाकार, पथिक, पागल, युवक, मित्र, माँ, बालक आदि को बार-बार आलम्बन बनाया गया है। देवताओं में शिव को विशेष रूप से स्मरण किया गया है। प्रलय के देवता से शान्ति-स्थापना की प्रार्थना की गई है।[६] जो अमृत देवों ने पिया था वह झूठा था; क्योंकि उन्हें कल्पांत में मरना पड़ेगा, किन्तु जो मृत्यु को ही पी गया उसे मृत्यु कहाँ?[७] वह दोनों का देव, ईश्वर, आदिकवि है; जिसने काल के पत्रों पर मूल प्रकृति की लेखनी से यह संसार-रूपी काव्य लिखा है।[८] राक्षस के रूप में साम्राज्य वादी नर-पशुओं को लिया गया है, जो सुन्दर पृथ्वी को श्मशान बना रहे हैं।[९] ईसा के सम्बन्ध में लिखते हुए उनके सूली पर चढ़ने के समय की परिस्थिति का चित्र और उनके इस विश्वास को महत्त्व दिया गया है कि मैं फिर आऊँगा।[१०] गांधी से प्रार्थना की गई है कि वह मानवता का पथ-प्रदर्शन करे। उसके गुण-गान द्वारा उसकी मानवीय ऊँचाइयों की ओर संकेत किया गया है।[११] इन महान् आत्माओं पर लिखे गए गद्य-काव्यों में मानव-हितार्थ उनके त्याग की ओर संकेत मिलता है।

कवि असंख्य हृदयों की गाथा कहता है।[१२] यदि ईश्वर सौन्दर्य है तो कवि सौन्दर्योपासक है, ईश्वर विश्व-विधायक है तो कवि मानव-हृदय का अधिनायक है।[१३] गायक से प्रार्थना की गई है कि वह देश-काल की परिस्थिति से अनभिज्ञ रहकर बेसुरी

---

१. 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', पृ० ४।
२. 'चित्रपट', पृ० ८२।
३. 'उन्मन', पृ० ८६।
४. 'भावना', पृ० १५।
५. 'उन्मुक्ति', पृ० ३; 'उन्मन', पृ० ८०।
६. 'आँसू भरी धरती', पृ० १; 'शारदीया', पृ० २४।
७. 'छाया पथ', पृ० ६७।
८. 'भावना', पृ० ४८।
९. 'आँसू भरी धरती', पृ० २।
१०. 'चित्रपट', पृ० ७४।
११. वही, पृ० ९५।
१२. 'भग्नदूत', पृ० १५१।
१३. 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', पृ० ९५।

तान न छेड़े और अपनी वारुणी-विभोर शब्दावली को क्रान्त बनाए जिससे कि रसिकता और विलासिता का नाश हो जाए।[१] चित्रकार से भी देश-प्रेम की भावना को रंगों में उतारने की प्रार्थना की गई है।[२] कलाकार का लक्ष्य भूत और भविष्य का एकीकरण है। वह अपने युग की, स्फूर्ति के प्रकाश के रंग में डूबी, भगवान् की प्राणवान प्रेरक और कल्पक कूँची है।[३]

सभ्यता के वर्तमान स्तर पर पहुँचकर भी मानव आज तक अपूर्ण है, क्योंकि वह नाशक अस्त्र-शस्त्र-सज्जित युद्ध-लिप्सा में फँसा है।[४] वह सृष्टि का रत्न है और प्रभु की सर्व-श्रेष्ठ कृति[५], लेकिन प्रमाद और आलस्य में घिरा हुआ पतन की ओर जा रहा है।[६] पथिक से कहा गया है कि जब तक तुम्हें लक्ष्य न मिले, चलते चलो; क्योंकि बिना लक्ष्य-प्राप्ति के जीवन असफल है।[७] पथिक को बहुधा शाश्वत सत्य की खोज के लिए प्रयत्न-शील साधक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[८] पागल प्रतिक्षण इसलिए हँसता है कि उसके हृदय में जितनी करुणा ओत-प्रोत है, उसकी अभिव्यक्ति रुदन से नहीं हो सकती।[९] वह हजारों, लाखों, करोड़ों मनुष्यों में निराला है; क्योंकि वह आनन्द और मस्ती में सदा स्नान करता है। वह अनोखा अपाहिज है, अनहोना अभागा है, निराला निराला है और उसके ऊपर समस्त विज्ञान और सावधानता न्योछावर है।[१०] युवक असत्य और अन्याय का संहारकर्ता है, भयंकर नदी की उत्तुंग धाराओं में क्रीड़ा करने वाला है, और जीवन के युद्ध-क्षेत्र में शौर्य दिखाता है; क्योंकि वह शक्ति है, साहस है, निर्भयता है। चतुर्दिक् नए वातावरण की सृष्टि करना उसका प्रिय कार्य है; समाज, राष्ट्र और संसार का वह सूत्रधार है।[११] युवक पर लिखते समय उसकी आधुनिक फैशन-परस्ती पर व्यंग किये गए हैं और अतीत की स्मृति दिलाई गई है।[१२] मित्र के नाम में मधुरता है और रूप में सुन्दरता; उसका हृदय सान्त्वना का सागर है और उसकी आत्मा में सत्प्रेरणा का स्रोत।[१३] मित्र का सम्पर्क बड़े सौभाग्य की बात है। वह संसार में ऐसा सहायक है जो सब ओर से निराश व्यक्ति को अपनाता है। श्री वियोगी हरि ने अपनी 'तरंगिणी' नामक पुस्तक में

---

१. 'अन्तर्नाद', पृ० ६८।
२. वही, पृ० ५७।
३. 'साहित्य देवता', पृ० २६।
४. 'आँसूभरी धरती', पृ० १३।
५. 'मणिमाला', पृ० १२।
६. 'तरंगिणी', पृ० १०८।
७. 'वेदना', पृ० ६८।
८. 'निशीथ', पृ० २१; 'चित्रपट', पृ० २२, 'मणिमाला', पृ० ३; 'अन्तर्नाद', पृ० ४६; 'शबनम', पृष्ठ ५७; 'चरणामृत', पृ० ४६-५०; 'पूजा', पृ० ६।
९. 'छायापथ', पृ० ८६।
१०. 'अन्तस्तल', पृ० १६२।
११. 'तूणीर', पृ० ३।
१२. 'अन्तर्नाद', पृ० ५५, ६५, ११०।
१३. 'तूणीर', पृ० १७।

कई गद्य-काव्य 'मित्र विनोद' भाग में लिखे हैं, जिनमें मित्र की महत्ता बताई गई है।[१]

माँ और बालक भी गद्य-काव्यों के प्रमुख विषय रहे हैं। माँ और बालक पर सबसे अधिक गद्य-काव्य श्री रायकृष्णदास और श्री वियोगी हरि ने लिखे हैं। उनकी क्रमशः 'प्रवाल' और 'तरंगिणी' तथा 'अन्तर्नाद' नामक पुस्तकें इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने एक ओर माँ के बच्चे के चुम्बन लेने के आनन्द को व्यक्त किया है,[२] तो दूसरी ओर बेटी की विदा पर माता के उद्‌गारों को प्रकट किया है।[३] माँ कभी पालने में पड़े बच्चे को गोद में लेते समय गद्‌गद होती है।[४] शिशु के रूप में माँ अपनी ही झलक देखती है और उसीका रक्त और शरीर ही पुत्र में रहता है।[५] बालक को माँ ने किस प्रकार पाला, इसका भी हृदयग्राही वर्णन हुआ है।[६] उसकी प्रशस्ति भी बड़े मनोयोग से की गई है।[७]

बालक के सम्बन्ध में लिखे गए गद्य-काव्यों में अधिकांश में बच्चे की तोतली बोली में उसके मन की अभिलाषाओं को व्यक्त किया गया है।[८] कभी गधे पर उल्टा बैठने के लिए वह मल्लू बनना चाहता है, कभी पुष्प बनने की कामना करता है,[९] कभी कबूतर बनने की कामना करता है, ताकि गले में परम पिता की चिट्ठी बाँधकर उड़ जाए,[१०] कभी आम का पेड़ ही बनना चाहता है।[११] तोतली बोली में खिलौनों की माँग का वर्णन है।[१२] शिशु-सौन्दर्य का चित्रण भी हुआ है।[१३] उसको गोद में लेने के आनन्द को, जिसे 'वात्सल्य रसानन्द' कहते हैं, 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा गया है।[१४] मातृहीन बालक की करुण दशा पर भी हमारे भावुक लेखकों की दृष्टि गई है।[१५] अमीरों तथा गरीबों के बच्चों के जीवन के अन्तर को भी व्यक्त किया गया है।[१६]

इनके अतिरिक्त व्यक्ति आलम्बनों में संवाददाता,[१७] अलमस्त फकीर,[१८]

---

१. 'तरंगिणी', पृ० ६१ से ६६।
२. 'प्रवाल', पृ० २३।
३. वही, पृ० २७।
४. वही, पृ० ३०-३१।
५. वही, पृ० ३२-३३।
६. वही, पृ० ३६, 'अन्तस्तल', पृ० १७६, 'प्रवाल', पृ० २५।
७. 'कुमार हृदय का उच्छ्‌वास', पृ० ७२, १७६; 'चित्रपट', पृ० १।
८. 'प्रवाल', पृ० १२।
९. वही, पृ० १६।
१०. वही, पृ० १७।
११. वही, पृ० २०।
१२. वही, पृ० ४।
१३. 'अन्तर्नाद', पृ० ३६; 'तरंगिणी', पृ० ८४।
१४. वही, पृ० ३९।
१५. वही, पृ० ८२।
१६. 'तरंगिणी', पृ० ८५।
१७. 'साहित्य देवता', पृ० १२६।
१८. 'शबनम', पृ० ७२।

बनजारा,[1] संन्यासी,[2] पुजारी,[3] सुधारक,[4] मुल्ला,[5] भटियारिन,[6] घसियारिन,[7] मछुआ आदि पर भी गद्य-काव्य लिखे गए हैं, जिनमें उनके जीवन, उनके स्वभाव और उनके कार्य-कलाप पर विचार किया गया है।

तथ्य-प्रधान रचनाओं के विषय—तथ्य-प्रधान स्फुट रचनाओं में जीवन-व्यापी शाश्वत सत्यों का समावेश होता है। इन रचनाओं में ही अन्योक्ति अथवा दृष्टान्त के माध्यम से बड़े काम की बातें की गई हैं। जैसा कि द्वितीय अध्याय में हम कह चुके हैं, खलील जिब्रान ने इस प्रकार की रचनाओं को अद्भुत प्रेरणा दी है। एक ओर उसने लघु कथा को जन्म दिया है तो दूसरी ओर जड़ पदार्थों की छोटी बातचीत द्वारा जीवन के सत्य की व्यंजना की। श्री तेजनारायण काक 'क्रान्ति' की 'निर्झर और पाषाण', ब्योहार राजेन्द्रसिंह की 'मौन के स्वर', और वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कई गद्य-काव्य इसी कोटि में आते हैं। इनके शीर्षक जीवन की प्रेरक भावनाओं पर होते हैं और व्यंजनावृत्ति से काम लिया जाता है। निष्कर्ष निकालना इनका ध्येय होता है। जैसे 'निर्झर और पाषाण' में 'नौका और लहर' की बात कराकर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रगति का अर्थ दूसरे के सुख-दुःख से निर्लिप्त रहना है।[8] 'मौन के स्वर' में 'सड़क और बैलगाड़ी' की बातचीत में यह बताया गया है कि नाम चाहने वालों का नाम नहीं होता, संसार के बोझ से चूर होने वालों का ही नाम होता है।[9]

सूक्ति-प्रधान रचनाओं के विषय—श्री वियोगी हरि के 'ठण्डे छींटे' और हरि-भाऊ उपाध्याय के 'मनन' में रवि बाबू के 'स्ट्रेवर्ड्स'-जैसे विचारों का संकलन है। इनमें समाज, धर्म, साहित्य, कला आदि सभी विषयों पर अपने-अपने दृष्टिकोण से मौलिक चिन्तन किया जाता है। सूक्ति-प्रधान स्फुट रचनाओं में समाज, धर्म, साहित्य, कला, पुरुष, नारी, जीवन, मृत्यु आदि पर भावपूर्ण सूक्तियाँ रहती हैं। श्री वियोगी हरि के 'ठण्डे छींटे' और श्री हरिभाऊ उपाध्याय के 'मनन' में ऐसी ही सूक्तियाँ है। श्री माखन-लाल चतुर्वेदी और श्रीमती दिनेशनन्दिनी में भी सूक्तियाँ खूब मिलती हैं। ये लेखक अपने-अपने दृष्टिकोण से उक्त विषयों पर भावपूर्ण विचार देते हैं, जो बड़े मर्मस्पर्शी होते हैं।

---

१. 'मौक्तिक माल', पृ० ८१।
२. 'मणिमाला', पृ० ५७; 'तरंगिणी', पृ० ५७-५८।
३. 'तरंगिणी', पृ० ७५।
४. 'अन्तर्नाद', पृ० ६०।
५. 'मौक्तिक माल', पृ० ११८।
६. 'अन्तर्नाद', पृ० ५३; 'मौक्तिक माल', पृ० १२५।
७. 'वंशीरव', पृ० ८६।
८. 'निर्झर और पाषाण', पृ० १०।
९. 'मौन के स्वर', पृ० ४३।

चतुर्थ अध्याय

भाषा, अलंकार, रस और भाव-व्यंजना-शैली के रूप

हिन्दी-गद्य-काव्य की धारा विषय-वैविध्य की दृष्टि से ही सम्पन्न नहीं है, भाषा-शैली के अनुपम सौन्दर्य, अलंकारों की मनोहारिणी छटा, रस और भाव की सफल व्यंजना तथा शैली के रूप-विधान की विविधता की दृष्टि से भी वह हिन्दी-साहित्य की किसी भी आधुनिक विधा से हीन नहीं है। गद्य-काव्यकारों के हृदय से बहने वाली रागात्मक अनुभूति की तरल धारा ने अभिव्यंजना के क्षेत्र को नित-नूतन प्रयोगों से विस्तृत बना दिया है। कल्पना की स्वच्छन्दता और विचारों की सम्पन्नता के लिए गद्य-काव्य जितना उपयुक्त है उतना और अन्य शीर्षकभाषा और शैली कोई साहित्यिक विधान नहीं। हमारे गद्य-काव्यकारों ने उसकी सहज उपयुक्तता का पूरा-पूरा लाभ भी उठाया है और अपनी इसी विशेषता के कारण गद्य-काव्य निरन्तर उपेक्षा की वस्तु रहने पर भी अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकने में समर्थ हुआ है। अस्तु,

अब हम सबसे पहले भाषा-शैली पर विचार करेंगे। यों तो लेखक और विषय के अनुसार भाषा-शैली के अनेक भेद हो सकते हैं, पर हम यहाँ दो प्रकार से ही भाषा-शैली का विवेचन करेंगे—एक तो शब्द-संगठन की दृष्टि से और दूसरे प्रवाह की दृष्टि से। इन दोनों वर्गों में भाषा-शैली के प्रायः सभी रूपों का समावेश हो जाता है। इनके आधार पर भाषा-शैली के भेदों की रूपरेखा अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका के अनुसार होगी।

क्लिष्ट संस्कृत-मिश्रित भाषा—हिन्दी-गद्य-काव्यों में इस शैली का मूल उद्गम हिन्दी में कादम्बरी शैली का अनुकरण करने वाले सर्वश्री गोविन्दनारायण मिश्र और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की रचनाओं में मिलता है। आधुनिक गद्य-काव्यकारों में श्री वियोगी हरि ही इसका प्रतिनिधित्व करते हैं, अन्यों में इसके दर्शन यदा-कदा ही होते हैं। इस शैली में पाण्डित्य-प्रदर्शनार्थ क्लिष्ट संस्कृत शब्दों और सामासिक पदावली तथा अनुप्रास की छटा का विशेष रूप से समावेश होता है। पीछे चलकर तो श्री वियोगी हरि भी इस शैली को छोड़ गए, परन्तु उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में इसका प्रमुख स्थान है। इस शैली का एक उदाहरण यह है—"प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन घन तमाच्छन्न कृष्ण वसन लसित निशि समय सजन मनमोहिनी रसिक रस सोहिनी वेणु बजाता है, माधवी मल्लिका मोद लोलुप मलिन्द गुंजार समुल्लसित, नवरस पूरित, सप्रेम
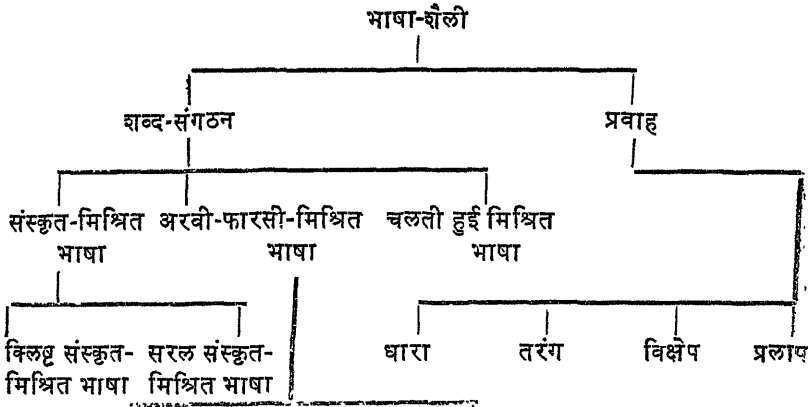
प्रतिभा समुद्भित कवि हृदय द्वारा स्वच्छन्द आनन्दकन्द सन्देश भेजता है और कभी-कभी विरह-दग्ध उर निस्सरित प्रेमाश्रु वर्षण वा संयोग गत प्रगाढ़ आलिंगन रोमहर्षण में अपनी सुप्रीतिमय झलक दिखा जाता है।"[1]

सरल संस्कृत-मिश्रित—श्री रायकृष्ण दास ने अपनी 'साधना' द्वारा इसका प्रचार किया है। साधना-शैली के गद्य-काव्यों में यही शैली अपनाई गई है और कहना न होगा कि गद्य-काव्य की अधिकांश पुस्तकें इसी शैली में हैं। श्री वियोगी हरि की 'अन्तर्नाद' और 'भावना' तथा श्री माखनलाल चतुर्वेदी और चतुरसेन शास्त्री के छोटे-छोटे गद्य-गीतों में भी यही शैली है। यों इसी शैली को गद्य-काव्य की स्वाभाविक शैली कहा जा सकता है। इसमें उर्दू का पुट बहुत ही न्यून या न-कुछ के बराबर होता है। इसमें माधुर्य का समावेश होता है और भावपूर्णता की दृष्टि से सीधे-सादे शब्दों में ही अपनी बात कही जाती है, जैसे 'जब मैं जागता रहता हूँ तब मेरा मन सोता रहता है और प्रियतम के स्वप्न देखा करता है। जब मैं निद्रित होता हूँ तब मेरा मन जाग जाता है और उसके साथ विहार करने लगता है तथा मैं उसके सुखद स्वप्न का आनन्दोपभोग करता हूँ, परन्तु जब सुषुप्तावस्था आती है तब तो मै और मेरा अन्तःकरण दोनों ही तद्रूप हो जाते हैं, क्योंकि उस समय प्राणेश के गाढालिंगन का सुख मुझे मेरे सर्वस्व-सहित मूर्च्छित कर देता है। मेरी एकान्त कामना है कि मैं नित्य उसी दशा में रहूँ।[2]

क्लिष्ट अरबी-फारसी-मिश्रित भाषा—जैसे क्लिष्ट संस्कृत-मिश्रित भाषा के लिए श्री वियोगी हरि प्रसिद्ध हैं, वैसे ही क्लिष्ट अरबी-फारसी-मिश्रित भाषा के लिए श्रीमती दिनेशनन्दिनी प्रसिद्ध हैं। वे रंगीन भाषा को गद्य-काव्य का प्रमुख उपादान मानती हैं और रंगीन भाषा का उनका अभिप्राय ऐसी ही भाषा से है। यों उनकी रचनाओं में पीछे चलकर सरल संस्कृत-मिश्रित भाषा को अपनाया गया है और पहले के अरबी-फारसी

१. 'तरंगिणी', पृ० ५४।

२. 'साधना', पृ० २१।

शब्दों के मोह को छोड़ दिया गया है, परन्तु उनकी शैली का वैशिष्ट्य इसी अरबी-फारसी-मिश्रित भाषा में है। कहीं तो पूरे-का-पूरा गीत ही ऐसा होता है कि सामान्य पाठक को उर्दू-कोश उठाना पड़े, जैसे, "तपस्वी! मेरी साँस के कुहरे से तुम्हारे गुल काले पड़ जाएँ, मुरझा जाएँ, मौत के रंग से रंगे शव मिट जाएँ और साधना की पलकों में अलसित अपने हुस्न को सजा न सकने के कारण सदाएगैब तुम्हें कोसे, कैफियत माँगे तो तुम इन्कार न करना, न परेशान ही होना, क्योंकि मैं जल्द ही इस मार्ग से हट राजे-अज़ल में आशियाँ बनाऊँगी।"[1]

कहीं-कहीं संस्कृत शब्दों के साथ भी उनका प्रयोग होता है—"अलम की फौज ने मेरा गुलशन उजाड़ दिया। कहाँ गए वे मधुप, जो इठला-इठलाकर मेरे चमन की कलियों का रसास्वादन करते थे? कहाँ अन्तर्हित हुए वे बुलबुल, जिन्हें यह उल्फत का उद्यान था सदा मुबारक और गूँजता था रात और दिन प्रेम का राग उनकी जबाँ से? कहाँ बसती हैं अब वे सूरतें जो इस बोस्ताँ में झूम-झूमकर चाँद के प्याले में अंगूर का आसव पी-पीकर बेसुध हो जाती थीं।"[2] आचार्य चतुरसेन शास्त्री और श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने भी कहीं-कहीं इस शैली का प्रयोग किया है।

सरल अरबी-फारसी-मिश्रित भाषा—गद्य-काव्यों में प्रेमचन्द-प्रवर्तित इस प्रकार की भाषा-शैली का प्रतिनिधित्व आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने किया है। शास्त्रीजी ने मुहावरेदार, चलती हुई भाषा-शैली में भावों और मनोविकारों का बिम्ब ग्रहण कराया है। शोक का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं—"आसमान का इतना ऊँचा ज़ीना, वह कैसी सरलता से चढ़ गया? याद से दिल की धड़कन बढ़ती है, जिगर में दर्द उठता है। गई, वह चाँद-सी सूरत गई—वह आँख का नूर गया—वह हृदय की तरावट गई—वह गई—वह होंठों की लाल रंगत, वह मुस्कराहट—वह-वह, वह-वह सब चली गई! चली गई!! जैसे फूल से सुगन्ध उड़ जाती है, जैसे नदी का पानी सूख जाता है, जैसे चन्द्रग्रहण पड़ जाता है? जैसे? ठहरो सोचता हूँ—जैसे? नहीं, कुछ याद नहीं आता। जैसे···! हाँ! जैसे दिये का तेल जल जाता है—वैसे ही उसकी नन्ही-सी जान निकल गई थी।"[3]

श्री वियोगी हरि की पीछे की रचनाओं में भी इसी प्रकार की भाषा मिलती है, जैसे—"जिसके दिल में दीन-दलितों के लिए दर्द नहीं, उसकी आत्मा पर प्रेम का अमिट रंग कैसे चढ़ सकता है? और जिसकी अन्तरात्मा प्रेम के रंग में नहीं रँगी गई है उसे कोई हक नहीं कि वह परम पिता परमात्मा का पवित्र नाम अपनी ज़बान पर लाए। परमेश्वर तभी तुम्हें प्यार करेगा, जब तुम उसके दीन-दलित बच्चों को प्यार की दृष्टि से देखोगे।"[4]

चलती हुई मिश्रित भाषा—इस शैली में स्थानीय शब्दों और प्रयोगों का

---

१. 'दुपहरिया के फूल', खण्ड २, पृ० ८।
२. वही पृ० ३२।
३. 'अन्तस्तल', पृ० ४१-४२।
४. 'ठण्डे छींटे', पृ० ५६।

समावेश करने के लिए स्वाभाविकता लाई जाती है। सर्वश्री रायकृष्णदास और चतुरसेन शास्त्री ने इसे विशेष रूप से अपनाया है। श्री रायकृष्णदासजी में बनारसी प्रयोगों की प्रधानता है तो श्री चतुरसेन शास्त्री में कुरु प्रदेश के मुहावरों की। यहाँ दोनों का एक-एक उदाहरण दिया जाता है—

१. बच्चे ही तो ठहरे छैला। उसे माँ ने एक खिलौना दिया, आपने उसे छाती से लगा लिया। प्यार करने लगे। लोरियाँ सुनाने लगे। हथेलियों पर रखकर मिचकी देने लगे।[1] या "तुम बार-बार अपने पंजे फैलाकर चुक्का-पुक्का बता रहे हो, क्या तुम उनसे और मिठाई निकलवाने जाते हो?"[2] (रायकृष्णदास)

२. "कोने में एक मिट्टी का घड़ा लुढ़क रहा था, भीतर उसमें पानी था और ऊपर ओग बह रहे थे। गूदड़े गीले और मिट्टी-जैसे थे। उसका शरीर जल रहा था, उस पर ओढ़ना नहीं था। घर में नरक का वास था।"[3] या "जीवन के रस में बुढ़ापे की किरकिरी मिल गई। इस पुराने चिराग का सब तेल चीकट बन गया। भोगने की हौंस भोगों को ढोते-ढोते ही मर गई। रसोई बनाते-बनाते ही भूख मर गई।"[4]

धारा-शैली—इस शैली में भावों की धारा प्रवाहमयी रहकर प्रायः एक गति से चलती है। सर्वश्री रायकृष्णदास और वियोगी हरि में इसके दर्शन होते हैं। इन दोनों की कृतियों में एक-सी गति से भाषा बहती जाती है। रायकृष्णदासजी की शैली पर लिखे गए गद्य-काव्यों में यही धारा-शैली मिलेगी। इसका प्रयोग हिन्दी-गद्य-काव्यों में सबसे अधिक हुआ है। इसका कारण यह है कि इसमें सारल्य और अकृत्रिमता दोनों का निर्वाह एक साथ हो सकता है। जैसे—"हे मेरे नाविक, यह कैसी बात है कि जब मेरी नाव मँझधार में थी ही तब तो तुम्हें हटाकर मैंने डाँड ले लिए थे और सगर्व तुम्हारे आसन पर आसीन होकर बड़ा भारी खिवैया बन बैठा था। पर जब वह धार से पार होकर गम्भीर जल में पहुँची तब मैं हारकर उसे तुम्हारे भरोसे छोड़ता हूँ। तब तो नाव धार के सहारे बह रही थी, खेने की आवश्यकता न थी। इसीसे मेरी मूर्खता न खुली। पर अब तो इस गम्भीर जल से चतुर नाविक के बिना और कौन नाव निकाल सकता है!"[5] (रायकृष्णदास)

इसका कुछ अधिक ओजमय रूप श्री वियोगी हरि में की इस शैली मिलता है—"भागवत भूषण, कौन कहता है कि तू कोरा राजनीतिक पथ-प्रदर्शक है? तू तो एक शुद्ध भागवत है। तेरी प्रेमानन्यता में गोपिकाओं की, कीर्तन में गौरांग देव की और भक्ति-विह्वलता में मीरा की प्रतिमूर्ति सामने आ खड़ी होती है। भक्ति की मूर्च्छिता लता को आज तू अपने आँसुओं से सींच-सींचकर अनुप्राणित कर रहा है।"[6]

तरंग-शैली—तरंग-शैली धारा और विक्षेप-शैली के बीच की वस्तु है। इसमें

---

१. 'साधना', पृ० ७७।
२. 'प्रवाल', पृ० २१।
३. वही, पृ० ३४।
४. 'अन्तस्तल', पृ० ३५।
५. 'साधना', पृ० २९।
६. 'अन्तर्नाद', पृ० ३५।

भाव लहराते हुए-से प्रतीत होते हैं और तरंग की भाँति उठते-गिरते-से लगते हैं। इस शैली का प्रतिनिधित्व सर्वश्री चतुरसेन शास्त्री और माखनलाल चतुर्वेदी करते हैं। निम्न-लिखित उद्धरणों में तरंग शैली की झलक मिलती है—

१. "सिर्फ हजार की ही तो बात थी ? वह भी नहीं दे सका। देना एक ओर रहा—पत्र का उत्तर तक नहीं दिया। एक, दो, तीन, चार सब पत्र हजम किए ? सब पचा लिए ? यही मित्रता थी ? मित्रता ? मित्रता कहाँ है ? मित्रता एक शब्द है, एक आडम्बर है, एक विडम्बना है, एक छल है—ठीक छल नहीं, छल की छाया है। वह भूत की तरह बढ़ती है, रात की तरह काली है, पाप की तरह काँपती है।"[1] (चतुरसेन शास्त्री)

२. "मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ। मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो, कलम की जीभ को बोल लेने दो; किन्तु हृदय और मसिपात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्द्ध-विराम, अल्हड़ता का अभिराम, केवल श्याम-मात्र होगा। परन्तु ये काली बूँदें अमृत-बिन्दुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक और मेरे लिए अधिक मूल्यवान हैं। मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ परन्तु तुम सीधे कहाँ बैठते हो ? तुम्हारा चित्र बड़ी टेढ़ी खीर है। सिपहसालार, तुम देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो, हृदय से छनकर धमनियों में दौड़ने वाले रक्त की दौड़ हो और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त तर्पण भी।"[2] (माखनलाल चतुर्वेदी)

विक्षेप-शैली— विक्षेप-शैली कुछ-कुछ उखड़ी हुई रहती है, उसमें तारतम्य और नियन्त्रण का अभाव रहता है। इस शैली के दर्शन महाराजकुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह की रचनाओं में विशेष रूप से होते हैं। महाराजकुमार के लम्बे गद्य-काव्यों में तो इस शैली का विशेष रूप से ग्रहण हुआ है। जैसे—"सब-कुछ सपना ही तो था···देखते-ही-देखते विलीन हो गया। दो आँखों की यह सारी करामात थी। प्रथम तो एकाएक झोंका आया, अकबर मानो सोते से जाग पड़ा, स्वप्न-लोक छोड़कर भौतिक संसार में लौट आया। स्वप्न भंग हो गया और साथ ही स्वप्न-लोक भी उजड़ गया···और तब रह गई उनकी एक-मात्र स्मृति। किन्तु दो आँखें—अकबर की ही आँखें ऐसी थीं, जिन्होंने यह सारा स्वप्न देखा था, जिनके सामने ही इस स्वप्न का सारा नाटक—कुछ काल के लिए ही क्यों न हो—एक सुन्दर मनोहारी नाटक खेला गया था···जिसमें अकबर स्वयं एक पात्र था, उस स्वप्न-लोक के रंगमंच पर पूरी शान और अदा के साथ अपना पार्ट खेलता था।"[3]

छोटे गद्य-गीतों में भी उन्होंने वही शैली अपनाई है—"मानव-प्रेम का वह प्रारम्भ, जीवन के साथ वह अनोखा खिलवाड़, प्रेम का क्षणिक अन्त, प्रणय का भंग होना, ···टूट गए वे कोमल हृदय, उमड़ पड़े वे आँसू, निकल पड़ी उनकी वे तपतपाती हुई उसाँसें···वे व्यथित, विरह-पीड़ित व्यक्ति पड़े सिसकने लगे। रँग दिया उन्होंने सन्ध्या के उन उजले बादलों को अपने हृदय-रुधिर की लाली से, भस्मसात् करने लगे उस तपतपाते

१. 'अन्तस्तल', पृ० ५१
२. 'साहित्य देवता', पृ० २, ५।
३. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ९२।

सूर्य को वे अपनी आहों से, जिससे विचलित होकर वह पश्चिमी सागर में डुबकी लगाने दौड़ पड़ा।"[१]

प्रलाप-शैली—विक्षेप-शैली में जब भावावेश का वेग मर्यादा से बाहर हो जाता है और उसमें उच्छृङ्खलता-सी आने लगती है तब वह प्रलाप-शैली हो जाती है। हिन्दी में 'सौन्दर्योपासक' और 'उद्भ्रान्त प्रेम' की शैली की रचनाओं में यह प्रलाप-शैली खूब विकसित हुई। इसके उदाहरण ये हैं—

१. "कह नहीं सकता, बता नहीं सकता, वह कैसी थी—मेरी परिणीता कैसी थी। चन्द्रकिरण धवलित रात्रि में उसे ज्योत्स्ना की तरह प्रकाशमयी देखा था। जाह्नवी के पुनीत तट पर उसे भगीरथ की भाँति पुण्यमयी देखा था, शिशु-मण्डल के बीच उसे मुसकान के समान आनन्दमयी देखा था। उसे देखा था अनेक बार देखा था—किन्तु अब कहाँ देखता हूँ।"[२] (लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु')

२. "हा! प्रेम भी एक क्या मधुर माया-जाल है? क्या इसके भीतर कोई सुख नहीं, केवल सुखाभास-मात्र है? सच है—प्रणय-राज्य में जीव को कभी सुख नहीं मिलता। मिलते मिला नहीं जाता, बिछुड़े बिछुड़ा नहीं जाता। प्रभो! क्या यह जीवन एक भ्रान्तिमय है—एक मरीचिका है?"[३] (राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह)

३. वह केवल ज्योति थी, वह केवल ज्योति की आत्मा थी—वह केवल ज्योति की आत्मा की परामूर्ति थी; वह केवल उस पर रूप की तन्मात्रा थी। वह वह थी—मैं वह था।" (मोहनलाल महतो 'वियोगी')

यहाँ प्रवाह की दृष्टि से धारा, तरंग, विक्षेप और प्रलाप-शैली के जो उदाहरण दिए गए हैं और उनके प्रतिनिधि लेखकों के नाम लिखे गए हैं, उसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने केवल इन्हीं शैलियों में लिखा है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि उन्होंने प्रमुख रूप से इन शैलियों को अपनाया है। अन्यथा प्रत्येक लेखक में न्यूनाधिक मात्रा में सभी शैलियाँ मिल सकती हैं। कुछ लेखकों की रचनाओं में तो एक साथ सब शैलियों का समान ग्रहण हुआ। उदाहरण के लिए श्रीमती दिनेशनन्दिनी की रचनाएँ ली जा सकती हैं। वस्तुत: बात यह है कि धारा, तरंग, विशेष और प्रलाप शैलियाँ उत्तरोत्तर संतुलित होते रूप का स्पष्टीकरण करती हैं। ऊपर के उदाहरणों से यह प्रकट है कि किस प्रकार प्रलाप शैली में जाकर भाव सँभाले नहीं सँभालता और लेखक की भाषा उसके अधिकार से बाहर चली जाती है। एक बात और। धारा और तरंग, तरंग और विक्षेप, विक्षेप और प्रलाप में परस्पर बहुत कम अन्तर है। सम्भवत: यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने केवल धारा और तरंग दो ही शैलियाँ ऐसी रचनाओं की मानी हैं।[४] उनकी बात किसी सीमा तक ठीक है, परन्तु फिर भी हमारे द्वारा वर्गीकृत और उदाहृत शैलियाँ भावावेश के अनुपात का आभास कराने के लिए पर्याप्त सामग्री देने में समर्थ हैं।

---

१. 'जीवन धूलि', पृ० ६१।
२. 'वियोग', पृ० ३३-३४।
३. 'नवजीवन या प्रेमलहरी', पृ० ४७।
४. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ४०।

अलंकार-विधान

हिन्दी-गद्य-काव्यों का अलंकार-विधान बड़ा ही स्वाभाविक और आकर्षक है। इसका कारण यह है कि गद्य-काव्यों में अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता होने से वे स्वत: ही आ जाते हैं। पद्य-काव्य की भाँति उनके लिए प्रयास वहाँ नहीं होता। साथ ही गद्य-काव्य का आधार भावावेश है। इसलिए उसे व्यक्त करने के लिए वे ही अलंकार आ सकते हैं जो भावोत्कर्ष में सहायक हों और जिनके बिना कार्य न चल सके। परिमाणत: प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अलंकारों का प्रयोग ही गद्य-काव्यों में हुआ है। उनमें भी अर्थालंकार का प्रयोग अधिक हुआ है, शब्दालंकारों का बहुत ही कम। अत: पहले हम अर्थालंकारों पर विचार करेंगे और उसके बाद शब्दालंकारों को लेंगे।

हिन्दी-गद्य-काव्यों में प्रयुक्त चुने हुए अर्थालंकार दो प्रकार से आए हैं—शैली के रूप में प्रयुक्त अलंकार और स्फुट रूप से आने वाले अलंकार।

शैली के रूप में प्रयुक्त अलंकार—शैली के रूप में प्रयुक्त अलंकारों का अभिप्राय है पूरे-के-पूरे गद्य-काव्य या गद्य-गीत में आने वाले अलंकार से। ये अलंकार आरम्भ से लेकर अन्त तक रचना को घेरे रहते हैं और उनके द्वारा ही भाव की व्यंजना हो जाती है। शैली के रूप में प्रयुक्त प्रमुख अलंकारों का निम्न रूप है—

अन्योक्ति अलंकार—प्राचीन काल से इस अलंकार द्वारा भावों की व्यंजना होती आ रही है। नीति-सम्बन्धी तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए तो यह सर्वाधिक प्रयुक्त शैली है। दीनदयाल गिरि का 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' ग्रन्थ इसी शैली में लिखा गया है। जायसी ने अपने 'पद्मावत' में इसी शैली को अपनाया है। कबीर ने भी रहस्यवाद की व्यंजना के लिए इसका आश्रय लिया है। आधुनिक हिन्दी-गद्य-काव्यों में इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है। सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, महाराजकुमार डॉ० रघुबीर-सिंह, और वियोगी हरि ने विशेष रूप से इसका आश्रय लिया है। महाराजकुमार ने एक पुष्प के माध्यम से निराश प्रेमी की जो झलक दिखाई है वह अन्योक्ति का अच्छा उदाहरण है। वे लिखते हैं—"पुष्पों ने वृक्ष से नाता तोड़ा, अपने प्रेमी भ्रमरों को छोड़ा, सुकोमल हरे-हरे पत्तों की सेज छोड़ी, यही नहीं तीखे काँटों को, जो उसके रक्षक थे, उन्हें भी छोड़ दिया।···और यह सब इसी आशा में कि आराध्य देव के गले का हार बनेंगे, या उसके पूज्य चरणों में चढ़ेंगे। किन्तु आशा पर पानी फिर गया। उन्हें गले लगाने से हिचके···उसके लिए पुष्प को बिंधना पड़ेगा। और चरणों में भी स्थान नहीं मिला। उस सुकोमल पुष्प को पैरों में डाला गया। उन्हें क्या मालूम था कि जिन्हें वे निष्ठुरताएँ समझ बैठे थे, उनसे भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को वह सहन कर चुका था।···किन्तु नहीं··· ऐसी साधारण-सी बातों का विचार करने में वे उसकी सारी आशाओं को ही कुचल बैठे। और अपनी-अपनी आशाओं को दिल में छिपाए ही वह पुष्प सूख गया। यह देखकर कि आराध्य देव उसे ऐसे साधारण बलिदान के योग्य भी नहीं समझते, उसने अपने भाग्य को कोसा, वह दिल मसोसकर रह गया और इसी दुःख के मारे वह मुरझा गया।"[1]

---

१. 'जीवन धूलि', पृ० ५४।

श्री सद्‌गुरु शरण अवस्थी ने तो इसी पद्धति पर 'भ्रमित पथिक' नामक एक ग्रन्थ भी लिखा है, जिसमें सर्वत्र कवित्वमय गद्य की छटा छहरती हुई दिखाई देती है।

रूपक अलंकार—अन्योक्ति की भाँति यह भी प्राचीन काल से प्रयुक्त अलंकार है। तुलसी के 'रामचरितमानस' और सूर के 'सूर सागर' में ही सांगरूपकों की भरमार नहीं है, देव, बिहारी, पद्‌माकर और सेनापति में भी उसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। इस शैली का प्रयोग यों तो सर्वश्री रायकृष्णदास, दिनेशनन्दिनी, चतुरसेन शास्त्री आदि सभी ने किया है, परन्तु श्री वियोगी हरि रूपकों के सम्राट् हैं। रूपक शैली का एक उदाहरण उनकी 'भावना' मे यहाँ दिया जाता है, जिसमें प्रीति की पतंग का विधान है—

"मैंने तुम्हारे लिए एक प्रीति की पतंग बनाई है। कहा, उड़ाओगे। अच्छा लो! लगन की डोरी से इसे उड़ाओ! जितना चाहो उतना ऊपर चढ़ा सकते हो! डोरी कम नहीं है।

"कैसा ही झटका दो, पतंग कटेगी नहीं। इसमें मैंने धारणा का कागज और श्रद्धा की काँप लगाई है और भावना की लेई से जोड़ चिपकाए हैं। इतने पर भी क्या तुम्हारे नन्हे-से हाथ के झटके से मेरी प्रीति की पतंग कट जाएगी?

"डोरी भी न टूटेगी। तुम्हारी प्रतीक्षा के अगणित क्षणों को बट-बटकर मैंने उसे तैयार किया है और आँसुओं में सानकर विरह का माँजा भी उस पर चढ़ाया है। इतने पर भी क्या तुम्हारे नन्हे-से हाथ के झटके से मेरी लगन-डोरी टूट जाएगी?

"सच मानो, प्यारे वत्स! यह पतंग मैंने तुम्हारे ही लिए बनाई है। सो, लो, इसे उड़ाओ!"[1]

श्रीमती शकुन्तला कुमारी 'रेणु' का नाव का एक रूपक और भी सुन्दर है—

"जीवन-नौका का तुमने निर्माण किया देव! इस जीवन-नौका का तुमने निर्माण किया! हाँड़-माँस के काष्ठ-कील एकत्रित करके, हाँ तुम्हींने तो इस जीवन-नौका का निर्माण किया। चेतनता की पतवार इसमें डाली और हँसते-हँसते भवाम्बुधि में इसे छोड़ दिया। तुम्हारा तो यह केवल विनोद था, विश्वाधार! तुम्हारा तो यह एक खेल था।

सुख-दुःख की चपल तरंग-मालाओं पर थिरकती हुई यह अबाध गति से चलने लगी। चल ही रही है। हाँ—चली जा रही है···किन्तु कौन जाने, भव सागर में कहाँ जाकर इसका अवसान होगा? कौन जाने? हा, कौन? कौन??"[2]

मानवीकरण अलंकार—यह आधुनिक युग की कविता में और गद्य-काव्य में भी प्रमुख रूप से प्रयुक्त होने वाला अलंकार है। इसके द्वारा मूर्त पदार्थों तथा अमूर्त भावनाओं का सजीव प्राणी के रूप में चित्रण होता है। गद्य-काव्य लिखने वाले सभी लेखकों ने इसका प्रयोग किया है। साधना-शैली के लेखकों ने तो इसे अपरिहार्य रूप से अपनाया है। मूर्त पदार्थों में प्रकृति के दृश्यों का चित्रण इस शैली में इस प्रकार हुआ है—

"सवेरा हुआ। सूर्य लोक की किरण-कुमारियाँ जाग उठीं। वे शोख छोकरियाँ—कहीं इसे जगा, कहीं उसे; कहीं इस कली का मुँह चूम, कहीं उसका हृदय खोल; कहीं इसे गुदगुदा, कहीं उसे हँसा; कहीं इस सरोवर में नहा, कहीं उस सरोवर को लहरा;

१. 'भावना', पृ० ६८।
२. उन्मुक्ति पृ० २५।

कहीं इसे तैर, कहीं उस चोटी पर चढ़; कहीं इस विहग-मण्डली को गँवा, कहीं उस भ्रमरा-वली को गुँजा; कहीं यहाँ रंग का छिड़काव कर, कहीं वहाँ रंग घोल—अपने खिलवाड़ से उन्होंने सारे दिगन्त में नया जीवन भर दिया !"[1]

"रसिक मेघों की चुम्बन-लालसा-सी छोटी-छोटी नव फुहियों द्वारा धुले हुए अश्रु आकाश के नव-निर्मित-मिलन-मन्दिर में स्नेह-प्रतीक्षा में झूमती हुई लज्जिता रजनीबाला अपनी नीलम-सी सारी समेटे बैठे थी, प्रियतम के आगमन की घड़ियाँ गिनती हुई ।

'प्रियतम इन्दु ! वह उसकी पूजा करेगी । पूजा के लिए उसने चुन-चुनकर फूल इकट्ठे किए थे । फूलों से झोली भरी थी, निर्बन्ध कल्पनाओं से हृदय भरा था । पराग से फूल भरे थे, आशा से कल्पना भरी थी । मिलन की इस प्रतीक्षा में सारा वातावरण मौन था ।"[2]

"उषा प्रकृति की सर्वोत्तम मूर्त प्रतिमा है । उषा सोकर उठी हुई तरुणी है, उसके बदन में उल्लास की लालिमा है और अंग-अंग में शक्ति, प्राण और सञ्चार । उषा शक्ति-रूप की देवी है । वह संसार को शक्ति प्रदान करती है । उषा संजीवनी है, वह जगत् को सजीव बना देती है । देखो, सवेरा होते-न-होते उषा ने अपना काला घूँघट उतार डाला । उसके आगमन के समय जो नूपुरों की झनकार होती है, वही इन पक्षियों का कल-रव है । उषा की रक्तिमा संसार-भर में प्रतिफलित होकर उसे अनुरंजित कर देती है ।"[3]

यहाँ प्रथम उदाहरण में किरणों का, द्वितीय में रजनी का और तृतीय में ऊषा का मानवीकरण हुआ है ।

अमूर्त वस्तुओं के मानवीकरण में दो उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं, जिनमें से पहला 'स्वार्थ' और दूसरा 'विश्व सुन्दरी' के मानवीकरण से सम्बद्ध है—

"रे निर्लज्ज स्वार्थ, मैंने तुझे कितनी बार रोका, पर तूने एक न सुनी और दुराग्रह से मेरे पीछे-पीछे चला ही आता है । देख, लौट जा, हठ मत कर !

"तेरे साथ रहकर मैंने क्या-क्या कष्ट नहीं उठाए और संसार में किससे भला-बुरा नहीं कहा ? तेरा अंग कोमल है, किन्तु स्पर्श करते ही हाथ प्रचण्ड कामाग्नि से जलने लगता है । तेरा भाषण मधुर एवं मनोरञ्जक है, पर उससे घोर विष के उद्‌गार निकलते हैं । तू बिना ही माँगे द्रव्य का ढेर लगा देता है किन्तु उसे तृष्णा सर्पिणी, जो तेरी सह-धर्मिणी है, अपनी बाँबी बना लेती है । तेरे नेत्र बड़े ही रसीले और चुभीले हैं, पर दृष्टि मिलाने पर विवेक के राज्य में अन्धा होना पड़ता है । तू चतुर ठग है । तेरी काल-कोठरी में प्रवेश करते हुए मेरे धवल वस्त्र में कलुष कज्जल की अनेक कुटिल रेखाएँ खिच जाती हैं । मैंने तुझे भली-भाँति जान लिया । देख, लौट जा, हठ मत कर ।"[4]

"समुद्र और धरिणी का परिधान पहन विश्व-सुन्दरी गगन की मुग्ध शैया पर तारों का तकिया लगाकर सोती है । मराली के कोमल बच्चों के समान बादल उसकी स्वप्निल अलकों से अठखेलियाँ करता है और प्यार के चुम्बन शान्ति के श्वेत कपोलों

---

१. 'छाया पथ', पृष्ठ ५७ ।
२. 'वेदना', पृष्ठ ३३ ।
३. 'मणिमाला', पृष्ठ ७ ।
४. 'तरंगिणी', पृष्ठ ७४ ।

में परिणत हो किसी हरित प्रदेश के प्रशान्त प्रांगण में उड़कर विश्रान्ति लेते हैं और सुरसरी ओजभरी बहाते हैं।"[1]

इन अलंकारों के अतिरिक्त कहीं-कहीं उल्लेख, व्यतिरेक, विभावना आदि अलंकारों में भी पूरे गद्य-गीत लिखे गए हैं। रायकृष्णदास, भँवरमल सिंघी और दिनेशनन्दिनी ने ऐसे प्रयोग अधिक किये हैं।

स्फुट रूप से आनेवाले अलंकार—शैली के रूप में प्रयुक्त होने वाले जिन अलंकारों का उल्लेख ऊपर हो चुका है, उनका प्रयोग स्फुट रूप में भी हुआ है। उनके अतिरिक्त स्फुट रूप में जिन अलंकारों का विशेष प्रयोग हुआ है वे हैं उपमा, उत्प्रेक्षा, रुपक और उदाहरण। यों तो इनका प्रयोग सभी लेखकों ने किया है, फिर भी उपमा के लिए रायकृष्णदास, उत्प्रेक्षा के लिए चतुरसेन शास्त्री और रूपक के लिए वियोगी हरि तथा उदाहरण के लिए दिनेशनन्दिनी का आग्रह रहता है। स्फुट रूप में आने वाले प्रमुख अलंकारों का विवेचन यहाँ किया जाता है।

उपमा—उपमा अलंकार का प्रयोग दो प्रकार से हुआ है। एक तो सामान्य प्राकृतिक दृश्य-चित्रण में पूर्णोपमा का प्रयोग और दूसरे भावना, सौन्दर्य अथवा उसके प्रभाव को व्यक्त करने में मालोपमा का प्रयोग। उपमाएँ अपने दोनों ही रूपों में अनूठी, अछूती और अपूर्व हैं।

पूर्णोपमा का प्रयोग नीचे के उदाहरणों में अत्यन्त सुन्दर ढंग से हुआ है—

१. "जिस जामुन के पेड़ के नीचे हम खड़े थे उसके सूखे पत्ते खड़खड़ाकर अन्तरिक्ष में नाचते हुए शाप-च्युत अप्सरा की तरह जल में गिर पड़े—धीरे-धीरे आगे बढ़े।"[2]

२. "चन्द्रमा नीले आकाश की गोदी से उतरकर धुनी हुई रुई के समान छिटके हुए बादलों के झुण्ड में दौड़ने लगा।"[3]

कहीं-कहीं अमूर्त उपमानों से भी उपमा की सुन्दरता बढ़ाई गई है। जैसे—

"ज्योत्स्ना की आँखों से निकले हुए नन्हे बादल के रंगीन टुकड़े क्षत-विक्षत आकांक्षा की तरह आकाश में इधर-उधर उड़ने लगे।"[4]

मालोपमा के उदाहरण ये हैं—

१. "बेइख्तियार मैंने उसकी एक मिट्ठी ली। आह! कितनी मीठी थी—कवियों की कल्पना-जैसी, प्रेमियों के आलाप-जैसी, कुलवधुओं की लज्जा-जैसी, नहीं-नहीं, अपने ही जैसी।"[5]

२. "ढरक गए? हाय! तुम मेरी स्वर्गीया पत्नी के मृदुल प्यार की स्मृति की तरह प्यारे थे। तुम मेरे अनुत्पन्न पुत्र के छोटे-से होंठों की निर्दोष मुस्कराहट की स्वप्न-

---

१. 'उन्मन', पृष्ठ ११।
२. 'छायापथ', पृ० ७।
३. 'चित्रपट', पृ० २५।
४. 'उन्मन', पृ० ३६।
५. 'प्रवाल', पृ० २३।

वासना की तरह मधुर थे। प्यार की प्रथम चोट की तरह गम्भीर और तूफान की तरह जंगली थे।"[१]

३. "सन्ध्या के प्रथम तारे-से नवीन, पुलक के स्वप्निल स्पन्दन-से मुग्ध, सृष्टि के स्मित हास-से मधुर और जीवन की एकाकी आशा-से सुन्दर तुम प्रतीत हुए।"[२]

उत्प्रेक्षा—उपमा की भाँति उत्प्रेक्षा का प्रयोग भी दो प्रकार से हुआ हैं। अकेली एक ही उत्प्रेक्षा और एक साथ कई उत्प्रेक्षाएँ। इसका प्रयोग अधिकतर प्रकृति-चित्रण में हुआ है। दृश्यों की यथातथ्य अनुभूति कराने में इनसे बड़ी सहायता मिली है। अकेली उत्प्रेक्षा के उदाहरण ये हैं :

"समभूमि पर की नदियाँ और जंगल कैसे भले मालूम देते हैं, मानो वसुन्धरा ने अपनी अलकों को मोतियों की लड़ों से अलंकृत किया है।"[३]

"तुम ढरकते क्या हो, मानो प्यार से भरा हुआ जहाज समुद्र में डूब रहा है।"[४]

"उसकी ज्योत्स्ना का आलिंगन करने के लिए दूर्वा के तन्तुओं के रूप में पृथ्वी को रोमांच हो आया था।"[५]

"लू की लपटें क्या हैं, किसी रुष्ट सर्पिणी की विषाक्त फूत्कार ज्वालाएँ हैं।"[६]

"प्रकृति सजीव होकर भी मौन थी। मानो एक षोडशी एक बार ही अपनी वृद्धावस्था का स्वप्न देखकर जाग उठी हो।"[७]

एक साथ कई उत्प्रेक्षाओं का समावेश नीचे के उदाहरणों में हुआ है—

१. "नवजीवन से युक्त वृक्षों पर पीले और मुरझाए पत्ते लदे हैं, मानो प्रभात ने रजनी का अंचल पकड़ रखा है, मानो हमारे होनहार प्राचीनता के सड़े-गले विचारों को छोड़ने में संकोच कर रहे हैं।"[८]

२. "तेरे संगीत की मनोज्ञता को हम क्या नाम दें। यह तो मानो सरोज-सौरभ की संचारता, सान्ध्य सुषमा की सुचारुता, अथवा मधुर मिलन की मुग्धता, उन्मुक्त हो, कल्लोल कर रही है।"[९]

रूपक—शैली के रूप में पूरे गद्य-गीत को घेरने वाले रूपकों के उदाहरण दिए जा चुके हैं। यहाँ स्फुट रूप से आने वाले रूपकों के कुछ उदाहरण दिए जाएँगे। उपमा के पश्चात् रूपक का ही प्रयोग गद्य-काव्यों में अधिक मिलता है। स्फुट रूप से आने वाले रूपकों में छोटे और बड़े दोनों प्रकार के रूपक आए हैं। इनका अप्रस्तुत विधान बड़ा ही भावपूर्ण और सजीव है।

---

१. 'अन्तस्तल', पृ० १२४।
२. 'वंशीरव', पृ० ६।
३. 'साधना', पृ० ८८।
४. 'वेदना', पृ० २४।
५. वही, पृ० ७०।
६. 'हिमहास', पृ० १५।
७. 'वेदना', पृ० ७०।
८. 'भावना', पृ० १८।

छोटे रूपकों के सौन्दर्य का अनुमान नीचे के उदाहरणों से हो सकेगा—

१. "दिन का आगमन जानकर तमो भुजंगम उदयाचल की सुनहली कन्दराओं में जा छिपा। जल्दी में उसका मणि छूट गया।"[१]

२. "हृदयहीन को तप-तपकर अवधि कसौटी पर कसने देगी। तभी न अमल विभा द्युति देगी ?"[२]

३. "मुझे केवल यह वर दे कि मेरा मन-मधुप तेरे चरण-कमलों के पराग का अनुरागी बन रहे और मेरा मानस-मराल तेरे स्वच्छ गुणों के मोती चुगता रहे।"[३]

बड़े रूपक छोटे रूपकों की अपेक्षा और भी मर्मस्पर्शी हैं—

"हे जगन्नायक, जब तू बाल रवि-रश्मियों का रँगा हुआ कषाय वस्त्र धारण किए, कृपा कटाक्ष का प्रण लिए, प्रकृति-पात्र में भिक्षा लेने आएगा, तब मैं तेरे चरणकमल अश्रु-जल से धोकर हृदय पद्मासन पर तेरी यतिमूर्ति विराजित करूँगा।"[४]

"वक्ष-रूपी रत्नाकर से निकालकर उसने अनमोल हृदय चिन्तामणि मुझे सहज ही अर्पित कर दिया, किन्तु जब तक सद्गुरु जौहरी ने खराद पर चढ़ा उसके कोण नहीं निकाले तब तक उसका विद्युत्-सा निरंजनी प्रकाश सुप्त ही रहा।"[५]

"यह संसार एक अमर गीत है। अनन्त काल से तुम इस गीत को अपने मधुर कण्ठ से गाते चले आ रहे हो। उषा की सुनहली किरणें तुम्हारी विशाल वीणा के तार हैं और चमकती हुई बर्फानी चोटियों से झरते हुए झरनों का झर-झर इस गीत की अटूट ध्वनि।"[६]

"मेरे विचार से तो साहित्य की दुर्गम ज़मीन, झाड़ियों, नदियों, सरोवरों, शैलों, टेकड़ियों, खेतों, खलियानों यानी राष्ट्र को सिंहासन बनाती है, संस्कृति के गहने पहनती है, उथल-पुथल का राजदण्ड धारण करती है और मुकुट को ठुकराकर किसी जाति के संकल्पों का, गरीबों के बगीचे में उगे हुए फूलों का हार अपने जूड़े में बाँधती है और समस्त राष्ट्र के निवासियों की आत्मा का वस्त्र पहनकर क्रियाशीलता के साथ बैठ जाती है।"[७]

उदाहरण—उदाहरण अलंकार का प्रयोग भी बड़ी प्रचुरता से हुआ है। गद्य-काव्यों में यह भी उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक की भाँति ही महत्त्व का अलंकार है। इसका प्रयोग दिनेशनन्दिनी ने विशेष रूप से किया है। इसके उदाहरण ये हैं—

"जैसे धूप से फूल को बचाकर रखा जाता है, उसी भाँति तुम्हें तारों की छाँह और चाँद की परछाईं से बचाकर हाथों-ही-हाथों वे देश-विदेश में लिए फिरे।"[८]

१. 'साधना', पृ० ५८।
२. 'उन्मुक्ति', पृ० ४३।
३. 'मणिमाला', पृष्ठ ४८।
४. 'भावना', पृष्ठ ६३।
५. 'दुपहरिया के फूल' पृ० ३५।
६. 'चरणामृत', पृष्ठ ५७।
७. 'साहित्य देवता', पृष्ठ ६७।
८. 'जवाहर', पृष्ठ १३।

"जिस प्रकार प्राची के कुंकमाभ अनुराग का पीछा पार्वण चन्द्र, जिस प्रकार सुखद घटना का पीछा स्मृति, जिस प्रकार मेघ-ध्वनि का पीछा मोर की कूक, जिस प्रकार प्रथम वर्षा का पीछा पृथ्वी का सुरक्षित उच्छ्वास और जिस प्रकार पर्वत-स्थली के सिंहनाद का पीछा प्रतिध्वनि करती है, उसी प्रकार व्यर्थ मैंने तुम्हारा पीछा किया क्योंकि मेरे देखते-ही-देखते तुम अदृश्य हो गए।"[१]

"सूर्य मेघों को इंगित द्वारा बुलाता है, वैसे ही भाग्य का अदृष्ट हाथ ठुकराए हृदय को प्रेम के पावन अनुष्ठान की ओर खींचता है।"[२]

"मिलन-अश्रुओं से आँखें भारी हों जैसे अधखिले अरविन्द की पंखुड़ी धरिणी-अभिषेक के लिए ओस-बिन्दुओं से प्रभावित होने के पूर्व ही भर जाती है।"[३]

"जीवन की रंगीन शमा मृत्यु के सूर्योदय में वैसे ही निर्वाण प्राप्त करती है जैसे कि रजनी की फुलबगिया में प्रस्फुटित हुई प्रकाश कलिकाएँ प्रात की प्रथम किरण के दीखते ही मुरझा जाती हैं।"[४]

"दिन-भर के परिश्रम से तुम्हारे मुख पर एक उज्ज्वल लाली चमक रही होती है, जैसे भट्टी में सोना तप रहा हो। कभी-कभी तुम मुस्कराते हो, जैसे चाँदी की पतली चादरों पर किसी के मधुर नृत्य का धीमा शब्द सुनाई दे रहा हो।"[५]

अब हम इन प्रमुख अलंकारों के अतिरिक्त कुछ उन गौण अलंकारों को लेंगे, जिनका प्रयोग अधिक हुआ है। ये अलंकार हैं—प्रतीप, अपह्नुति, विरोधाभास और सन्देह।

प्रतीप—इस अलंकार का प्रयोग दो लेखकों ने विशेष किया है: एक तो श्री चतुरसेन शास्त्री ने और दूसरा श्रीमती दिनेशनन्दिनी ने। शारीरिक सौन्दर्य इसका वर्ण्य विषय है:

१. "हूबहू तुम्हारे उत्फुल्ल हास्यपूरित अधरोष्ठ की भाँति यह गुलाब खिला है। यह फूल से भरी डाली तुम्हारे शोभनीय मृदुल गात की भाँति झंझावात में झूम रही है।"[६]

२. "श्वेत कमल और लाल कमल तुम्हारे सम्मुख लज्जा से पीत वर्ण हो गए। चन्द्रकान्त मणि और दिव्य रत्नों की प्रभा तुम्हारे सम्मुख फीकी पड़ गई। चैत पूर्णिमा के चाँद और तारे तुम्हारी ज्योति के सामने शरमा गए।"[७]

३. "गोरे गुलाबी गालों पर भी इतना गर्व न कर जिन्हें देखकर फारस के गुलाब भी ईर्ष्या से बदरंग हो जाते हैं। उस चाँद-से मुखड़े पर भी इतनी न फूल जिसकी द्युति से सब नक्षत्रों की ज्योति निस्तेज हो जाती है।"[८]

१. 'साधना', पृष्ठ ५७।
२. 'शारदीया', पृष्ठ २६।
३. 'वंशीरव', पृष्ठ ६२।
४. 'दुपहरिया के फूल', पृ० १६।
५. 'चरणामृत', पृ० २६।
६. 'अन्तस्तल', पृष्ठ १४६।
७. 'शबनम', पृ० ६२।
८. 'मौक्तिक माल' पृ० ५०।

४. "नवोढ़ा के कलित शयनागार में बिखरे आभूषणों की तरह आकाश में तारे बिखरे थे।"[१]

अपह्नुति—इस अलंकार का विशेष प्रयोग सर्वश्री अज्ञेय, राय कृष्णदास, वियोगी हरि और रामकुमार वर्मा के गद्य-काव्यों में हुआ है।

"जिसे तुम कृष्णवर्ण मेघ समझकर प्रसन्न हो रहे हो, जिससे तुम घोर वृष्टि की आशा कर रहे हो, वह मेघ नहीं है, वह तुम्हारी जलती नगरी से उठता हुआ काला धुआँ है। उसमें बिजली की चमक नहीं बल्कि दोनों की आह प्रदीप्त हो रही है, शीतल काजल-कण नहीं बल्कि उत्तप्त अश्रु-कणों का प्रवाह थमा हुआ है।"[२]

"चन्द्र इस स्वर्गीय दृश्य पर मोहित होकर, प्रतिबिम्ब के मिस से उतरकर उसमें जल-केलि कर रहा है।"[३]

"कौन कहता है कि पत्तियों पर ओस की बूँदें झिलमिला रही हैं! ये तो इन्हीं तड़पते तारों के आँसू हैं।"[४]

"प्रभु, यह निर्झर नहीं मेरी कविता बह रही है। आओ, इससे तुम्हारे चरण धोकर इसे संसार को पवित्र करने के लिए प्रवाहित कर दूँ।"[५]

विरोधाभास—इस अलंकार का प्रयोग श्रीमती दिनेशनन्दिनी और श्री माखनलाल चतुर्वेदी में अधिक मिलता है। इसका आश्रय चमत्कारपूर्ण भाव-व्यंजना के लिए लिया गया है।

"मैं रोम-रोम से बँधकर भी मुक्त हूँ, शासित हूँ···पर शासन करती हूँ, शव हूँ पर संजीवनी की संज्ञा हूँ।"[६]

"जब तुम प्याली से घूँट पिलाते हो तो न मालूम क्यों मेरे लब सूख जाते हैं। तुम चुम्बनों से मेरे अश्रु सुखाते हो तब न जाने क्यों मेरे नयन सजल मेघ बन जाते हैं।"[७]

"किस गोद के लिए कला दौड़ी आती है? उन आँखों के लिए जो कल्पकता को ममता और ममता की कल्पकता का अनुभूति मात्र से अन्दाज़ा लगा सकें। उस जादूगरी की गोद पर, जो कला की आकृति और प्रेरणा को, मुँदी आँखों से देखकर, शिल्पी के खुले हृदय का आकलन कर सके और खुली आँखों से देखकर स्मृति को विस्मृति के हवाले करके कलाकार की वस्तु में समा सके।"[८]

सन्देह—सर्वश्री राय कृष्णदास, वियोगी हरि और भंवरमल सिंघी में मिलता है।

१. "इन तितलियों को तो देखो। ये इन पुष्पों की साड़ियाँ हैं या इन्होंने पुष्पों

---

१. 'शबनम', पृ० ७९।
२. 'भग्नदूत', पृ० १२८।
३. 'साधना', पृ० ८६।
४. 'अन्तर्नाद', पृ० ६।
५. 'हिमहास', पृ० ३१।
६. 'दुपहरिया के फूल', पृ० ३८।
७. वही, भाग २, पृ० १४।
८. 'साहित्य देवता', पृ० २६।

को ये रंग वितरित किये हैं।"[1]

२. "हे तरंग बाला! क्या तू किसी दिव्य प्रेमी की आँखों की अश्रुधारा है या उसकी मिलन-चन्द्रिका में बहती हुई सुधा-धारा?[2]

३. "हृदयेश्वर! तुम्हीं बताओ, इसे मैं किस नाम से पुकारूँ? मन्दाकिनी कहूँ या पयस्विनी? जाह्नवी कहूँ या कालिन्दिनी? मैं तो इसे शिशु-स्मित से फूटी हुई वात्सल्य धारा अथवा भाव-मानस से निस्सृता मधु-धारा का नाम दूँगा।"[3]

कुछ और भी अलंकार हैं, जो कहीं-कहीं आए हैं। वे ये हैं—

व्यतिरेक—शिशु की आँखों में जो निष्पाप आलोक है वह हजारों सूर्यों से अधिक तेजस्वी और चन्द्रमा से अधिक शीतल है।[4]

परिकरांकुर—"तुम्हारे पद अशोक की मेरे सिर पर नित्य छाया है। इससे मुझमें शोक नहीं रह गया।"[5]

सार—"तुम आने वाले हो इसलिए काली जमीन अपने पर हरे चित्र, हरियाली अपने पर लाल चित्र, फूलों की लाली अपने पर भ्रमरों के काले चित्र बना रही है।"[6]

शब्दालंकारों में अनुप्रास का ही प्रयोग हुआ है। वह भी श्री वियोगी हरि की रचनाओं में। अन्य लेखकों में उसका भी आग्रह नहीं है। अनुप्रास का एक उदाहरण यह है—

"आपके सरस स्नेह तथा सरल स्वभाव मेरे हर्षहीन हृदय के जिस कठोर कोण में विराजित हुआ वहाँ से अकथनीय आह्लाद के सुभग स्रोत बहने लगे।"[7] या "जब आपके चरणारविन्दों को चपल चम्पा और कँटीली केतकी सौहार्द रूप से कपटाच्छादित कर लेती है, तब मेरा चित्त-चंचरीक उत्कण्ठित हो चिन्तामय तथा विषम विस्मय की तीक्ष्णता के कारण उनका मधु-पान नहीं कर पाता।"[8]

श्लेष का भी अत्यन्त विरल प्रयोग मिलता है—

"मित्रो! जब तुम अपने करों से मेरे हृत्कमल को खोलते हो तब वह कैसे न खिलकर अनिन्द्य मकरन्द बहावे और सारे सर को उसमें मग्न कर दे!"[9]

"सुमन सुवास के प्रभाव से मन तर होने से न बच सका। पर देर भी न होने पाई थी कि सुवास समाप्त हो गया और मैं तकता ही रह गया।"[10]

---

१. 'प्रवाल', पृ० ५।
२. 'वेदना', पृ० ११।
३. 'भावना', पृ० ५।
४. 'तरंगिणी', पृ० १।
५. वही, पृ० २।
६. 'साधना', पृ० २५।
७. 'साहित्य देवता', पृ० ११७।
८. वही, पृ० २।
९. 'साधना', पृ० २५।
१०. 'कुमार हृदय का उच्छ्वास', पृ० ४०।

वस्तुतः गद्य-काव्य में भावावेश-प्रधान होने से शाब्दिक चमत्कार के लिए स्थान नहीं है। इसीलिए शब्दालंकारों का अभाव है।

सारांश यह है कि गद्य-काव्यों में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों की प्रधानता है और अर्थालंकारों में भी केवल उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, उदाहरण आदि से सादृश्यमूलक भावोत्कर्ष में सहायक अलंकार आए हैं जिनसे काव्य का सौन्दर्य सदैव निखरता है। इस प्रकार गद्य-काव्यों का अलंकार-विधान अत्यन्त उपयुक्त और स्वाभाविक है।

रस और भाव-व्यंजना

हिन्दी गद्य-काव्यों के विषय-विवेचन के समय इस बात की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है कि उनमें प्रेम के सभी रूपों का विवेचन हुआ है। साथ ही उनमें न केवल प्रेम की भावना का ही भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपण हुआ है वरन् उसके रहस्योन्मुख, भक्ति-परक और लौकिक रूपों की व्यंजना भी विविध प्रकार से हुई है। इसका कारण यह है कि गद्य-काव्यों के प्रवर्तक भारतेन्दु और रवीन्द्र दोनों ने क्रमशः भक्ति और रहस्योन्मुख प्रेम का प्रवर्तन अपनी गद्य-काव्यात्मक कृतियों में किया है। दूसरी बात यह है कि यह भाव सदैव से मानव-जीवन का प्रमुख अंग रहा है। इस प्रेम या रति के स्थायी भाव पर आधारित श्रृंगार-रस साहित्य में रसराज की उपाधि से विभूषित किया गया है। 'नाट्य-शास्त्र' के आचार्य महामुनि भरत ने श्रृंगार के सम्बन्ध में ठीक लिखा है—"**यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते।**" अर्थात् जो कुछ लोक में पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह श्रृंगार-रस कहलाता है। वस्तुतः यह बड़ा व्यापक रस है। कारण, यह मनुष्यों से लेकर पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों तक अपना प्रभाव डालता है। साथ ही इसके संयोग और वियोग दोनों पक्षों में मानव-जीवन की समस्त सुखात्मक और दुःखात्मक भावनाओं का समावेश हो जाता है। फिर स्त्री-पुरुष की पारस्परिक रति जहाँ लौकिक श्रृंगार कहलाती है, वहाँ देव या प्रभु-विषयक रति, जिसका भक्ति में वर्णन होता है, अलौकिक श्रृंगार कहलाती है। हिन्दी-साहित्य में वात्सल्य-रस की जो प्रतिष्ठा महाकवि सूरदास ने की है उसका आधार भी पुत्र-विषयक रति ही है, यद्यपि शास्त्रज्ञों ने इसको देव-विषयक रति के साथ भाव ही कहा है। इस प्रकार श्रृंगार, शान्त और वात्सल्य तीनों रसों का आधार यही रति-भाव है। अतः हिन्दी-गद्य-काव्यों में यदि इसको प्रमुखता दी गई और इसके आधार पर विकसित श्रृंगार, शान्त और वात्सल्य रसों को महत्त्व दिया गया है तो यह उचित ही हुआ है।

इन रसों के अतिरिक्त गद्य-काव्यों में दो प्रधान रस और हैं—एक वीर और दूसरा करुण। वीर-रस की प्रधानता का कारण युग की राष्ट्रीयता है। भारतेन्दु से लेकर महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन के फलस्वरूप प्राप्त स्वतन्त्रता के समय तक यह राष्ट्रीयता हमारे जन-जीवन की प्रबल विचार-धारा रही है। फलस्वरूप साहित्य में भी इसकी अभिव्यक्ति निरन्तर होती आई है। हिन्दी-गद्य-काव्य भी उसके अपवाद नहीं हैं। वहाँ भी अतीत गौरव का गान, देश की वर्तमान दुर्दशा का चित्रण, विदेशी शासकों के

प्रति घृणा, स्वतन्त्रता के सुखद स्वप्न आदि का चित्रण हुआ है। ऐसे गद्य-काव्यों में वीर-रस की बड़ी ही सुन्दर व्यंजना हुई है।

करुण रस की व्यंजना दो प्रकार से हुई है—एक तो 'उद्भ्रान्त प्रेम' की शैली पर लिखे गए गद्य-काव्यों के रूप में, जिनमें मृत पत्नियों के वियोग में शोकाश्रु प्रवाहित हुए हैं और दूसरे राष्ट्रीय भावना-समन्वित गद्य-काव्यों के रूप में, जिनमें शासकों के अत्याचारों के साथ पीड़ितों और दलितों की दयनीय दशा का चित्रण हुआ है। उनमें राष्ट्रीय आन्दोलन की असफलता से जो नैराश्य और कुण्ठा उत्पन्न हुई है उसकी भी प्रतिच्छाया है, जो करुणा की व्यञ्जना करती है। अन्य रसों को गद्य-काव्यों में स्थान नहीं मिला। हाँ वीर-रस के प्रसंग में रौद्र, भयानक अथवा बीभत्स के कुछ छींटे कहीं-कहीं अवश्य मिल जाते हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' में भी जहाँ मनोविकारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न है, सभी रसों की झलक मिलती है।

सारांश यह है कि हिन्दी-गद्य-काव्यों में शृंगार, शान्त, वात्सल्य, वीर और करुण रसों की प्रधानता है और अन्य रसों का प्रायः अभाव-सा है अथवा वे आए भी हैं तो गौण रूप से।

अब हम प्रमुख रसों में से एक-एक रस को लेकर यह देखेंगे कि गद्य-काव्यों में उसकी व्यञ्जना कैसी हुई है।

शृङ्गार-रस—जैसा कि कहा जा चुका है, यह प्रमुख रस है। इसके दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग। संयोग शृंगार के दोनों मुख्य अंगों—रूप-वर्णन और मिलन के चित्र गद्य-काव्यों में मिलते हैं। इनमें से रूप-वर्णन में परम्परागत वर्णन भी है और छायावादी ढंग के सौन्दर्य के प्रभाव की व्यञ्जना करने वाले वर्णन भी। परम्परागत वर्णन का एक उदाहरण यह है—"युवती का सौन्दर्य अर्थात् उसके जीवन-वसन्त की मुहुर्मुहु महकती हुई नयन मनोरम फुलवारी। उसके केश-कलाप में मिलिन्द-वृन्द, प्रकृति में भ्रमर, नेत्रों में इन्दीवर, नासिका पर शुक, कपोलों पर गुलाब, अधरों पर पल्लव और मधुर मुखमण्डल में कमल आ बसे। उसके कमनीय कण्ठ में कपोत, वाणी में कोकिला और उरोरुहों में प्रणय प्रमत्त सारस दम्पति ने अजब चैतन्य प्रकटाया। जंघाओं में कदली और देह में ललित लता धारण कर वह सुमन-सी सुकोमल बनी। पुष्पधन्वा उस फुलवारी का रखवाला बना। रसिक मधुकर उसके प्रिय अतिथि बने। कवि और चित्रकार उसे कला का केन्द्र मान और समस्त संसार के लोग, वह चलती-फिरती नारी है या फुलवारी, इसी मधुर विचार में तन्मय होकर उसे देखते ही रह गए।" महाकवि सूरदास ने 'अद्भुत एक अनूपम बाग' वाले पद में ऐसा ही वर्णन किया है। यह रीतिकालीन प्रभाव वाला वर्णन है।

छायावादी प्रभाव वाले वर्णनों में विशेष रूप से मधुमयी मुसकान, प्रेममयी दृष्टि और रसमयी वाणी के प्रभाव की व्यञ्जना हुई है। जैसे—

१. "तुम्हारी मुसकान का यह कैसा अद्भुत प्रभाव है कि उसकी कल्पना तक मेरे मन को सब प्रकार के दुखों और क्लेशों से बचाए रखती है। तुम्हें मुस्कराते देख

मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान् ने मेरे उद्धार-हेतु तुम्हारा शरीर धारण किया है।"[१]

२. "तुम्हारे हृदय के पावन सरोवर में आनन्द, उल्लास, स्नेह, प्रेम, करुणा आदि तीर्थों का पवित्र जल भरा है। जब मैं तुम्हारे पास याचना का पात्र लिये पहुँचता हूँ तब वही जल, तुम्हारे नेत्रों से छलककर मुझे रोमांचित कर देता है। तुम्हारी आँखें अन्तरंग सौन्दर्य को प्रकट कर तुम्हारे बाह्य रूप को अद्वितीय सौन्दर्य प्रदान करती हैं।"[२]

३. "यन्त्र के साथ मिलकर तुम्हारी स्वर-लहरी सीधी अन्तरात्मा को स्पर्श करती हुई मेरे हृदय में विरह-गान की प्रतिध्वनि उत्पन्न कर देती है। तुम्हारे गाने के समय वायुमण्डल प्रेम-व्यथा से जैसे काँपने लगता है और वह व्यथा मेरे सूने क्षणों के गीतों के रूप में प्रकट हो जाती है।"[३]

छायावादी प्रभाव वाले रूप-वर्णन में प्रकृति को भी तुलना के लिए लिया गया है। जैसे निम्न गद्य-गीत में :

"नित्य स्नान के पश्चात् तुम अपना श्रृंगार करती हो, पीठ और वक्ष पर फैले हुए केशों को कन्धे से सँवारती हो और उस काले जाल में से मेरी ओर देखकर मुस्कराती जाती हो। अन्त में जूड़ा गूँथकर मेरा अर्पित पुष्प उसमें धारण कर लेती हो। मध्याह्न-भर वर्षा में स्नान कर चुकने के पश्चात् प्रकृति देवी सन्ध्या को अपना श्रृंगार सजाती है। काली मेघराशि में से अपने चन्द्रमुख की मुस्कान प्रभा पृथ्वी पर फैलाती हुई पवन रूपी कन्धे से उन्हें एकत्र कर उनका जूड़ा बाँध लेती है और उस जूड़े में तारकों के पुष्प धारण कर लेती है।"[४]

कभी-कभी सामूहिक प्रभाव की ही व्यञ्जना करके रूप-वर्णन कर दिया गया है—

१. "तुम कुसुम-सी सुन्दर हो, हीरक-सी कठोर हो, ज्योत्स्ना-सी शीतल हो, विद्युत्-सी चंचल हो, नीहारिका-सी दूर हो।"[५]

२. "सजनी, मेरा प्रेमी बल, पौरुष और सौन्दर्य में वृन्दारकों-सा दिव्य है, उसकी आराधना ही मेरे जीवन की साधना है।"[६]

मिलन के वर्णन में नायक-नायिका की रसमयी चेष्टाओं, रति-क्रीड़ा, हास, विलास आदि का समावेश हो जाता है। देखिए, आगे के गद्य-गीत में अन्धकार में दम्पति के मिलन का कैसा सजीव चित्र अंकित किया गया है—

"उसने कहा 'नहीं'।
मैंने कहा 'वाह'!

---

१. 'आराधना', पृ० ४।
२. वही, पृ० ३४।
३. वही, पृ० ८।
४. वही, पृ० ७।
५. 'प्रणय गीत', पृ० १७।
६. 'मौक्तिक माल', पृ० ७२।

उसने कहा 'वाह' !
मैंने कहा 'हूँ ऊँ' !
उसने कहा 'उहुँक'
मैंने हँस दिया,
उसने भी हँस दिया।"

अँधेरा था, पर चलचित्रों की भाँति सब-कुछ दीख पड़ता था। मैं उसी को देख रहा था। जो दीखता था उसे बताना असम्भव है। रक्त की एक-एक बूँद नाच रही थी और प्रत्येक क्षण में सौ-सौ चक्कर खाती थी।...आत्मा की तन्त्री के सारे तार मिले धरे थे। उँगली छुआते ही सब झनझना उठते थे। वायुमण्डल विहाग की मस्ती में झूम रहा था। रात का आँचल खिसककर अस्त-व्यस्त हो गया था। पर्वत नंगे खड़े थे और वृक्ष इशारा कर रहे थे। तारिकाएँ हँस रही थीं। चन्द्रमा बादलों में मुँह छिपाकर कहता था—'भई! हम तो कुछ देखते-भालते हैं नहीं।' चमेली के वृक्षों पर चमेली के फूल—अँधेरे में मुँह नीचे गुप-चुप हँस रहे थे। वायु ने कहा—हैं! हैं!! यह क्या करते हो? मैंने कहा—दूर हो, भीतर किसके हुक्म से घुस आए तुम? खट से द्वार बन्द कर लिया। अब कोई न था। मैंने अघाकर साँस ली। वह साँस छाती में छिप रही। छाती फूल गई, हृदय धड़कने लगा। अब क्या होगा? मैंने हिम्मत की। पसीना आ गया था। मैंने उसकी परवाह न की।

"आगे बढ़कर मैंने कहा—ज़रा इधर आना।
उसने कहा—नहीं।
मैंने कहा—वाह!
उसने कहा—वाह!
मैंने कहा—हूँ ऊँ।
उसने कहा—उहुक।
मैंने भी हँस दिया
उसने भी हँस दिया।"[1]

यहाँ स्थायीभाव रति है और आलम्बन नायिका तथा आश्रय नायक दोनों में समान रूप से हैं। उद्दीपन में सन्नाटे-भरी रात है, जिसमें चन्द्रमा बादलों में मुँह छिपा रहा है और पेड़-पौधे हँस रहे हैं, संचारी की दृष्टि से हर्ष और क्रीड़ा है। अनुभाव हृदय का धड़कना, छाती का फूलना, स्वेद और हँसना हैं।

श्री अज्ञेयजी की 'चिन्ता' में रति के लिए प्रस्तुत नारी का भी चित्र है। यहाँ नारी एक-एक करके अपने वस्त्राभूषण पुरुष के चरणों पर चढ़ाती जाती है और अन्त में समर्पण के लिए नग्न रह जाती है।[2] लेकिन ऐसे चित्र कम ही हैं।

वियोग-शृंगार—संयोग-शृंगार की अपेक्षा वियोग-शृंगार का चित्रण अधिक हुआ है। वियोग के चार प्रकार हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण। पूर्वानुराग

१. 'अन्तस्तल', पृ० ७ से ९।
२. 'चिन्ता', पृ० ११९।

प्रत्यक्ष-दर्शन, चित्र-दर्शन, श्रवण-दर्शन और स्वप्न-दर्शन से होता है। हिन्दी के गद्य-काव्यों में पूर्वानुराग का चित्रण कम मिलता है। इसका कारण यह है कि गद्य-काव्य में आत्म-निवेदन की प्रधानता रहती है। लेकिन फिर भी कुछ लेखिकाओं में उसका आभास मिल ही जाता है—

"रूठे राजन्! तुम्हें मनाने के लिए क्या उपहार लाऊँ?[1] तुम्हारे जीवन में रुखाई है, शरीर में शौर्य है, आँखों में ज्वाला है, स्वभाव में अवहेलना है और राग में रंग नहीं है। मेरे यौवन में वैकल्य है, सौन्दर्य में आकर्षण है, अधरों में मदिरा है, आँचल में प्रसून हैं, आत्मा में महामिलन के स्वप्न हैं और प्रेम में पारिजातों का परिमल। रूठे राजन्! तुम्हें मनाने के लिए क्या उपहार लाऊँ?"[2]

प्रवास-विरह ही वस्तुतः विरह कहलाता है, क्योंकि इसमें नायक-नायिका दोनों अलग-अलग रहते हैं। इस वियोगावस्था में दस दशाएँ होती हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। किसी-किसी ने ११वीं दशा मूर्छा भी मानी है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद आदि के वर्णन बहुत मिलते हैं। मनोवैज्ञानिकता और सामाजिक परिस्थितियों के बदलने से विरह-निवेदन का रूप भी बदल गया है। इस अन्तर के कारण श्रद्धा और प्रेम से मिश्रित उद्गार ही गद्य-काव्यों में उपलब्ध विरह में मिलते हैं। अकेली दिनेश-नन्दिनी ने ही रीतिकालीन स्पर्श वाले कुछ विरहोद्गार दिये हैं अन्यथा अन्य लेखकों में उसका अभाव है। नीचे विरह की कुछ दशाओं के व्यञ्जक उदाहरण दिये जाते हैं।

स्मरण—"वे दिन बीत गए जब मैं न दिन देखता था न रात, न समय और कुसमय का ही ध्यान रहता था और मैं तेरे पास पहुँच ही जाता था। वे दिन बीत गए जब बरसात की घनी झड़ी लग जाने पर भी भीगता और मार्ग पार करता हुआ मैं तेरे पास पहुँच ही जाता था। वे दिन बीत गए जब कठोर लू चलती होती थी और मैं गर्म हवा के थपेड़े खाता हुआ तेरे पास पहुँचकर ही दम लेता था। वे दिन बीत गए जब सारे काम-काज बीच में ही छोड़ मैं तड़पकर उठ बैठता था और तेरे दरवाजे के पास पहुँचकर ही शान्ति-लाभ करता था।"[3]

गुणकथन—"उस सौन्दर्य की समता वे देव-बालाएँ भी नहीं कर सकतीं जो स्वर्ग-द्वार पर पुण्यात्माओं का पवित्र चुम्बन से स्वागत करती हैं। उसके आकर्ण नेत्रों से आनन्द, ज्योति और हास्य के फव्वारे छूटकर सबको मुग्ध कर लेते थे और उसके संगीत को सुनकर आकाश में विचरण करने वाले देवदूत भूतल को स्वर्ग समझ भूल से नीचे उतर आते थे। उस अनुपम सौन्दर्य की स्मृति से आज कितने स्वप्न जाग्रत होते हैं।"[4]

उद्वेग—"प्रिय, आ, एक बार भी आकर इस जीवन की फुलवारी को हरा-

१. 'शारदीया', पृ० ३९।
२. 'शबनम', पृ० ५३।
३. 'आराधना', पृ० ५५।
४. 'मौक्तिक माल', पृ० ६८।

भरा कर दे। तेरे बिना यहाँ झाड़-झखाड़ हो रहा है, इसे अपने कृपा-कण से सिंचित कर सजीव बना दे!"

"सौम्य! एक बार भी इस जीवन-कुसुम को अपनाकर इसे कृतकृत्य कर दे। ले, यह तो मुरझा रहा है। क्या इस पूजा को अस्वीकृत कर देगा? हाय! कोई उत्तर नहीं देता। देख, धैर्य का बाँध टूटा जा रहा है, इतना निठुर न बन, कुछ तो दया कर! हाय! दर्शन देने में भी इतनी कंजूसी! तेरी विरह-ज्वाला बुझे तो कैसे? कुछ बता तो सही।"[1]

प्रलाप—"हाय! हाय! यह क्या हुआ? अन्त में मेरे भाग्य में यही बदा था? किससे कहूँ? हा विधाता! क्या तुम्हें अन्त में यही करना था? तुम उन कामों को क्यों बिगाड़ते हो जिनके सुधारने में तुम असमर्थ हो? अन्त में क्या यही होना था? किसी ने मेरी सहायता नहीं की। भला अब कौन किस पर विश्वास करेगा? क्या मेरे सुख-स्वप्न सब मिथ्या निकले? अब तो जो होना था सब हो चुका। मैं जानता हूँ—मैं अनुभव करता हूँ—अब संसार मेरे लिए शून्य हो गया, मेरे दुःख की सीमा न रही। करुणा का आजन्म मुझे सहवास रहा। आनन्द को अब मैं अनुभव नहीं कर सकता। मेरे अन्तःकरण के भीतर अब मेरी आत्मा की मृत्यु हो गई। हाय! मैं क्या करूँ?"[2]

उन्माद—"तुम कहाँ हो? तुम्हारा सौरभ और सौजन्य भी क्या तुम्हारे साथ है? मैं वायु के झोंकों से तुम्हारा पता पूछता हूँ, मेरा हृदय टूट गया है, मेरी लेखनी घिस गई है और भाव बिखर गए हैं, लोग मुझे देखते हैं, पर समझ नहीं पाते। सन्ध्या होते ही ज्वाला का ज्वार उठता है और मैं वेदना में डूब जाता हूँ।"[3]

मरण—"परदेशी, ऐसा भास होता है, अब हम-तुम न मिलेंगे। ठण्डी हवा की ठेस लगते ही शोणित की नदियों में वसुधा डूब जाएगी। तुम स्वाधीनता के संग्राम में पीड़ित मानवता के हाथों, काँटों का ताज पहन लड़ने गए हो और इधर मेरी स्मृति बाल-जीवन के शत्रुओं से झगड़ते रुग्ण हो चली है। वे नाखून, जिन्हें तुम हर समय निरखने से नहीं अघाते थे, अब काले पड़कर निर्जीव हो गए हैं, होंठों पर नीलिमा छा गई है और वे उस मुसकान का भार नहीं ढो सकते। न दाँतों में बिजलियाँ चमकती हैं और न आँखों में संगीत ही होता है। मेरे कण्ठ की कोकिला उड़ गई है और मुझे लगता है यह प्रदीप निर्वाणोन्मुख हो रहा है। मेरी मृत्यु पर तुम उद्यान के उस पार काले खेत में मुझे दफना दोगे। परदेशी, ऐसा भास होता है अब हम-तुम नहीं मिलेंगे।"[4]

मरण के इस अन्तिम दृश्य का वर्णन करुण-विप्रलम्भ का अंग माना जाएगा। इन दशाओं के सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है कि रीतिकाल में जहाँ ये दशाएँ स्त्रियों के सम्बन्ध में ही वर्णित हैं वहाँ गद्य-काव्यों में पुरुषों के सम्बन्ध में भी हैं। यह कुछ फारसी और अंग्रेजी प्रभाव है।

---

१. 'मणिमाला', पृ० ८८।
२. 'सौन्दर्योपासक', पृ० १२४।
३. 'वंशी रव', पृ० २२-२३।
४. 'अन्तस्तल', पृष्ठ १४३।

यदि नायिका-भेद की दृष्टि से विचार करें तो हिन्दी-गद्य-काव्यों में दश-विधि नायिकाओं के उदाहरण भी मिल सकते हैं। उनमें से कुछ के उदाहरण ये हैं—

प्रवत्स्यत्पतिका—"प्रवचन-मुहूर्त में मेरे अश्रुप्लावित मुखड़े पर मुसकान का आलोक देखना चाहा। नवविकसित कलिकाओं के आभरण मुझे पहना, मोतियों से माँग पूर, तुमने मुझे अंक में भर लिया···तब श्वासों को थामकर मैंने पूछा, 'कब लौटोगे ?'

पुनर्मिलन की आशा चुम्बन द्वारा मेरे हृदय में जागरित कर मेरे हर्ष-विमर्ष जीवन से तुम बिछुड़ गए !

प्रस्थान-मुहूर्त में तुमने मुसकान का आलोक चाहा।"[१]

प्रोषितपतिका—"तुम्हारे वियोग में अरुण के उदय होते ही स्फटिक-झरोखे में बैठ जल-मार्ग से आते-जाते यात्रियों को देखूँगी, अस्त-व्यस्त धूलि-कणों को पलकों से सँवारूँगी, आँखों के आब से शुष्क वसुन्धरा के हृदय को शीतल करूँगी, पारते का आँचल बिछाऊँगी।

फिर भी लम्बे दिन का अवसान न होगा।

रात में तारे छिटकेंगे और मैं गिनूँगी—शैया सजाकर हकीम की प्याली में ईरानी वारुणी उँडेलूँगी, प्रथम प्रहर उलूक बोलेगा और क्षपा द्रौपदी के चीर की भाँति बढ़ती ही जाएगी—किन्तु मेरे विरह-उनींदे नयनों में निद्रा और खिन्न हृदय में शान्ति न होगी।"[२]

उत्कण्ठिता—"तुम्हारे आने में विलम्ब क्यों हुआ ? यौवन की सन्ध्या अलसा गई, जीवन के मध्य में रूप का ज्वर स्थिर रहा, कोकिला के मौन ने वसन्त के आगमन को बाँधे रखा, उषा के लोल कपोलों पर प्रतीक्षा का पीयूष ज्यों-का-त्यों ढुलका रहा, और बासी शृङ्गार ने बेबसी उगल दी।

यौवन की सन्ध्या अलसा गई, न मालूम सैंया मोरे, तुम्हारे आगमन में विलंब क्यों हुआ ?"[३]

विप्रलब्धा—"आदि और शेष किशोरावस्था के सन्धिकाल में तुम मेरे क्षितिज पर नवचन्द्र की तरह उदित हुए और पीयूषवर्षिणी कलाओं से मेरा आत्मरंजन करने लगे, किन्तु मेरा सौभाग्य चन्द्रावली न सह सकी और रास की प्रेम-पूर्णिमा के पूर्व ही उसकी ईर्ष्या ने राहु बनकर तुम्हें लील लिया। यह संकल्पभग्ना, विषण्णवदना, विप्रलब्धा तुम्हारा संकेत पाकर भी तुम्हें न पा सकी।"[४]

वासकसज्जा—"सखियों ने मिलकर शयनागार सजाया, रत्नजटित पर्यंक पर मोतियों की झालर लगाई, अर्द्ध-विकसित बेले की कलियों की चाँदनी तानी और राकापति की रश्मियों ने वातायन का अवगुण्ठन खींचा। शृङ्गार-पटु नायिका ने मेरे कुसुम-कोमल कुन्तलों को सुवासित जल से धोकर मेरा शृङ्गार किया और माँ मेरी स्वर्ण का

१. वंशीरव, पृ० २६।
२. 'शारदीया', पृ० ६३।
३. 'वंशीरव', पृ० ११।
४. 'शारदीया', पृ० ६२।

दीप बाल मुझ थमा ओझल हो गई।

मैं मिलन की अभिलाषा लिये, दीपक को हाथ की ओट कर, रोमांचित अंगों से तुम्हारे स्वागत के लिए खड़ी हूँ।

न जाने तुम कब आकर सुहाग की डिबिया से सिन्दूर निकाल मेरी माँग भरोगे और मैं तुम्हारी आरती उतार तुममें लीन हो जाऊँगी।"[1]

आगमिष्यत् पतिका—"सजनी! दीपक जला दे, माधव आवेंगे। यौवन के ओज में डूबा हुआ सौन्दर्य सोया पड़ा है, उभरे गुलाबों की अनुभूतियाँ खिल गई हैं, रजनी की दीप्त आत्मा मंगल-मिलन के गीत गा रही है और सोए पथिकों की धीमी श्वासों से समीर संगीतमय हो गया है—प्रतीक्षा की पलकें प्रकृति के चित्र में रंग पूर रही हैं, अब दीपक जला दे। प्रियतम शीघ्र आवेंगे।"[2]

मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा की दृष्टि से देखें तो हिन्दी-गद्य-काव्यों में मुग्धा के ही चित्र अधिक मिलते हैं। इसका कारण यह है कि प्रथम मिलन का ही चित्रण विशेष रूप से किया जाता है और प्रथम मिलन की अवस्था मुग्धा की ही होती है, एक चित्र देखिए—

"मैं अज्ञात थी। हृदय में रामकली का अर्द्ध आवृत मुख विकसित हुआ ही चाहता था, यौवन-वसन्त शरीरोद्यान में कान्तिमय लावण्य की बहार लाया था, उनींदी आँखें अपना चांचल्य दिखाने में असमर्थ थीं, मन-मधुकर जीवन-वाटिका में पुष्पों की चाट में इधर-उधर मँडराने लगा। रंग-बिरंगे सुमनों की शोभा दर्शनीय थी। उपवन का यह यौवन-विहार! कुछ दूर उड़कर मेरी दृष्टि एक अर्द्ध शुष्क नीरस नलिन पर पड़ गई, ज्ञात न था कि वह सौरभहीन है। हृदय का वह मूक दान। गुलाब छोड़ा, बेला छोड़ा, और कुन्द वन की ओर देखा तक नहीं। उसीके म्लान सौन्दर्य पर मुग्ध हो गई। वह पागल पिपासा! उसे प्राप्त करने को हाथ बढ़ाया, सूँघने का प्रयास किया, तोड़कर आँचल में छिपाना चाहा, आलिंगन चाहा, मधुर चुम्बन चाहा। परन्तु दुर्दैव, सहसा लाल आँखें दिखाते हुए माली ने प्रवेश किया। मैं ठिठककर एक ओर खड़ी रह गई।"[3]

परकीया के चित्र गोपी-भाव वाले गद्य-गीतों में मिलते हैं और इनकी संख्या कम नहीं है। गोपी-भाव के गद्य-गीतों में किस प्रकार परकीया भाव की प्रतिष्ठा की गई है यह नीचे के गद्य-गीत में देखिए—

"सखी री! वे दिन कितने सरस थे, जब घनश्याम गोकुल में थे, स्नेहमयी जननी के मना करने पर भी मिट्टी का कच्चा घट लेकर मैं पनिया भरन को जाती और वे फूलों का शर छोड़कर उसे बेध देते। यौवन-शौर्य की तरह घड़ा चूने लगता और मैं दोनों को सँभालने की व्यर्थ चेष्टा करती—फिर कुछ बड़बड़ाती, कुछ मदमाती, कुछ गम्भीर-सी, कुछ अज्ञात-सी गैल भूल जाती। गो-धूलि के साथ ही कुञ्जन में अंधकार छा जाता और वे काले-काले तमालों के पीछे से निकलकर झट मेरी तर्जनी

---

१. 'वंशीरव', पृ० ६।
२. 'शारदीया', पृ० ७५।
३. 'मौक्तिक माल', पृ० ५६।

पकड़ लेते। मैं कुछ झिझकी-सी, कुछ चाहती-सी, कुछ कुटिल कोप से, कुछ कौतुक से नेत्र मूंद लेती—

नयन उघरने पर श्याम को अदृश्य पाती, यमुना सूख जाती, निकुञ्ज भी न होते, केवल मैं होती, घट होता और मदभरा सपना होता, जिसे हृदय-पटल पर चित्रित करते-करते प्रभात कर देती।

सखी री! वे दिन कितने सरस थे जब घनश्याम गोकुल में थे।"[१]

इस प्रकार हिन्दी-गद्य-काव्यों में श्रृंगार-रस का विस्तृत वर्णन मिलता है। यही नहीं सर्वश्री अज्ञेय, दिनेशनन्दिनी, रजनीश आदि की रचनाओं में प्रेम की अनेक ऐसी अवस्थाओं के चित्र मिलते हैं जो अपनी नूतनता और मौलिकता में अद्वितीय हैं।

शान्त रस—यों तो रहस्योन्मुख और भक्तिपरक गद्य-काव्यों में सर्वत्र ही इस रस की छटा दिखाई देती है, परन्तु वियोगी हरि और राय कृष्णदास ने विशेष रूप से इसका आश्रय लिया है। इसका स्थायीभाव शम अथवा निर्वेद है। आलम्बन संसार की असारता और अनित्यता का ज्ञान तथा परमात्मा के स्वरूप का अनुभव है। उद्दीपन के अन्तर्गत सद्गुरु-प्राप्ति, पवित्र आश्रम, पवित्र तीर्थ, रमणीय एकान्त वन, सच्छास्त्र अनुशीलन-श्रवण-मनन आदि आते हैं। संचारी में धृति-मति, हर्ष-स्मरण और प्राणियों पर दया का समावेश है। रोमांच, पुलकावली, अश्रु-विसर्जन आदि अनुभाव होते हैं। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि आधुनिक प्रभाव से संसार-त्याग की भावना प्रायः गद्य-काव्यों से लुप्त-सी हो गई है और संसार एक प्रकार से प्रभु-प्राप्ति का साधन बन गया है। इसलिये शान्त रस का रूढ़ रूप कम ही मिलता है। हाँ, कहीं-कहीं संसार की असारता भी अवश्य दिखाई गई है लेकिन वह भी बहुत अंशों में जीवन की विपन्नता की देन है, पूर्वकाल की भाँति तत्त्व विवेचनात्मक अनित्यता के ज्ञान की नहीं। जैसे निम्न उदाहरणों में—

१. "मोहान्धकार में जो सोने-से चमकते थे, वे अब प्रकाश में भद्दे पीतल के ठहरे, जिनमें मणि-माणिक की ज्योति थी वे लाल-हरे पत्थर के टुकड़े निकले। अपने घर की चहारदीवारी से ऊपर आने पर वह लघु प्रेमाकाश विश्व-प्रेमाकाश में लीन हो गया।"[२]

२. "वाह री दुनिया! वाह रे संसार! वाह री चमक! अच्छा झाँसा दिया, अच्छा भटकाया, अच्छा उल्लू बनाया, अच्छा फन्दे में फँसाया। समय नष्ट हो गया अलग और बदले में मिला ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, मत्सर। राम-राम! भगवान् का धन्यवाद है। अन्त में मार्ग मिला तो। वाह! वाह! कैसा सीधा मार्ग है, कैसी शान्ति है, कैसा सुख है! कुछ चिन्ता नहीं, किसी बात की चिन्ता नहीं। भूख लगी है तो लगा करे, हम क्या करें मिलेगा तो खा लेंगे। शीतलता है तो लगा करे; उसके लिये क्या हम चिन्ता करें? हम नहीं, हमसे यह न होगा। हम किसी के लिए कुछ न करेंगे। हम तो बादशाह हैं।"[३]

---

१. 'शारदीया', पृ० ३६।
२. 'मणिमाला', पृ० ३१।
३. 'अन्तस्तल', पृ० ८८।

दोनों उद्धरणों में विरागी की मनःस्थिति का चित्रण है। उनमें भी पहले में विश्व-प्रेमाकाश में लीन होने की ओर संकेत है। युग की विचार-धारा के अनुकूल संसार से दूर किसी पर्वत-उपत्यका में शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न न होकर विश्वबन्धुत्व की साधना ही अभिप्रेत है। फलस्वरूप अधिकांश गद्य-काव्यों में भगवान् से प्रार्थना की गई है कि वह उन्हें आत्मबल दे, दुर्गुणों से छुड़ाए और अपने चरणों में स्थान दे ताकि उसे संसार के सत्ताधारियों के समक्ष सिर न झुकाना पड़े और विश्व-सेवा में स्वयं को लीन करने का अवसर मिल जाए। श्री वियोगी हरि कहते हैं—"मुझे वह सामर्थ्य दे, जिससे संसार के तुच्छ धनाधिकारियों के आगे न झुककर दीन-दुखियों को तेरी सेवा में हाथ पकड़कर ला सकूँ। मैं उस शुद्ध बुद्धि को चाहता हूँ जिसके सहारे तेरे प्रेम के बाधक सहज ही हट जाएँ। हे नाथ, मुझे ऐश्वर्य दे कि जिससे मैं अपना-पराया भूलकर निरन्तर विश्व-सेवा ही किया करूँ। मेरे शिथिल शरीर में उस बल का संचार कर दे कि मैं वासना की अजेय दुर्गमाला क्षण-भर में ध्वस्त कर डालूँ। मेरा संकुचित हृदय इतना विशाल कर दे कि मैं उसमें तेरे विराट् रूप का ध्यान कर सकूँ।"[1]

या "हे सर्वलोकेश्वर! जब मैं अपने विशुद्ध आदर्श को तेरे अनन्य प्रेम में देखता हूँ और उसी दृष्टि से इस समग्र जगत् को अवलोकित करता हूँ—क्योंकि तू विश्व-विहारी और विश्व-रूप है—तब मेरा आत्मानन्द असीम और अकथनीय हो जाता है, क्योंकि इस समदृष्टि से व्यष्टि और समष्टि का दुःखमय भेद हटकर दूर हो जाता है। हे सर्वज्ञ, मुझे तब ही परम सन्तोष हो जबकि मैं सर्वप्राणियों के नेत्रों से तेरी अलौकिक छवि देखूँ, सर्वभूतों में हाथों से तेरा चरण-स्पर्श करूँ और समस्त मस्तकों से तुझे पूर्ण प्रणाम करूँ।"[2]

भगवान् की दयालुता, उसकी विराट्ता, सर्वशक्तिमत्ता और अलौकिकता के वर्णन के साथ भक्त की दीनता, क्षुद्रता, असमर्थता और अज्ञानता का भी वर्णन हुआ है जो शान्त रस का ही अंग है। जैसे, "करुणेश, जब मुझ दीन पर तेरी कृपा का पारावार उमड़ पड़ता था तब मैं इसे समझने में असमर्थ था। तब तू चुपचाप मेरे साथ फिरा करता था और गिरते समय अपनी अँगुलियों का सहारा देता था। आहा! उस समय तेरे हाथों में मेरी जीवन-रक्षा के कुल भार सौंपे हुए थे। विश्वात्मन्! तू पद-पद पर मेरे कल्याण की कामना करता रहता है और स्खलन से मुझे बचाता है। हाय! इस पर भी मुझ-सा नादान तेरे उपकारों को अच्छी तरह नहीं जानता। फिर भी आश्चर्य, तेरी कृपा कुछ भी कम नहीं होती ऐसी तेरी महिमा है।"[3]

भगवान् के प्रति प्रेम-दर्शन में उसे 'सखा' या 'प्रिय' कहा गया है। ऐसे गद्य-गीतों की विह्वलता लौकिक प्रेम की विह्वलता की कोटि को पहुँच गई। ये प्रभु-प्रेम के गद्य-गीत शांत रस के ही अंग हैं। जैसे "मुझे कुछ न चाहिए, केवल अपना कहकर प्यार कर लो। काली घटाएँ उमड़ी हैं, मुझे कुछ न चाहिए, एक बार हँसकर मार्ग बता दो। स्नेह के बोझ से झुका हुआ आकाश आँसुओं से पृथ्वी का स्नेहालिंगन कर रहा है,

१. 'तरंगिणी', पृ० १२।
२. वही, पृ० १०३।
३. वही, पृ० ११५।

उन आँसुओं पर पृथ्वी का गर्व, पर आँसू की वह वेदना तो समझा दो, जिसमें इस गर्व की अनुभूति। कौन कहता है कि तुम्हारे साथ रहकर स्वर्ग चाहता हूँ ? केवल जीवन की इस तरल ज्योति में चमक उठो। बस, मुझे कुछ न चाहिए।"

इनके अतिरिक्त वे गद्य-काव्य भी, जिनमें आत्मैक्य में ही प्रेम की पूर्णता मानी गई है, शान्त रस के ही अन्तर्गत आते हैं। वस्तुतः आत्मैक्य ही साधक के जीवन का लक्ष्य है, अतः उसकी प्राप्ति का वर्णन गद्य-काव्यों में सर्वत्र हुआ है। यह वर्णन दोनों प्रकार का है—पारिभाषिक शब्दावली से संयुक्त और आधुनिक सहज अभिव्यक्ति से संयुक्त। पहले प्रकार का वर्णन श्री वियोगी हरि ने किया है और दूसरे प्रकार का अन्य गद्य-काव्य-लेखकों ने।

आत्मैक्य का पारिभाषिक शब्दावली-संयुक्त वर्णन यह है—

"हे सर्वव्यापिन् ! तेरी व्यापकता पर ध्यान देते-देते मैं अपनी अहन्ता और भिन्नता भूल जाता हूँ। इस तल्लीनता से मुझे प्रपञ्चद्वय में एक ही अखण्ड नित्य मूल तत्त्व की अपरोक्षानुभूति हो जाती है। जहाँ मैं अपने विशुद्ध आदर्श का नैसर्गिक साम्य पा लेता हूँ वहीं मेरी आत्मा अपने-आपको भूल जाती है; और इस एकरूपता में द्वैतता समूल नष्ट हो जाती है।"[1]

आधुनिक सहज अभिव्यक्ति से संयुक्त आत्मैक्य के वर्णन की प्रणाली का आभास निम्नलिखित गद्य-गीत से मिल सकता है—

"जब मैं जागता रहता हूँ तब मेरा मन सोता रहता है और प्रियतम के स्वप्न देखा करता है। जब मैं निद्रित होता हूँ तब मेरा मन जाग जाता है और उनके साथ विहार करने लगता है तथा मैं उसके सुखद स्वप्न का आनन्दोपभोग करता हूँ। जब सुषुप्तावस्था आती है तब तो मैं और मेरा अन्तःकरण दोनों ही तद्रूप हो जाते हैं। क्योंकि उस समय प्राणेश के गाढ़ालिंगन का सुख मुझे मेरे सर्वस्व-सहित मूर्च्छित कर देता है। मेरी एकान्त कामना है कि मैं नित्य उसी दशा में रहूँ।"[2]

वात्सल्य रस—इस रस में स्थायीभाव वत्सलतापूर्ण स्नेह होता है। बालक आलम्बन होता है और माता-पिता तथा अन्य जन आश्रय। बालक की तोतली बोली, उसकी चेष्टाएँ, उसका खेलना-कूदना, कौतुक करना, पढ़ना-लिखना आदि उद्दीपन के अन्तर्गत आते हैं। अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व, आवेग आदि संचारी भाव कहलाएँगे। गोद में लेना, छाती से लगाना, चूमना, छिपकर क्रीड़ाएँ देखना, उसे उछालना अनुभाव होंगे। इस रस की व्यंजना हिन्दी-गद्य-काव्यों में श्री राय कृष्णदास और वियोगी हरि में विशेष रूप से मिलती है। यहाँ इन दोनों की वात्सल्य रस की रचनाओं से एक-एक उदाहरण दिया जाता है—

१. "'छोजा बच्चे, छोजा', 'छोजा मेला मुन्ना, अब बहुत लात बीत गई', 'छोजा लाजा बेटा न !'

अपनी बाईं कलाई मोड़कर गोद में दबाए और कन्धे पर उसकी मुट्ठी रखे मेरी

---

१. 'तरंगिणी', पृ० ३१।

२. 'साधना', पृ० ७७।

प्यारी मुन्नी, उसे बच्चा बनाकर, दाहिने हाथ से उसे बार-बार ठोककर सुला रही थी।

'छोजा मुन्नू, छोजा। कआनी छुनेगा ? ले छुन—एक लाजा के छात वेटे ते औल एक ललकी ती, अच्छा अब छोजा लाजा।'

मुन्नी को इतनी कहानी याद थी मैं खड़ी-खड़ी सुन रही थी। अब मैंने कहा—'वच्चे को और कहानी सुना न दे। ऐसे वह न सोएगा।' मेरे मुँह पर वात्सल्य की मुस-कान थी।

मुन्नी एकदम शर्म के मारे मेरी टाँगों से चिमट गई। उसने मेरी साड़ी में अपना मुँह छिपा लिया। मैं उसे उठाकर चूमने लगी।"[१]

२. "टूट गया तो टूट जाने दो। रोते क्यों हो, लला ! मैं तुम्हें और खिलौना ला दूँगा।"

'नहीं, हम तो अपना वही खिलौना लेंगे।'

रमैया, यह कहता हुआ धूल में लेट गया। रमैया का मचलना मैं खूब जानता हूँ। उसे मना लेना सहज नहीं। मैं भी 'कौन तेरे मुँह लगे' कहकर एक पेड़ की ओट में खड़ा हो गया। थोड़ी देर में उसका प्यारा मृग-शावक कहीं से उछलता-कूदता उसके पास आ पहुँचा। रमैया किलककर उससे लिपट गया।...उस समय रमैया बड़ा प्रसन्न था। मृग-शावक भी उसीके साथ किलक-किलककर खेल रहा था। मेरे लाल के मुख पर अपूर्व आभा थी। रोते-रोते उसकी बड़ी-बड़ी आँखें लाल हो गई थीं। सान्ध्य-गगन की रक्तिमा ने भी उस लाला में एक अनुपम योग दिया था। कपोलों पर हँसते समय जो गड्ढा पड़ जाता था, उसमें एक निराली ही सरलता झलकती थी। लाल-लाल होंठों की पतली रेखा पर क्या ही भोलापन थिरक रहा था। उस बाल-लावण्य को धूल-धूसरित अलकों ने और भी बढ़ा दिया था...बाल-गोविन्द के रूप-मकरन्द का पान करते-करते आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। शरीर पर रोमांच हो आया। ऐसा मालूम पड़ा मानो मैं कमल के फूलों को गोद में समेटे उस प्रशान्त वातावरण में उड़-सा रहा हूँ।...अधीर हो मैंने दौड़-कर रमैया को छाती से लगा लिया और उसका मुख चूमकर कहा कि 'लाल, तुम मेरे खिलौने हो।'

खिलौने का नाम सुनते ही वह फिर मचल गया। धन्य यह बाल-लीला !"[२]

यहाँ पहले उदाहरण में बालिका गुड्डे को सुलाने के लिए वैसा ही प्रयत्न कर रही है जैसा माँ बालक को सुलाने का प्रयत्न करती है। यहाँ बालिका आलम्बन, माता आश्रय, गुड्डे को सुलाने के लिए बालिका द्वारा तोतली बोली में प्रयुक्त शब्द 'छोजा, बच्चे छोजा, छोजा मेला मुन्ना' आदि उद्दीपन, हर्ष संचारी और माँ की मुस्कान अनुभाव है। दूसरे उदाहरण में बच्चे के खिलौने के टूटने पर मचलने और मृग-शावक के देखते ही उससे लिपट जाने और उसके धूल-धूसरित शरीर के सौन्दर्य पर मुग्ध पिता की अवस्था का चित्र है। पिता के बालक को गोद में उठाकर चूमने और उसे अपना खिलौना बताते ही बालक के फिर खिलौने के लिए मचल उठने की स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक स्थिति का

१. 'प्रवाल', पृ० २४।
२. 'अन्तर्नाद', पृ० ३८।

भी अच्छा चित्र खींचा गया है।

वीर-रस—सामान्यतः युद्ध ही वीरता-प्रदर्शन का स्थल माना जाता है और युद्ध में ही वीर रस की प्रधानता मानी गई है। लेकिन अन्य अनेक स्थान हैं, जहाँ वीरता-प्रदर्शन की आवश्यकता पड़ती है। किसी पीड़ित अथवा दलित की रक्षा करने, किसी अबला पर अत्याचार होते देखकर उसे बचाने और किसी डूबते को बचाने में प्राण-विसर्जन करने में भी वीरता ही है। गांधीजी इसीलिए अहिंसक सत्याग्रही को वीर की उपाधि देते थे। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है और उत्साह-प्रदर्शन की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। अतएव जितने परोपकार, दान, दया, धर्म आदि के सत्कर्म हैं उन सभी में वीरता दिखलाई जा सकती है, जिनमें युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर, दयावीर प्रमुख हैं। इनमें क्रमशः युद्धवीर में शत्रु, धर्मवीर में धर्म-ग्रन्थों के वचन आदि, दानवीर में याचक और दयावीर में दया के पात्र आलम्बन होंगे। उद्दीपन की दृष्टि से युद्धवीर में शत्रु के कार्य, धर्मवीर में धर्म-फल और प्रशंसा, दानवीर में अन्य दानदाताओं के दान और दान-पात्र की प्रशंसा, तथा दयापात्र के दीन दृश्य को लिया जाएगा। अनुभावों की दृष्टि से युद्धवीर में वीर की गर्वोक्ति और युद्ध-कौशल, धर्मवीर में धर्माचरण, दानवीर में याचक का आदर-सत्कार आदि और दयावीर में सान्त्वना के वाक्य समाविष्ट होंगे। संचारी की दृष्टि से युद्धवीर में हर्ष, आवेग, असूया, औत्सुक्य आदि, धर्मवीर में धृति, मति, बोध आदि, दानवीर में हर्ष, गर्व आदि, दयावीर में धृति, हर्ष, मति आदि आएँगे। यही सोचकर हमारे साहित्य-शास्त्रों में वीर रस के अनेक भेद किये गए हैं। अभिप्राय यह है कि जहाँ जिस विषय के कारण उत्साह का संचार हो अर्थात् उत्साह के भाव का पोषण हो वही वीर-रस होता है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में राष्ट्रीय जागरण के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार से वीर-रस की व्यंजना हुई है। उसका एक-मात्र उद्देश्य खोई हुई स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए जनता को उत्तेजित करना है। सर्वश्री वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री और माखनलाल चतुर्वेदी ने भारतीयों को उद्बोधित करते हुए अतीत की गौरव-गाथा का स्मरण करते हुए और अंग्रेज़ों के प्रति घृणा का प्रदर्शन करते हुए वीर रस की अनेक सुन्दर रचनाएँ की हैं। देखिए श्री वियोगी हरि भारतीय सैनिक को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं—"तू कैसा भारतीय सैनिक है? पड़े-पड़े कैसे काम चलेगा? उठ, आँख खोल। देख, युद्धारम्भ होने ही वाला है। यह विप्लव वेला है। क्रान्ति की काली-काली घटाएँ घिरने लगी हैं। कैसा विकराल वातावरण है! दनुज-दल-मर्दिनी रणचण्डी समर-भूमि पर ताण्डव नृत्य करने जा रही है। क्या तुझे उसके लोक-प्रकम्पक पुरों का छम-छम शब्द सुनाई नहीं देता? उद्भ्रान्त दिशाएँ थर-थर काँप रही हैं। ब्रह्माण्ड विक्षिप्त हो उठा है। समस्त जीव-जन्तु त्रस्त हो उठे हैं। प्रशान्त नभोमण्डल के वज्रोपम वक्षःस्थल पर विप्लव की रेखाएँ खचित हो गई हैं।"[1] इसी प्रकार श्री माखनलाल चतुर्वेदी गांधीजी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—"तुम उसकी ज़बान हो जो बोल नहीं सकता, उसके हाथ हो जो लिख नहीं सकता, उसकी चेतना हो जो असंगठित और तितर-बितर पड़ा है, उसके वकील जो सब-कुछ खो चुका, उसके रक्षक जो बलवान की कुचलन से बचने के लिए

१. 'अन्तर्नाद', पृ० २४।

छटपटा रहा है। तुम शिकारी के तीर के निशाने पर मुग्ध नहीं होते, लक्ष्य के भेदित होने के पहले अपना हृदय लगाते हो। तुम भरे पेट और अजीर्ण वाले धनी के साथ नहीं घूमते, भूख से मरते हुए को, भूनकर रोटियाँ खिलाने वालों में तुम दीख पड़ते हो।"[१] श्री चतुरसेन शास्त्री सच्ची वीरता का आदर्श इन शब्दों में रखते हैं—"निश्चल और निर्भय, सीधा तीर के समान, कुछ परवाह नहीं। सुलगने दे, धधकने दे और आकाश तक ज्वाला की लपलपाती लहरें उठने दे। वहाँ तेरे प्यारे जी तोड रहे हैं, घायल हो रहे हैं, जूझ रहे हैं, तू उधर मत देख। नए योद्धाओं को भेज। खबरदार! आवाज़ करारी बनाए रखना, स्वर काँपने न पाए, आँखों में आँसू न आने पावे। यह युद्ध है। युद्ध में जूझ मरना, उतनी वीरता नहीं है। सच्ची वीरता प्यारों के बलिदान को उत्फुल्ल नयनों से देखने में है।"[२]

अपनी कायरता और विलासप्रियता के लिए भर्त्सना और अंग्रेजों के प्रति घृणा में भी वीर रस की व्यंजना हुई है। 'आक्रान्त वसुन्धरा' नामक गद्य-काव्य में वियोगी हरि ने लिखा है—"उनका रक्त वीर आर्यों का है, उनका पालन-पोषण प्रकृति देवी ने किया था, उनकी अर्द्धोन्मीलित आँखें रक्तांगण में बन्द हुई थीं, पर आज वे अपने-आपको भूलकर कृत्रिम सभ्यता रमणी के गुलाम हो रहे हैं, उनके ओजस्वी नेत्रों में कामोद्दीपक भय छलक रहा है, जटाजूट के स्थान पर तैल-रंजित छल्लेदार बाल चमक रहे हैं। जिनकी छाती पर लोहे के कवच बँधे रहते थे आज वहाँ फूलों के हार भी भार-से मालूम होते हैं।...... यह क्लीव कपूत, माँ। अपनी पौरुषहीन आँखों से सर्वनाश की लीला देख रहे हैं। तेरी छाती पर आततायियों का ताण्डव नृत्य देखते हुए भी इनकी आँखों से खून नहीं टपकता। ये मृतप्राय अपने प्रश्वास को 'जीवन' का नाम दे रहे हैं। धिक्कार!"[३] श्री चतुरसेन शास्त्री ने यही कार्य व्यंग्यपूर्ण शैली में और अच्छी तरह किया है। 'अंग्रेज प्रभु' नामक गद्य-काव्य में वे कहते हैं—आप हमसे डरते किसलिए हैं? हमारा यह भारी डील-डौल देखकर? या बड़ी-बड़ी स्पीचें सुनकर? अरे! वह कुछ नहीं। आप लोग जैसे पुराने ज़माने के बे-डौल हथियारों को अपने अजायबघरों में कौतुक के लिए सजाकर रखते हैं, उसी तरह हमने यह भारी डीलडौल, बड़ी-बड़ी मूँछें सिर्फ प्रदर्शनी के लिए, आप हजूरों की दिल्लगी के लिए रख छोड़ी हैं। यह हमारा पुरातत्त्व विभाग है। समझे आप! और वह जो हम गाल बजाते हैं—उसका मतलब साफ है—'गरजे सो बरसे नहीं' भला हम कहीं आपके सामने मर्द बन सकते हैं!"[४] "अरमान और जगत् के संकेत प्राण हों। यदि हम अपने बीच से गांधी और रवीन्द्र को उठाकर एक ओर रख दें तो हमारा भाग्य किसी ब्रिटिश अदालत में लावारिस और दिवालिया होने की दरख्वास्त देता नजर आयगा।"[५]

इन कथनों में हास्य का भी पुट मिला हुआ है और ये हमारे मर्म पर चोट करने में पूरी तरह सफल हैं।

---

१. 'साहित्य देवता', पृ० ६१।
२. 'मरी खाल की हाय', पृ० ११६।
३. 'अन्तर्नाद', पृ० ६६।
४. 'मरी खाल की हाय', पृ० ६७।
५. 'साहित्य देवता', पृ० ६८।

अंग्रेज़ों के प्रति घृणा का प्रदर्शन श्री वियोगी हरि ने अपने 'अन्तर्नाद' में बड़ी कुशलता से किया है। उनके 'कैसे आ गए', 'निर्दय विनोद', 'स्वर्ग में असन्तोष' आदि गद्य-काव्य इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। उनमें रौद्र रस का भी समावेश है। 'कैसे आ गए' गद्य-काव्य में वे लिखते हैं—"कैसे आ गए हमारे इस उद्यान में ? एक दिन यह उद्यान नन्दन वन से होड़ लगाता था। यहाँ की रत्नगर्भा स्वर्ण-भूमि का उपयोग करने के लिए अमरावती के निवासी भी लालायित रहते थे।......तुम इसमें सैर करने आए थे। अच्छे सैलानी निकले। जिन रत्नों का हमको भी पता न था, वे भी खोद-खोदकर निकाल ले गए। सारा नन्दन वन ऊजड़ हो गया। वृक्षों में एक भी फल न बचा। दुग्ध-परिसिक्त-भूमि पर मदिरा का छिड़काव कर दिया गया। जिस स्वार्थपरता और निर्दयता से इस स्वर्गीय उद्यान का चौपट हुआ है उसे या तो हम जानते हैं या घट-घटवासी परमात्मा। इतने पर यह बकते फिरते हो कि हम माली बनकर तुम्हारे ऊजड़ बाग की रखवाली करने आए हैं।"[१] श्री अज्ञेय ने चेतावनी देते हुए बड़ी सुन्दरता से अंग्रेज़ों के प्रति अपनी घृणा का प्रकाशन किया है। उन्होंने कहा है—"तुम गौर वर्ण हो, हम श्यामल हैं, किन्तु इस वर्ण-भेद से गर्वान्वित न होना। यह तो मानते हैं कि श्वेत बादल काले बादलों से उच्चतर होते हैं, किन्तु क्या तुमने कभी यह सोचा है कि वायु के हलके झोंके से श्वेत बादल अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, क्योंकि उनमें जल का अभाव है। ये काले बादल सौन्दर्य-विहीन हैं, बेडौल भी हैं, किन्तु इनमें स्थिरता तो है, वे वायु के आगे छिन्न तो नहीं होते। तुम वर्ण-श्रेष्ठ तो हो, किन्तु स्मरण रखना, इस श्यामयिता की ओट में भीषण विद्युज्योति है, इस स्थूलता के पीछे प्रलय का घोर प्रवाह छिपा हुआ है गौर तनु ! सोचो और सँभलो !"[२]

गांधीजी द्वारा छेड़े गए राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार से वीरभावों की व्यंजना हुई है। पीड़ित और दलित के प्रति प्रेम का प्रदर्शन भी हुआ है, जो दयावीर का अंग है। सत्य और अहिंसा के ऊपर दृढ़ रहने वाले वीरों के वर्णन में धर्मवीर और कर्मवीर की झलक मिलती है। सूली पर चढ़ जाने वाले आतंकवादी वीरों के साहस के चित्रण में 'बलवीर' की व्यंजना मानी जा सकती है। यों वीर रस के सभी प्रकारों का समावेश गद्य-काव्यों में हुआ है।

करुण रस—करुण रस का स्थायी भाव शोक है। शोक का अर्थ है इष्टनाश आदि के कारण चित्त की विकलता।[३] इसमें मानव सहचर से लेकर मृग, शुक, लता, वृक्ष आदि जड़-चेतन प्रत्येक उस पदार्थ के नाश से उत्पन्न दुःख का समावेश है जिसके साथ हमारे मन का प्रिय सम्बन्ध रहा हो। इस रस में आलम्बन की दृष्टि से बन्धु-विनाश, प्रिय-वियोग, पराभव आदि का समावेश होता है, उद्दीपन की दृष्टि से प्रियवस्तु के प्रेम, यश या गुण का स्मरण, वस्त्र, आभूषण, चित्र आदि के दर्शन का अनुभाव की दृष्टि से रुदन, उच्छ्वास, छाती पीटना, दैव-निन्दा, प्रलाप आदि का और संचारी की दृष्टि से व्याधि,

१. 'अन्तर्नाद', पृ० ८६।
२. 'चिन्ता', पृ० ६२।
३. 'इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोक शब्दभाक्।' साहित्य दर्पण।

ग्लानि, मोह-स्मृति, दैन्य, चिन्ता, विषाद आदि का हिन्दी-गद्य-काव्यों में पत्नी-वियोग के विषय में लिखे गए गद्य-काव्यों में करुण रस की पूरी-पूरी व्यंजना हुई है। यहाँ ऐसे दो उदाहरण दिए जाते हैं—

१. देखते-देखते उधर चिता धधक उठी, इधर मेरे हृदय में चिन्तानल धधक उठी। हाय, जिसकी देह इस चिता पर लहक रही है, जिसे मैंने आज अग्नि की गोद में सुला दिया है—वह मेरे धर्म का सहाय, संसार का पुण्य, गृह की लक्ष्मी, सुख-दुःख की संगिनी, शरीर एवं आत्मा की पूर्ति थी। इसके न रहने से मेरा गृह अरण्य हो गया, इसके चले जाने से संसार के संग मेरा अन्तिम बन्धन टूट गया। मेरी आज क्या दशा हो रही है, उसे मेरा मन जानेगा और जो अन्तर्यामी हैं वह जानेंगे। दूसरे क्या जानेंगे।"[1]

२. "ओह! वह मधुर चितवन! वे नेत्र जो अस्त होते हुए सूर्य के-से प्रतिबिम्ब, रक्ताम्बर के छोटे-से तारे के समान थे, क्या मैं कभी उन्हें स्वप्न में देखने का साहस भी न करूँ? उस दिन तुम मुझे देखकर मुस्कराई थीं, तब मैं अपने जीवन के समस्त उल्लास के साथ दौड़ा था। और कहा था ठहरो! पर तुम किस लोक में हँसने को चली गईं? सिर्फ एक बार हँसकर?"[2]

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पूज्य महात्मा गांधी, वीर-शिरोमणि सुभाष आदि के दिवंगत होने पर जो करुण उद्गार गद्य-काव्यकारों के हृदय से निसृत हुए हैं उनमें भी करुण रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। सर्वश्री वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, ब्रह्मदेव आदि लेखकों ने बड़े ही मर्मस्पर्शी शब्दों में ऐसे गद्य-काव्यों में करुणा की धारा प्रवाहित की है। उदाहरणार्थ श्री ब्रह्मदेव की विश्व-कवि के स्वर्गवास के सम्बन्ध में लिखी गई ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—"वह मुड़ा नहीं और उत्फुल्ल दिवा-ज्योति में विलीन हो गया। कक्ष में बैठी हुई कुमारियाँ, जो वीणा पर प्रार्थना स्वर में गा रही थीं—अपने संगीत की मूर्च्छना में निश्चल हो गईं। उनका वह अशान्त अतिथि विदा ले चुका था और उनके संगीत की अब कोई आवश्यकता न थी। वे धीरे से उठकर अलिन्दों में जा खड़ी हो गईं। उनकी दृष्टि के आगे नील-गम्भीर-आकाश की शून्यता-मात्र थी।"[3]

देश की दुर्दशा तथा शासकों के अत्याचार का चित्रण करते समय भी करुणा का ऐसा स्रोत बहाया गया है, जिसे पढ़कर आँखें सजल हो जाती हैं। सन् २१ में ६ वर्ष के लिए जेल जाते समय गांधीजी को लक्ष्य करके श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'कहाँ जाते हो?' शीर्षक से जो गद्य-काव्य लिखा था, उसका यह अंश देखिए—"ना इस बार हम तुम्हें न जाने देंगे। हम अपनी आत्माओं की शपथ खाकर कहते हैं कि तुम इस बार चुपचाप न जाने पाओगे। स्याह और सफेद करना ही होगा। इन्हीं हाथों, इसी बार, हम बार-बार तुम्हें कहाँ पावेंगे? वह नव-विधवाओं के अविकसित और मलिन मुखों पर कभी न रुकने वाले आँसुओं से भरी आँखें देखो, क्या तुम इसे ओस से भरे हुए गुलाब की शोभा समझते हो—वह जीवन की अन्तिम घड़ियों में गोद से बल्कि संसार से उठा दिए गए निरपराध

१. 'सौन्दर्योपासक', पृ० २१२।

२. 'अन्तस्तल', पृ० १७२।

३. 'आँसू भरी धरती', पृ० ७।

बच्चों की माताओं की कम्पित-गम्भीर-निश्वास की ध्वनि सुनो—क्या तुम उसे अपनी बाँसुरी की प्रतिध्वनि समझते हो? वह कारागार की मनहूस दीवारों के पीछे आश्चर्यकारक भीड़ की आश्चर्यकारक उत्तेजित दिनचर्या देखो—इसे क्या तुम अपने राजसूय के उत्सव की भीड़ समझते हो? और सबके पीछे। हमारा खून से भीगा पल्ला देखो, हमारी बहन-बेटियों का धूल-भरा आँचल देखो—हमारा अनन्त उन्माद देखो! क्या तुम इसे अपने फाग का रंग समझते हो?''[१]

अंग्रेज़ों के अत्याचारों का वर्णन 'निर्दय विनोद' नामक गद्य-काव्य में श्री वियोगी हरि ने इस प्रकार किया है—''सता लो, मार लो, खा लो! तुम्हारे मन में चाव क्यों रह जाए? लो, यह है गर्दन! आधी ही काटकर क्यों रह गए? अवसरों पर हँस लो! हँसो, हँसो! हँसते-हँसते धड़ से सिर अलग कर दो! फिर हँसो, खिलखिला पड़ो, उसे पैरों से कुचल डालो! सन्तोष न हुआ हो तो धड़ पर ही निशाने लगाओ! खेल ही सही। आखेट ही हुआ। खाते हुए के गाल पर थप्पड़ जमाओ! प्यासे के मुँह से गिलास छीनकर फेंक दो! रोते हुए के मुँह में कपड़े ठूँस दो! एक यह भी लीला सही। जिसमें तुम्हारी प्रसन्नता हो करो! निर्दयता और निरंकुशता ही तो तुम्हें मनुष्यत्व—मनुष्यत्व ही क्यों देवत्व—का प्रमाण-पत्र प्रदान करेगी।''[२]

शासकों के अत्याचारों से पीड़ित जनता की दुर्दशा का ही करुण चित्र नहीं, किसान, मजदूर और अछूतों के अभावों का भी हृदय को द्रवीभूत कर देने वाला वर्णन हुआ है। लगभग सभी गद्य-काव्य-लेखकों ने पीड़ितों की पीड़ा को अभिव्यक्ति देकर अपनी लेखनी को पवित्र किया है। श्री ब्रह्मदेव ने तो अपनी 'आँसू भरी धरती' में विभाजन के समय पश्चिमी पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों तक की दयनीय दशा का वर्णन किया है। वे हृदय से उनकी व्यथा अनुभव करते हुए लिखते हैं—''यह हमारा भूखा-प्यासा रक्त से लथ-पथ थका हुआ, निद्रा-विहीन, यात्री-दल चला आ रहा है। आज हमारी ही भूमि अंगार का पथ बन गई। आज हमारी ही हवा आघात कर रही है। आज हमारा ही भाई हमारे शरीर को रक्त से नहलाकर विदा कर रहा है।''[३] श्री ब्रह्मदेवजी ने अपनी इस पुस्तक में नोआखाली, गांधीजी की समाधि आदि पर भी गद्य-गीत लिखे हैं और विश्व-युद्ध से पीड़ित मानवता की आत्मा की व्यथा को भी वाणी दी है। यों यह पूरी-की-पूरी पुस्तक ही करुण रस में सराबोर है।

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त महाराजकुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह ने अपने ऐतिहासिक गद्य-काव्यों में सम्राटों के वैभव के ह्रास पर जो अश्रु-पात किया है वह भी मनुष्य के हृदय को भारी बना देता है। महाराजकुमार किस प्रकार करुणा की व्यञ्जना करते हैं, इसके स्पष्टीकरण के लिए एक यही उदाहरण पर्याप्त होगा—''इस लोक में आकर कौन अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण कर सका है? किसने चिर-संयोग का सुख पाया है? कुछ ही घड़ियों, कुछ ही दिनों का, कुछ ही वर्षों का, युगों का संयोग···और बस

१. 'मरी खाल की हाय', पृ० ८३।
२. 'अन्तर्नाद', पृ० ६२।
३. 'आँसू भरी धरती', पृ० ३१।

यही संसार की जीवन-कहानी सुखवार्ता समाप्त हो जाती है। वियोग, वियोग, चिर-वियोग और उस पर बहाये गए आँसू, बस ये ही शेष रह जाते हैं और तब धू-धू करके भावों का बवंडर उठता है, हृदय जल उठता है, आँसुओं का प्रवाह उमड़ पड़ता है, तप-तपाई हुई उसाँसें निकल पड़ती हैं···और अन्त में रह जाती है स्मृति-रूपी दीपक की वह श्यामल-धूमिल रेखा जो जल-जलकर तमसावृत पटल को अधिकाधिक अन्धकारपूर्ण बनाती है और वे आँसू, जिन्हें उस निराशामय शान्त निस्तब्ध वातावरण में कोई अनजाने टपका देता है।"[१]

सारांश यह कि करुण रस की दृष्टि से भी हिन्दी-गद्य-काव्य अत्यन्त सम्पन्न है।

शैली के रूप-विधान

भिन्न-भिन्न लेखक अपने व्यक्तित्व और अनुभूति की भिन्नता के कारण एक ही विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं, इसलिए साहित्य की धाराओं में शैली के रूप-विधान की विविधता आ जाती है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विविधता अनेक प्रकार की शैलियों को अपने भीतर समाए हुए मिलती है। उनके स्वरूपों का पारस्परिक भेद इतना असंलक्ष्य होता है कि उसे स्पष्ट करना भी कठिन हो जाता है। गद्य-काव्य-धारा के सम्बन्ध में भी यही बात है। अतएव हम यहाँ गद्य-काव्यों की प्रमुख शैलियों की ही चर्चा करना उपयुक्त समझते हैं।

हिन्दी-गद्य-काव्यों में प्रधान रूप से ये शैलियाँ मिलती हैं—(१) गीत-शैली, (२) कथा-शैली, (३) वर्णन-शैली, (४) स्वगत-शैली, (५) संवाद-शैली और (६) सूक्ति-शैली।

गीत-शैली—गद्य-काव्यों की सबसे प्रधान शैली गीत-शैली है। गद्य-गीत तो प्रायः इसी शैली में लिखे गए हैं। इस शैली में लिखी जाने वाली रचनाओं का भी बाहुल्य है। इस शैली में प्रथम पंक्ति एक-एक भाव-खण्ड को व्यक्त करने वाले वाक्य के पश्चात् दुहराई जाती है। इस प्रकार 'स्थायी' की पुनरावृत्ति द्वारा गद्य-काव्य में गीत का-सा आनन्द आता है। श्रीमती दिनेशनन्दिनी का एक गीत देखिए—

"महामिलन की वेला है, फिर हम और तुम क्यों न मिलें? अम्बर और अवनि मिल रहे हैं, यौवन और जरा मिल रहे हैं, जीवन और मृत्यु मिल रहे हैं, प्रकृति और पुरुष मिल रहे हैं।

महामिलन की वेला है, फिर हम और तुम क्यों न मिलें? जल और थल मिल रहे हैं, भय और प्रीति मिल रहे हैं, पाप और पुण्य मिल रहे हैं, गरल और सुधा मिल रहे हैं, अधर-से-अधर मिल रहे हैं, फिर हम और तुम क्यों न मिलें?"[२]

कभी-कभी प्रत्येक भाव-खण्ड वाले वाक्य के आरम्भ में एक ही प्रकार का वाक्यांश रखकर संगीत की सृष्टि की जाती है—

"मैं तुमसे मिलने को अन्धकार में बैठा हूँ। तुम मेरे पास दीपक लेकर क्यों

१. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० १२६।
२. 'मौक्तिक माल', पृ० १३।

आते हो ?

मैं तुमसे मिलने को सुनसान और एकान्त में भिखारी बना बैठा हूँ। तुम भीषण रव करते और दल-बल से क्यों आते हो ?

मैं तो तुमसे मिलने को सर्वस्व त्याग कर बैठा हूँ। तुम मेरे पास सब-कुछ लेकर क्यों आते हो ?

क्या तुम्हें भी दिखावा रुचता है ?"[१]

सम्बोधन-शैली—श्री भँवरमल सिंघी की 'वेदना', श्री तेजनारायण काक की 'मदिरा', ब्रह्मदेव की 'आँसू भरी धरती', श्री नोखेलाल की 'मणिमाला', श्री रावी की 'शुभ्रा' आदि कृतियों में यह शैली विशेष रूप से अपनाई गई है। गीत-शैली के ही अन्तर्गत सम्बोधन-शैली, प्रार्थना-शैली और पद्यारम्भ-शैली भी आती है। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

इस शैली में जड़ या चेतन किसी भी पदार्थ या व्यक्ति को सम्बोधित करके अपनी भावनाओं को व्यक्त किया जाता है। कवि, गायक, चित्रकार, कलाकार, पथिक, माँझी आदि को सम्बोधित करके हिन्दी में अनेक गद्य-काव्य लिखे गए हैं। सम्बोधन-शैली में लिखा गया एक गद्य-गीत देखिए :

"गायक ! अपनी करुण रागिनी में वह मधुरतम स्वर-लहरी भर दे कि विश्व का पाशविक वृत्तियाँ अति मनोरम बन जाएँ। चित्रकार ! अपनी तूलिका से वह अनन्त सौन्दर्य बिखेर दे कि संसार मानव-भाव धारण कर, विश्व-प्रेम का पावन पाठ सीख सके। कवि ! अपनी मधुर कल्पना का वह मनोरम स्वर्ग ला दे कि विश्व-मानवता के अतिरिक्त सौन्दर्य का जिसमें प्रत्यक्ष दर्शन हो।"[२]

प्रकृति के उपकरणों को सम्बोधित करके अपनी मनोदशा के व्यक्तीकरण का प्रयत्न इस प्रकार किया जाता है—

"चन्द्र ! तुम उस समय मुस्कराना, जब मैं उसके सपनों में अश्रु-मोतियों के बन्दनवार सजाऊँ।

वायु ! तुम उस समय खेलना, जब मैं किनारे की तरफ दौड़ती हुई लहर होऊँ।

सूर्य ! तुम तब प्रकाशित होना, जब मेरी भाव-दूबों पर बैठी हुई नीहार-कणिकाएँ अपना सारा साज सजा लें।

सूर्य चन्द्र ! तुम उस समय तपना, जब मैं तुम्हारे साथ हो सकूँ।"[३]

श्री रामनारायण सिंह की 'मिलन पथ पर' पुस्तक तो पूरी-की-पूरी इसी शैली में लिखी गई है, जिसमें कोकिला, चकोरी, मयूरी, तितली, मीन, मृगी, दामिनी, बूँद, कलिका, कुमुदिनी, भ्रमरी, सरिता आदि को सम्बोधित करके विभिन्न प्रकार की भावनाएँ व्यक्त की गई हैं। इनके अतिरिक्त आत्मोद्धार और विश्व-बन्धुत्व तथा वीरों को उत्साह देने वाली भावनाओं को भी इसी शैली में व्यक्त किया जाता है। श्री वियोगी

---

१. 'साधना', पृ० ६२।
२. 'उन्मुक्ति', पृ० ११।
३. 'वेदना', पृ० २८।

हरि के 'अन्तर्नाद' में इसका निखरा हुआ रूप मिलता है।

प्रार्थना-शैली—यह शैली गद्य-काव्य का आधार है। लौकिक और अलौकिक प्रियतम के प्रति आत्म-निवेदन के गद्य-गीत इसी शैली के अन्तर्गत आते हैं। श्री वियोगी हरि ने अलौकिक प्रियतम के प्रति हृदय की भावनाओं का व्यक्तीकरण यदि 'प्रार्थना' पुस्तक लिखकर किया है तो श्री रजनीश ने लौकिक प्रेयसी के प्रति अपने मन की व्यथा का व्यक्तीकरण 'आराधना' लिखकर किया है। इन गद्य-काव्यों में प्रिय की महत्ता का प्रतिपादन तो होता ही है, उसकी कृपा-दृष्टि की याचना भी की जाती है। श्री वियोगी हरि कहते हैं—

"प्यारे! तुम्हीं राम हो और तुम्हीं रहीम। घट-घट में तुम्हारी ही लगन-लहर तो लहरा रही है। कौन घट खाली है तुम्हारे प्रेम-रस से? बलिहारी! खूब रम रहे हो रोम-रोम में, मेरे प्यारे राम!

ज़र्रे-ज़र्रे में तुम्हारा ही रहम तो समाया हुआ है। क्या ही मस्तानी चाल से झर रहा है तुम्हारी दया का बारहमासी झरना! प्यारे रहीम, अच्छा पिलाया है इस थके-माँदे राहगीर को अपने रहम का यह ठण्डा-ठण्डा शर्बत।

मेरे राम! ऐसे ही रोम-रोम में रमे रहो। मेरे रहीम, इसी तरह हमें अपने रहम का अमीरस पिलाते रहो।"[1]

लौकिक प्रेयसी के प्रति प्रार्थना का स्वरूप यह है—

"हे जीवनेश्वरी! सर्वस्व देकर भी मेरे पास कुछ बच रहा हो तो तुम उसे भी ले लो।

हृदय पर अपना अधिकार पहले ही कर चुकी हो, अब बची है केवल आत्मा। आओ, उसे भी क्यों न अपनी आत्मा में लय हो जाने दो! तन तुम्हारी सेवा में पहले ही अर्पण हो चुका है, शेष रह गये हैं प्राणमय श्वास या निश्वास, क्यों न ये भी तुम्हारे श्वास-निश्वास के साथ मिलकर एकरूप हो जाएँ! संसार के असार धन-जन-सम्बन्धी सुख त्यागकर यदि मैंने कोई भी कामना-मूरि पाल-पोसकर बड़ी होने दी है तो वह केवल तुम्हारे ही सम्बन्ध में है, इसलिए अपनी कामनाओं के कुञ्ज में उसे भी मिलाकर अदृश्य हो जाने दो।

हे प्राणाधिके! सर्वस्व देकर भी मेरे पास कुछ बच रहा हो तो तुम उसे भी ले लो।"[2]

पद्यारम्भ शैली—कुछ गद्य-काव्य लेखकों के गद्य-गीतों की प्रथम पंक्ति पद्य की-सी होती है। उससे एक विशेष प्रकार का आकर्षण उनकी शैली में आ जाता है—

१. "रिमझिम रिमझिम बरसे बदरवा,
मौलश्री की सघन छाया में घड़ी-भर के लिए प्रिय आ,
विगत पतझड़ की पत्तियों ने स्मृति पथ को ढक रखा है।
रिमझिम रिमझिम बरसे बदरवा।"

१. 'प्रार्थना', पृ० २८।
२. 'आराधना', पृ० २८।

मिलन के बाद वियोग का क्षण निश्चित है, किन्तु विदाई के पूर्व तरु तले आ, जिसकी गीली डाल पर बैठकर पपीहा अपनी कूक से भादों की काली निशा के काले स्वप्नों को प्रकम्पित कर रहा है—

"रिमझिम रिमझिम बरसे बदरवा।"[1]

२. "भोर हुआ, उठ जाग सखी री !
वह परदेशी आया।

प्रतीक्षा में रैन बिहानी ! स्वागत-थाल अछूता ही रहा। माला के फूल मुरझाकर गिर पड़े। सौरभ फिर भी महक रहा है। आरती की लौ बिखरकर बुझ गई। सहे फिर भी उभर रहा है। रतनारे नयन-डोरों से अश्रु-लड़ियाँ बिखराकर भग्न अन्तर ले। तू जा सोई उन्मन मना ! अलसाई पलक उघाड़ उनींदी ! देख तो अतिथि तेरे द्वार खड़ा है।"[2]

३. "मैं उन्हें ढूँढ़ने क्यों जाऊँ, सखि !
वे आज मुझे यहीं मिल गए मन में।
मैं उन्हें मनाने क्यों जाऊँ सखि !
वे आज सहज मुसकरा उठे नयन में।
मैं उन्हें रिझाने क्यों जाऊँ सखि !
वे आज यहीं बँध रहे स्नेह बन्धन में।"[3]

उपर्युक्त गद्य-गीत पद्य के निकट है। अन्तिम गीत तो इतना सन्तुलित है कि उसमें छन्द का पूरा-पूरा सौन्दर्य खिल उठा है। श्रीमती दिनेशनन्दिनी और शकुन्तला कुमारी 'रेणु' ने इस शैली को विशेष रूप से अपनाया है।

कथा-शैली—इस शैली के द्वारा किसी भाव या विचार की व्यञ्जना सहज ही हो जाती है। यह हमारे यहाँ की ही प्रमुख शैली है जैसी कि वेद और उपनिषद् की दृष्टान्त-कथाओं में होती है; परन्तु आधुनिक काल में खलील जिब्रान द्वारा इस शैली को विशेष बल मिला है। यह लघु-कथा जैसा आनन्द देने वाली चीज़ है। इस शैली में रचना के अन्त में नाटकीय प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। श्री रायकृष्णदास के 'छाया पथ' में इसका अच्छा प्रयोग हुआ है। एक उदाहरण देखिए—

"मैं एक अत्यन्त सुन्दर चित्र देख रहा था। अचानक किसी के गाने का शब्द सुन पड़ा। तबीयत फड़क उठी। मैंने चित्र रख दिया। खिड़की से देखा कि एक अन्धा गा रहा है। जब वह समाप्त कर चुका, मैंने उस पर रुष्ट होकर कहा—'तूने क्यों ऐसे समय मेरा मन आकृष्ट किया ? चित्र देखते-देखते मेरे हृदय में एक अपूर्व भावना उठ रही थी, वह अधूरी रह गई।'

वह हँस पड़ा ! पूछा—'कैसा चित्र है ?'

मैंने वर्णन किया।

---

१. 'वंशीरव', पृ० ६६।
२. 'उन्मुक्ति', पृ० ४१।
३. वही, पृ० ७७।

तब वह कहने लगा—'भैया, एक दिन मैं चित्रकार था, मैंने ही उसे बनाया था। तब लोग उलाहना देते कि तुम ऐसे चित्र बनाते हो कि उसे देखने में लोग स्वयं चित्र-लिखे-से रह जाते हैं। अब अन्धा होकर—अपने लिए सारी दुनिया गँवाकर—जो गाता हूँ तो भी उलाहने से मेरी जान नहीं छूटती'।"[1]

यहाँ कलाकार की स्थिति की व्यञ्जना सुन्दर ढंग से हुई है। कहीं-कहीं अन्त में आदेश भी दिया जाता है। जैसे—

वियोगी हरि के 'परिश्रान्त पथिक' गद्य-काव्य में प्रभुरूपी हीरे की खोज में भटकने वाले व्यक्ति को यह आदेश दिया है—"दृष्टि निर्मल करो! दिव्य दृष्टि से ही उसका दर्शन होगा। दिव्य दृष्टि का अञ्जन तुम्हें इस वृक्ष के नीचे ही मिल जाएगा। धीरज धरो पथिक! बहुत भटक चुके, अब चलने-फिरने की जरूरत नहीं। तुम चाहोगे तो वह हीरा इसी क्षण मिल जाएगा।"[2] इस गद्य-काव्य में लेखक आवागमन के चक्र में फँसे व्यक्ति से बातचीत करके अन्त में उसे उपर्युक्त सन्देश देता है।

इस प्रकार कथा-शैली आधुनिक गद्य-काव्य की एक प्रमुख शैली है। श्री रायकृष्णदास और श्री वियोगी हरि के अतिरिक्त श्री चतुरसेन शास्त्री में भी इस शैली का प्राधान्य है। शास्त्रीजी की 'मरी खाल की हाय' में इस शैली के ही गद्य-काव्य हैं।

वर्णन-शैली—वर्णन-शैली में सहज अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है। इसकी सीमा बड़ी विस्तृत है। जो गद्य-काव्य-शैली के किसी रूप-विधान में नहीं आते वे इसमें आते हैं।

सभी गद्य-काव्य-लेखकों ने इसका थोड़ा-बहुत आश्रय लिया है। कहीं इसके द्वारा किसी भाव का मूर्त रूप खड़ा किया जाता है, कहीं किसी प्राकृतिक दृश्य का चित्रण होता है, कहीं देश और समाज की करुण दशा का चित्रण होता है और कहीं अतीत के गौरव का चित्रण किया जाता है। श्री वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी और राजकुमार रघुवीरसिंह वर्णन-शैली के आचार्य हैं। कारण, इन्होंने लम्बे गद्य-काव्य लिखे हैं और उन्हीं में यह शैली निखार पा सकती है। उदाहरण के लिए नीचे के गद्य-खण्ड पर्याप्त होंगे—

१. "यह सच है कि सुख में प्रलोभन है, पर मैंने उसे चखना एक ओर रहा, छूकर भी नहीं देखा। यही खैर हुई। वरना क्या होता? आज क्या यह पत्र लिख सकती? मन इतना साहस कहाँ पाता? आँसू आ रहे हैं, शरीर का रक्त मस्तक में इकट्ठा हो रहा है और नसों की तन्त्री झनझना रही है। रह-रहकर मन में आता है इस पत्र को फाड़ दूँ। यह असम्भव है। इतनी हिम्मत से—इतने साहस से—इतनी वीरता से जो पत्र लिखा है उसे फाड़ूँगी नहीं। क्या आप इसका मूल्य समझेंगे?"[3]

२. "सुकुमार मृग-शावक चपल चाल से उछलता-थिरकता पलायन कर रहा है, कल्पना-कलित सुललित विहंग-संघ तरु-शाखाओं पर सुरीला गायन कर रहा है। लाल-

१. 'छाया पथ', पृ० ८३-८४।
२. 'अन्तर्नाद', पृ० ५१।
३. 'अन्तस्तल', पृ० २६।

लाल कर-पल्लव-लसित सुमन्द हास्य किलकित शिशु पालने में खेलता हुआ माता के अनिमेष नेत्रों को आनन्द दे रहा है और आनन्द-प्रेमियों के परस्पर आलिंगन में अवर्णनीय सुख-सुधा की वृष्टि हो रही है।''[१]

३. ''सीकरी का सीकर सूख गया, उसके साथ ही मुस्लिम-साम्राज्य का विशाल वृक्ष भी भीतर-भीतर ही खोखला होने लगा। करोड़ों पीड़ितों के तपे-तपाए आँसुओं से सींची जाकर उस विशाल वृक्ष की जड़ें मुर्दा होकर ढीली हो गई थीं, अतः जब अराजकता, विद्रोह तथा आक्रमण की भीषण आँधियाँ चलने लगीं, युद्ध की चमचमाती चपला चमकी, पराजय-रूपी वज्रपात होने लगे, तब तो साम्राज्य-रूपी वृक्ष उखड़कर गिर पड़ा, टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया और उसके अवशेष, विलास और ऐश्वर्य का वह भव्य ईंधन असहायों के निश्वासों और शहीदों की भीषण फुंकारों से जलकर भस्म हो गए।''[२]

यहाँ प्रथम उद्धरण में दुःख-मनोविकार का, दूसरे में प्रभात काल का और तीसरे में फतहपुर सीकरी के ह्रास का वर्णन है। देश-प्रेम की रचनाएँ, देश की दुर्दशा, भारत-भूमि के सौन्दर्य, विद्रोही जाति के चित्र इसी कोटि में आते हैं। श्री ब्रह्मदेव 'शरणार्थी' नामक गद्य-काव्य में लिखते हैं—

''वे भागे आ रहे हैं—आराम से नहीं। उनका पथ जंगलों और पर्वतों का था। भूखे और प्यासे आ रहे हैं वे। ऊँची चढ़ाइयों से थककर उनमें से बहुत विश्राम के लिए रुक गए और वे कभी न उठेंगे। सद्यःजात कितने शिशुओं को माताओं ने वहीं छोड़ दिया है, निर्दय बनकर नहीं, वे उन्हें ढो नहीं सकती थीं और माँ पृथ्वी ने उन्हें अपनी गोद में ले लिया है। वे हवा की चादर के नीचे सुख से सो रहे होंगे।''[३]

स्वगत-शैली—नाटकों के स्वगत-कथन का प्रभाव गद्य-काव्यों पर पड़ा है। इसमें स्वयं किसी से वार्तालाप-सा किया जाता है। श्री चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी और वियोगी हरि ने विशेष रूप से इस शैली को अपनाया है। 'आशा' नामक गद्य-काव्य में शास्त्रीजी कहते हैं—''आशा ! आशा !! अरी भलीमानस ! ज़रा ठहर तो सही, सुन तो सही, कहाँ खींचे लिये जा रही है ? इतनी तेजी से, इतने ज़ोर से ? आखिर सुन तो कि पड़ाव कितनी दूर है ? मंज़िल कहाँ है ? और छोर किधर है ? कहीं कुछ भी तो नहीं दीखता। क्या अन्धेर है ! छोड़, मुझे छोड़ ! इस उच्चाकांक्षा से मैं बाज़ आया। पड़ा रहने दे, मरने दे ! अब और दौड़ा नहीं जाता। ना, ना अब दम नहीं रहा। यह देखो हड्डी टूट गई, पैर चूर-चूर हो गए, साँस रुक गया, दम फूल गया। क्या मार ही डालेगी ? सत्यानाशिनी किस सब्ज़ बाग का झाँसा दिया ? किस मृगतृष्णा में डाला मायाविनी ? छोड़-छोड़ मैं तो यहीं मरा जाता हूँ।''[४] इसका और स्पष्ट रूप माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य देवता' में मिलता है। जैसे—''क्या कहा ? मैं निर्दय हूँ ? मेरे प्रहारों से तुम्हारी नज़र में मेरा मूल्य भले ही घट जाए, किन्तु 'धीर ध्वनि' में विश्व में तुम्हारा

१. 'तरंगिणी,' पृ० ५६।
२. 'शेष स्मृतियाँ,' पृ० ६१।
३. 'आँसू भरी धरती,' पृ० १५।
४. 'अन्तस्तल,' पृ० ६१।

मूल्य घटा देखकर जीवित नहीं रह सकता। मैं यह जानता हूँ कि तुम पर कसे गुन तानकर खींच दूँगा, तो तुम्हें स्वर-समाधि देने का पाप मुझे लगेगा। फिर तो, राजरानी का स्वर लहरों पर चढ़कर, समाधिस्थ होने का सारा व्यापार ही बिगड़ जाएगा। तुम्हारी चिर-समाधि का षड्यंत्र जब मैं रचूं, तब मैं शस्त्रधारी नहीं रहता, हत्यारा हो जाता हूँ। किन्तु यदि तुम्हारे गुनों को, विश्व-बन्धनों को ढीला छोड़ देता हूँ तो तुम्हें अस्तित्व रखकर अस्तित्व न रखने वाला बना देता हूँ।"[१] इसी प्रकार श्री वियोगी हरि कहते हैं—"क्या यह स्वर्ग है ? तब तो छोड़ा ऐसा स्वर्ग। देवदूत मुझे अपने उसी मर्त्य-लोक में भेज दे। कर्म-लोक का निवासी काम-लोक की कामना नहीं करता। अरे ! मेरी वह निर्जन कुटिया क्या बुरी है ? मुझे अपनी उसी मढ़ैया में सन्तोष है।"[२]

स्वगत-शैली एक प्रकार से अपने भावों के प्रकाशन का एक ढंग है। यह वर्णन-शैली का ही परिवर्तित रूप है। इसमें आकर्षक ढंग से हृद्गत भावों के प्रकाशन की सुविधा रहती है।

संवाद-शैली—संवाद-शैली में संवाद द्वारा किसी जीवन-व्यापी सत्य की व्यंजना की जाती है। इस शैली में प्रश्नोत्तर-प्रणाली अपनाई जाती है और इसके पात्र या तो दोनों सचेतन होते हैं या दोनों अचेतन या दोनों में से एक सचेतन और दूसरा अचेतन। इस शैली में प्रिया और प्रियतम अथवा माता और पुत्र की बातचीत द्वारा श्रृंगार अथवा वात्सल्य-भाव की ही अभिव्यक्ति नहीं होती वरन् प्रकृति में प्राप्त होने वाली सजीव और निर्जीव वस्तुओं में से प्रत्येक के द्वारा किसी जीवन-व्यापी सत्य की व्यंजना की जाती है। श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह की 'मौन के स्वर' पुस्तक में जड़-जंगम के वार्तालाप द्वारा ही अनेक भावों की व्यंजना की गई है। श्री तेजनारायण काक की 'निर्झर और पाषाण' तथा श्री बैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा की 'ऊँचे नीचे' आदि पुस्तकें भी इसी परम्परा की हैं। श्री रायकृष्णदास के 'प्रवाल' में माता और पुत्र की भावनाओं का संवाद-शैली में अच्छा चित्रण है। प्रिया और प्रियतम की बातचीत तो सर्वत्र मिलती ही है, क्योंकि प्रेम की वृत्ति गद्य-काव्य का मूल आधार है। संवाद-शैली का एक उदाहरण 'मौन के स्वर' से दिया जाता है—

"कागज ने सुई से कहा—'तू मेरे अंगों को भेदकर बड़ी कठोरता से काम लेती है।'

सुई—'तभी तो तू सुन्दर पुस्तक का आकार धारण कर विद्वानों के कर-कमलों में ज़ाता है अन्यथा मूर्ख वायु तुझे सूखे पत्तों की तरह उड़ा ले जाती।' "[३]

इस शैली में कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता का उल्लेख नहीं होता जैसे कि नीचे के गद्य-गीत में—

" 'मुझे जाना ही पड़ेगा।'

'कहाँ ?'

१. 'साहित्य देवता', पृ० ३१।
२. 'अन्तर्नाद,' पृ० ९४।
३. 'मौन के स्वर', पृ० २०।

'इन रँगीली, मदमाती, उछाल-भरी विश्व की युद्ध-लहरों के उस पार।'

'क्यों?'

'जीवन के अल्हड़ खिलाड़ी की खोज करने।'

'कदाचित् वह ढूँढ़ने से न मिले तब?'

'चुपचाप बैठने से?'

'नहीं। स्वयं खो जाने से। तुम यहीं रहो वही तुम्हें खोज लेगा।' "[१]

सूक्ति-शैली—इसमें कला, साहित्य, प्रेम, जीवन, मृत्यु आदि विषयों के विषय में नई-नई उद्भावनाएँ की जाती हैं। इस शैली के सम्राट् श्री माखनलाल चतुर्वेदी हैं। उनका 'साहित्य देवता' सूक्तियों से भरा पड़ा है—

"यदि इरादों पर पहुँचने में रेल के टिकट काम आ जाया करते तो कला के स्वर्ग को हम पत्थरों और कागजों से छू सकते थे।"[२]

"कलाकार का जीवन द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत की अनुभूति होता है।[3]

"कलाकार क्या है? वह अपने युग की, स्फूर्ति के प्रकाश के रंग में डूबी भगवान् की प्राणवान, प्रेरक और कल्पक कूँची है।"[४]

"तरुणाई और कविता ये दो वस्तुएँ नहीं, किन्तु एक ही वस्तु के दो नाम हैं।"[५]

" 'अ' को अक्षरब्रह्म कहा है और काल तथा कला में केवल 'अ' कार-मात्र अपना स्थान बदल लेता है। कला तो समझ के काल का माप है।"[६]

"जो धारणाओं के गुलाम बने, उन्होंने मज़हब बनाया। जो धारणाओं के शीश पर चढ़, शोध में आगे बढ़े, उन्होंने कला का निर्माण किया। धर्म बोला, मैं चिन्तन हूँ, कला बोली, मैं कल्पना हूँ।"[७]

"जिसका पिता शैव हो, जिसकी माता उद्दण्डता हो, जिसकी बहन अविचारपूर्ण श्रद्धा हो, जिसका भाई परिणाम की गम्भीरता का अज्ञान हो, वह और चाहे जो कुछ हो, साहित्य तो नहीं हो सकता।"[८]

"यात्रा तुम्हें पूरी करनी है और बोझ मुझे ढोने हैं। मैं तो राहुल सांकृत्यायन की तिब्बत यात्रा में मिलने वाला कुली हूँ, जो सारा बोझ उठाकर मृत्यु के 'ल्हासा' तक पहुँचा देता है।"[९]

चतुर्वेदीजी के लम्बे-लम्बे गद्य-काव्यों में थोड़ी-थोड़ी दूर पर ये सूक्तियाँ मोती-सी जड़ी रहती हैं। उनके अतिरिक्त श्री वियोगी हरि के 'ठण्डे छींटे' और श्री हरिभाऊ

---

१. 'उन्मन', पृ० ८५।
२. 'साहित्य देवता,' पृ० २२।
३ वही, पृ० २५।
४. वही, पृ० २६।
५. वही, पृ० ७१।
६. वही, पृ० ७५।
७. वही, पृ० ८५।
८. वही, पृ० १०१।
९. वही, पृ० १४३।

उपाध्याय के 'मनन' में तो ऐसी ही सूक्तियों के संग्रह हैं, जो लेखक की सूझ पर सोचने को वाध्य करती हैं।

"स्त्री एक मर्यादा में माँ, दूसरी में बहन, तीसरी में पत्नी है। फल या अन्न एक मर्यादा में भोजन, दूसरी में औषध, तीसरी में विष है।"[१]

"किसी गरीब असहाय को हम चाँदी के चन्द गोल-गोल टुकड़े क्या देते हैं, बदले में उसका तन, उसका मन और उसकी आत्मा तक खरीद लेना चाहते हैं। क्या ही सस्ता सौदा है?"[२]

श्रीमती दिनेशनन्दिनी, श्री रामकुमार वर्मा, श्रीमती विद्या भार्गव, श्री शान्ति-प्रसाद वर्मा तथा अन्य लेखकों ने दो-तीन पंक्तियों के गद्य-काव्यों में जो नई सूझें सजाई हैं वे भी इसी के अन्तर्गत आती हैं—

"तुम कुरूप और काले हो तो खैर, वरना आरसी को हाथ से न गिरने दो—रूह आईना है और यह तन केवल उस पर आई हुई रजा।"[३]

"जगत् का राज़ खुलने पर वह रंगहीन इन्द्र-धनुष की तरह आश्चर्य-विहीन जड़ वस्तु-सा ज्ञात होगा।"[४]

"प्रेम और आकांक्षा हृदय की दो अनुभूति हैं—एक लक्ष्य की ओर संकेत करती है, दूसरी चाहना के मृदुल आनन्द में आत्म-विभोर हो जाती है।"[५]

"मिट्टी और ईंटों को एकत्र करने पर बड़े-बड़े महल बने और तुम्हें निराकार मानते-मानते ही आज आँखों में साकार रूप का प्रतिबिम्ब छिटक पड़ा।"[६]

"सूर्यास्त के सौन्दर्य की ओर से दृष्टि हटाकर ज़रा इस छाया की ओर तो देखो—विस्तार के लोभ में पड़कर यह अपने अस्तित्व को भी खो बैठी है।"[७]

"अनेक प्रकार के वृक्ष एक ही आकाश में जा रहे हैं जिस प्रकार एक ईश्वर मानने के लिए अनेक धर्मों के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।"[८]

इन शैलियों के अतिरिक्त और भी कई शैलियाँ हैं। जैसे दैनन्दिनी शैली, संस्मरण-शैली, सम्भावना-शैली आदि। श्री रावी की 'पूजा' और बालकृष्ण बल्दुवा की 'मन के गीत' की रचनाएँ दैनन्दिनी शैली में आती हैं। इस शैली में दैनन्दिनी की भाँति अनुभव हैं। जैसे—"अपने गत जीवन की अशान्ति को, अपनी ज्वाला कसक आह आँसूमय उन्मत्त घड़ियों को पर्वतीय नद में डुबोकर, उन्हें अतल में सदैव के लिए जल-समाधि देकर मैं जीवन का मधुर स्पन्दन लिये लौटा हूँ। प्रकृति की हरित सुषमा ने मुझे शान्ति का सन्देश दिया है। अनन्त सौन्दर्य की स्निग्धता ने मेरे हृदय की रूक्षता हटा दी है। मैं नव-

---

१. 'मनन', पृ० ६०।
२. 'दुपहरिया के फूल', पृ० १५।
३. 'उन्मन', पृष्ठ १७।
४. 'श्रद्धांजलि'।
५. वही, पृ० २६।
६. 'चित्रपट', पृष्ठ ३७।
७. 'हिम हास', पृष्ठ ६४।
८. 'ठण्डे छींटे', पृष्ठ ३०।

शक्ति के साथ जीवन में फिर प्रवेश कर रहा हूँ।"[१]

संस्मरण-शैली में अतीत की घटनाओं का अथवा स्वर्गीय महापुरुषों के जीवन का सिंहावलोकन किया जाता है। श्री चतुरसेन शास्त्री की 'तरलाग्नि' और श्री वियोगी हरि की 'श्रद्धा-कण' पुस्तकें इसी शैली की हैं। प्रथम में अंग्रेजों की दासता से लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक के भारतीय राजनीतिक आन्दोलन का चित्र है और द्वितीय में पूज्य वापू के जीवन और सिद्धान्तों का मूल्यांकन। 'श्रद्धा-कण' का एक गीत यह है—"उसने तो सदा यही कहा—'मैं तो एक सामान्य मानव हूँ।' इसीलिए तो वह पूर्णत्व प्राप्त कर सका। किन्तु भक्तों ने उसे मानव से परे अथवा भिन्न जाति का जीव मान लिया। राम, कृष्ण और बुद्ध को भी उन्होंने इस धरा-धाम पर मानव नहीं रहने दिया था। यह कैसी वया बन गई प्रकृति कि देव-लोक में ही भक्तों की भावना विकसित होती है। जबकि उस महात्मा ने बार-बार कहा था—'तुम तो श्रद्धा के सहारे इस लोक के मानव में ही सत्य को खोज लो और उसे आत्मसात् कर लो'।"[२]

सम्भावना शैली में लेखक कल्पना करता है कि यदि आज जो कुछ है, वह न होकर कुछ और होता तो उसकी क्या स्थिति होती। इसमें कल्पना-शक्ति का चमत्कार खूब दिखाया जाता है। अपनी भावनाओं के चित्रण की यह सर्वाधिक प्रचलित शैली है। बड़ी ही मधुर और उच्च कल्पनाएँ इस शैली में हुई हैं। सर्वश्री भँवरमल सिंघी और दिनेशनन्दिनी ने इस शैली में बहुत-कुछ लिखा है। जैसे—"यदि मैं देवता होता तो अपनी देवपुरी में मानव को निर्बन्ध आने देता। यदि मैं कुबेर होता तो अतुल धन-राशि को जन्म-भूमि की क्षुधा के चरणों में बिखेर देता। यदि मैं इन्द्र होता तो पपीहे को तरसने न देता। यदि मैं विहंग होता, तो उसी टहनी पर बैठा करता जहाँ उसके प्रणय की कीमत निकलती। यदि मैं स्वर्ग होता, तो नरक को अपने में समा लेता। मैं हूँ—पर यदि होता…?[३] स्वयं को छोड़कर प्रिय के कुछ होने पर प्रेमी की क्या…"

इस प्रकार गद्य-काव्यों में शैली के रूप-विधान की विविधता मिलती है। उसे देखकर इस साहित्यिक धारा की सम्पन्नता और विशालता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। साथ ही इस धारा में समयानुकूल शैली के नये-नये रूपों का भी ग्रहण होता आया है, जो उसकी विकासशील परम्परा का द्योतक है।

---

१. 'मन के गीत', पृष्ठ ४२।
२. 'श्रद्धा-कण', पृष्ठ २६।
३. 'वेदना', पृष्ठ ५४।

पंचम अध्याय

गद्य-काव्य और मनोविज्ञान

हिन्दी-गद्य-काव्यों का मनोवैज्ञानिक आधार बतलाने से पहले संक्षेप में मनोविज्ञान की उन प्रमुख विचार-धाराओं की जानकारी आवश्यक है, जो मानव-जीवन के क्रिया-कलापों और फलतः साहित्य-सृजन की प्रेरक शक्तियों तथा आधारभूत तत्त्वों के रूप में स्वीकृत हो चुकी हैं। उन विचार-धाराओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है फ्रायड की काम-प्रवृत्ति-सम्बन्धी मान्यता। फ्रायड ने काम-प्रवृत्ति को जीवन की सर्वाधिक व्यापक शक्ति माना है। उसकी दृष्टि में शैशव से लेकर वृद्धावस्था तक जीवन में जो भी कार्य होते हैं, उनमें यह काम-प्रवृत्ति ही भिन्न-भिन्न रूप लेकर प्रकट होती है। इस प्रवृत्ति से उत्पन्न इच्छाएँ जब सामाजिक मर्यादा के कारण तुष्टि का अवसर नहीं पातीं तो वे दमित होकर मन के अचेतन भाग में चली जाती हैं। अचेतन मन, जिसमें ये दमित इच्छाएँ रहती हैं, 'इड' कहलाता है। उसके साथ ही चेतन मन होता है, जिसे 'ईगो' अर्थात् 'अहं भाव' कहते हैं। ईगो इड और बाह्य-जगत् के बीच मध्यस्थता का कार्य करता है। यही 'इड' की आज्ञा का पालन करता है और समाज के विरुद्ध इच्छाओं को दमित करके 'इड' में एकत्रित करता रहता है। ये दमित इच्छाएँ 'इड' में जाकर नष्ट नहीं हो जातीं, वरन् अपनी तुष्टि का मार्ग खोजती रहती हैं और स्वप्नों, लिखने तथा बोलने की भूलों अथवा सांकेतिक चेष्टाओं, हँसी-मज़ाक और साहित्यिक रचनाओं के रूप में प्रभाव व्यक्त करती रहती हैं। फ्रायड के अनुसार साहित्य इन्हीं दमित इच्छाओं का परिणाम होता है।

फ्रायड ने 'लिबिडो' अर्थात् काम-प्रवृत्ति और 'ईगो' अर्थात् अहं भाव की प्रवृत्ति की कल्पना करके पहली को जाति-रक्षा तथा दूसरी को आत्म-रक्षा-सम्बन्धी प्रवृत्ति का मूल माना है। 'लिबिडो' में माता-पिता, भाई-बहन, मित्र-परिचित के प्रति प्रेम से लेकर संसार की किसी भी वस्तु के प्रति प्रेम का समावेश हो जाता है। यह लिबिडो इडिपस या इलैक्ट्रा कम्प्लेक्स कामजनित आत्मपीड़ा (मैसोकिज्म) और कामजनित परपीड़ा (सेडिज्म) नामक तीन भागों में विभाजित है। जब लड़का माता के प्रति अपने प्रेम में पिता को बाधक समझता है तब पिता से द्वेष करता है और यह प्रवृत्ति 'इडियस-कम्प्लेक्स' को जन्म देती है। जब लड़की पिता के प्रति अपने प्रेम में माता को बाधक

समझती है तब माता से द्वेष करती है और 'प्रवृत्ति' 'इलैक्ट्रा कम्प्लेक्स' को जन्म देती है। मैसोकिज्म में व्यक्ति प्रेमवश अपने को ही दुःख देता है। सेडिज्म में इसके विपरीत प्रेमी ही को कष्ट दिया जाता है। आगे चलकर फ्रायड ने जीवन की मूल प्रवृत्ति (ईरोस) तथा मृत्यु की मूल प्रवृत्ति (डेथ इन्स्टिंक्ट) की भी कल्पना की। जीवन की मूल प्रवृत्ति द्वारा मनुष्य आत्म-रक्षा की ओर मुड़ता है और मृत्यु की मूल प्रवृत्ति द्वारा दूसरों के नाश की बात सोचता है।

काम-प्रवृत्ति फ्रायड की विचारधारा का मूल है, यह कहा जा चुका है। एडलर और युंग नामक दो अन्य मनोविज्ञानवेत्ताओं ने फ्रायड की इस काम-प्रवृत्ति की महत्ता को अस्वीकार-सा करते हुए अपने-अपने सिद्धान्त दिये। एडलर ने अपने वैयक्तिक मनोविज्ञान द्वारा हीन-भाव या क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया; उसकी दृष्टि में मनुष्य की सबसे प्रबल प्रवृत्ति आत्म-प्रकाशन (सेल्फ एसर्शन) की है। इस प्रवृत्ति की सन्तुष्टि बड़ी कठिनाई से होती है, और जब यह तुष्ट नहीं हो पाती तब दमित होकर यह हीनता-भाव की ग्रन्थि को उत्पन्न कर देती है। यह हीनता-भाव की ग्रन्थि एक ओर मनुष्य को उसकी असमर्थता का अनुभव कराती हुई उसे भय और दुश्चिन्ताओं से जकड़ लेती है और दूसरी ओर क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को सशक्त और प्रतिभाशाली बनाने में सहायक होती है। युंग ने जीवनेच्छा या स्वत्व-रक्षा को जीवन की मूल प्रवृत्ति माना। उसने व्यक्तित्व की भिन्नता के आधार पर व्यक्ति के अन्तर्मुखी (इण्ट्रोवर्ट) और बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) दो भेद भी माने हैं। अन्तर्मुख व्यक्ति अपने आन्तरिक विचारों और अनुभूतियों में लीन रहता है। उसकी रुचि बाहर के कार्यों में भाग लेने की नहीं होती। उसके विपरीत बहिर्मुखी व्यक्ति अधिक क्रियाशील होता है। वह सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल कार्य करता है। उसकी रुचि आत्म-विश्लेषण और आत्मालोचन में उतनी नहीं रहती जितनी अन्तर्मुख व्यक्ति की रहती है। श्रेष्ठ कवि या लेखकों का व्यक्तित्व बहुधा प्रथम प्रकार का होता है और सामाजिक या राजनीतिक कार्यकर्ताओं का दूसरे प्रकार का। एडलर और युंग के इन सिद्धान्तों से फ्रायड के सिद्धान्त का कुछ खण्डन अवश्य हुआ है, परन्तु उनसे जीवन में काम-प्रवृत्ति की प्रबलता के अस्तित्व का सर्वथा खण्डन होता नहीं दिखाई पड़ता।

फ्रायड, एडलर और युंग की विचार-धारा के साथ भावना-ग्रंथियों पर भी विचार कर लेना चाहिए; क्योंकि वे मनुष्य के जीवन में बड़े महत्त्व का कार्य करती हैं। इन भावना-ग्रन्थियों का निर्माण मनुष्य की उन अवदमित इच्छाओं के परिणामस्वरूप होता है जो चोर की भाँति अज्ञात-चेतना में घुस जाती हैं। फ्रायड के अनुसार मस्तिष्क का प्रधान भाग अज्ञात-चेतना में रहता है। ज्ञात चेतना समुद्र की सतह की भाँति होती है। जैसे समुद्र की सतह के नीचे छिपे जीव-जन्तुओं और मोतियों का हमें पता नहीं रहता, वैसे ही अज्ञात-चेतना में छिपी अतृप्त वासनाओं का हमें पता नहीं रहता। ये अतृप्त वासनाएँ ही मिलकर भावना-ग्रन्थियों का निर्माण करती हैं। मनोविश्लेषण-शास्त्रियों के अनुसार ये भावना-ग्रन्थियाँ प्रधानतः काम-प्रवृत्ति-सम्बन्धी प्रतिरुद्ध इच्छाओं के फलस्वरूप बनती हैं। श्री ज० ए० हेडफील्ड ने लिखा है—"कायरतापूर्ण कार्य, बलात्कार,

आहत अभिमान आदि अनुभवों से सम्बद्ध संवेग विभिन्न भावना-ग्रन्थियों के कारण हो जाते हैं। किसी अत्यधिक साज-सज्जापूर्ण व्यक्ति के लिए युद्ध का विचार एक भाव का आधार हो सकता है, पर वही कायरता के लिए दण्डित व्यक्ति के लिए भावना-ग्रन्थि का कारण बन सकता है। एक समय का मातृ-स्थायी भाव कभी आगे चलकर मातृ-भावना ग्रन्थि बन सकती है। भावना-ग्रन्थि का नाम उसमें निहित प्रमुख संवेग के आधार पर रखा जाता है, जैसे भय की भावना-ग्रन्थि, काम-वासना की भावना-ग्रन्थि, हीनता की भावना-ग्रन्थि आदि। कभी-कभी उस केन्द्रीय भावना के आधार पर भी भावना-ग्रन्थि का नामकरण होता है, जिसके चारों ओर संवेग आवेष्टित रहता है; जैसे मातृ-भावना ग्रन्थि, युद्ध-भावना-ग्रन्थि या धर्म-भावना-ग्रन्थि।[१]

इन भावना-ग्रन्थियों का अत्यधिक वेग अन्तर्द्वन्द्व को जन्म देता है और इनके प्रभाव में मनुष्य का व्यवहार नीति-विरुद्ध हो जाता है। इस विषय में भी हेडफील्ड का कहना है—"काम-प्रवृत्ति-सम्बन्धी पुस्तकें लिखने वाले लोग प्रायः वे होते हैं, जिनका काम-जीवन किसी-न-किसी प्रकार असाधारण होता है। जिनकी आत्मा के भीतरी द्वन्द्व के कारण उनकी आत्मिक शान्ति और सन्तुलन पूर्ण रूप से नष्ट हो चुके होते हैं। शान्ति की अज्ञात लालसा बाह्य विश्व की ओर उन्मुख होती है। अज्ञात लालसा का परोपकार-निरतता की ओर उन्मुख होना बड़े महत्त्व का है। हो सकता है कि दूसरों के प्रति हमारी सहानुभूति हमारी अपने ही प्रति साधारण सहानुभूति का विकसित रूप हो। हो सकता है कि वह दमित आत्मकृपा (सेल्फपिटी) की भावना हो। यह दो भिन्न प्रकार के ऐसे सामाजिक कार्यकर्ताओं को जन्म देती है, जिनके कार्य एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत होते हैं—एक स्वस्थ चित्त सुधारक, जो दलित वर्ग के प्रति विशेष रूप से प्रेम प्रदर्शन करता है और दूसरा क्रांतिकारी, जो पीड़क के प्रति व्यक्तिगत असन्तोष व्यक्त करता है।"[२] ये भावना-ग्रन्थियाँ मुख्यतः चार प्रकार की होती हैं—(१) आत्म-प्रकाशन या आत्म-गौरव की भावना-ग्रन्थि (सेल्फ एसर्शन कम्प्लेक्स), (२) हीनता की भावना-ग्रन्थि (इन्फीरियारिटी कम्प्लेक्स), (३) काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि (सेक्स कम्प्लेक्स) और (४) प्रभुत्व की भावना-ग्रन्थि (अथॉरिटी कम्प्लेक्स)।

आत्म-गौरव की भावना-ग्रन्थि में मनुष्य अपने को सबसे बड़ा समझता है और दूसरों को महत्त्व देना उचित नहीं समझता। उसमें दिखावे की प्रवृत्ति विशेष होती है। वस्तुतः यह हीनता की भावना-ग्रन्थि का ही एक रूप है, जिसमें अपनी कमियों को छिपाने के लिए प्रदर्शन का सहारा लिया जाता है। इसके विपरीत हीनता की भावना-ग्रन्थि में अपने को अपदार्थ समझा जाता है और दैन्य का आश्रय लिया जाता है। काम-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि को इन सबमें विशेष महत्त्व दिया जाता है। यह काम-प्रवृत्ति के दमन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है और व्यक्ति के भीतर अन्तर्द्वन्द्वों की सृष्टि करती है। इस भावना-ग्रन्थि के फलस्वरूप व्यक्ति समाज के प्रति विद्रोही हो जाते हैं और स्वच्छन्दता

---

१. 'सायकोलोजी एण्ड मोरल्स', दसवाँ संस्करण, पृ० २४, मैथ्यून एण्ड कम्पनी लि०, लन्दन, १९३४।

२. 'सायकोलोजी एण्ड मोरल्स', दसवाँ संस्करण, पृ० ३९।

उनका स्वभाव बन जाती है। वे क्रोधी स्वभाव के हो जाते हैं और भावावेश में उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रखते। काम-सम्बन्धी भावना-ग्रंथि का सम्बन्ध कोमल वृत्तियों से होने से साहित्य, कला और संगीत की सृष्टि प्रायः इस ग्रन्थि से पीड़ित व्यक्ति करते देखे जाते हैं। प्रभुत्व की भावना-ग्रन्थि के कारण व्यक्ति धार्मिक, सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक नियमों के प्रतिकूल चलने लगता है। संसार के प्रसिद्ध डाकू, चोर, उपद्रवी, अत्याचारी और व्यभिचारी इसी भावना-ग्रन्थि से पीड़ित होते हैं।

इन मनोविज्ञानवेत्ताओं के अतिरिक्त साधारण मनोविज्ञान की दृष्टि से मैकडूगल की विचार-धारा भी महत्त्व की है। उसने चेतन प्राणियों की गतिशीलता के लिए १४ मूल प्रवृत्तियों को महत्त्व दिया है। इन चौदह मूल प्रवृत्तियों में समस्त मानव-जीवन के भी क्रिया-कलाप के कारण समावेश होता दिखलाई पड़ता है। उन प्रवृत्तियों से सम्बन्धित एक-एक संवेग भी उसने माना है। उसके द्वारा निर्धारित मूल प्रवृत्तियों और संवेगों की तालिका इस प्रकार है—

मूल प्रवृत्ति	सम्बद्ध संवेग
१. युयुत्सा (कम्बेट आर पग्नेसिटी)	क्रोध (एंगर)
२. निवृत्ति या विकर्षण (रिपल्सन)	घृणा (डिस्गस्ट)
३. कौतूहल या जिज्ञासा (क्यूरियोसिटी)	आश्चर्य या विस्मय (वण्डर)
४. दैन्य (सब्मिशन)	आत्महीनता (नैगेटिव सैल्फ फ़ीलिंग)
५. भोजनान्वेषण (फूड सीकिंग)	भूख, क्षुधा (ऐपीटाइट)
६. काम-प्रवृत्ति (सैक्स)	कामुकता (लस्ट)
७. शिशु-रक्षण या पुत्र-कामना (पेरेण्टल)	वात्सल्य, स्नेह (टैण्डर इमोशन)
८. संघ-प्रवृत्ति या दूसरों की चाह (ग्रेगेरियसनैस)	एकाकीपन (लोनलीनैस)
९. पलायन (एस्केप)	भय (फ़ीयर)
१०. शरणागत (अपील)	करुणा या दुःख (डिस्ट्रैस)
११. आत्म-गौरव या आत्म-प्रकाशन (सैल्फ़ असर्शन और सैल्फ़ डिसप्ले)	आत्माभिमान (पॉज़ीटिव सैल्फ़ फ़ीलिंग)
१२. विधायकता या रचना (कन्स्ट्रक्टिवनैस)	रचनात्मक आनन्द (फ़ीलिंग ऑफ़ क्रियेटिवनैस)
१३. संग्रह (एक्विज़िटिवनैस)	प्रभुता या अधिकार-भावना (फ़ीलिंग ऑफ़ ओनरशिप)
१४. हास (लाफ्टर)	आमोद या प्रसन्नता (एम्यूज़मेंट)

मैकडूगल की मूल प्रवृत्तियों के आधार पर मानव-जीवन के क्रिया-कलाप का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि केवल काम-प्रवृत्ति ही जीवन के समस्त कार्यों की मूल नहीं मानी जा सकती। मानव के हृदय की भी वृत्तियाँ होती हैं।

अपने जीवन-काल के अन्तिम दिनों में मैकडूगल यह भी कह गया है कि व्यक्ति सदा मूल प्रवृत्तियों का ही जीव नहीं होता। उसके कुछ कार्य मूल प्रवृत्तियों के आधार पर विकसित स्थायीभावों (सेण्टीमेंट्स) द्वारा भी नियन्त्रित होते हैं। स्थायी भाव स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार की वस्तुओं के प्रति हो सकते हैं। बालक का जैसे खिलौने के प्रति स्थायी भाव होता है वैसे ही बड़ों का भी किसी लेखनी, पुस्तक या स्थान के प्रति स्थायी भाव हो सकता है। ये स्थूल वस्तुओं के प्रति स्थायी भाव हैं। सूक्ष्म वस्तुओं के प्रति स्थायी भावों में सदाचार का स्थायी भाव, देश-भक्ति का स्थायी भाव और आत्म-गौरव का स्थायी भाव प्रमुख हैं। आत्म-गौरव का स्थायी भाव बड़ा व्यापक है। इसके द्वारा जीवन के आदर्शों का निर्माण होता है। इन आदर्शों का निर्माण व्यक्ति अपने मानसिक विकास के विवेकात्मक स्तर पर कर पाता है और उनमें अपने आत्मा की अनुकूलता या प्रतिकूलता की संगति बिठाता है। जीवन के सभी कार्य अधिकांशतः इसीके अनुसार निर्मित सामान्य आदर्शों से होते हैं। इसीलिए मैकडूगल इसे सभी स्थायी भावों का स्वामी (मास्टर सेण्टीमेण्ट) मानता है।

स्थायी भावों की चर्चा चली है तो भारतीय रस-शास्त्र में स्वीकृत स्थायी भावों की संगति इनसे मिलती है या नहीं, यह भी देखने की वस्तु है। इस विषय में अधिक कुछ न कहकर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि हमारे नौ या दस स्थायी भावों और मैकडूगल की मूल प्रवृत्तियों में पर्याप्त समानता है। इस सम्बन्ध में पौर्वात्य और पाश्चात्य विचार-धाराओं का समन्वय करते हुए प्रमुख आलोचक डॉक्टर नगेन्द्र ने अपनी 'रीतिकाव्य की भूमिका' नामक पुस्तक में लिखा—"आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी यह विवेचन (स्थायी और संचारी भाव का विवेचन) अमनोवैज्ञानिक और अनर्गल नहीं है। पौरस्त्य और पाश्चात्य मनःशास्त्रों की कसौटी पर वह बहुत अंशों में खरा उतरता है। संचारी तो मनोविकारों का पर्याय ही है। स्थायी भावों की स्थिति मौलिक मनोवेगों की है, जो अपनी शक्ति, स्थायित्व और प्रभाव के कारण मानव-जीवन की संचालक एवं प्रेरक वृत्तियाँ हैं।"[१]

कुछ अमरीकन मनोवैज्ञानिक मूल प्रवृत्तियों के स्थान पर प्रेरणाओं को जीवन के क्रिया-कलाप की प्रेरक शक्ति मानते हैं। उनका कहना है कि मैकडूगल का वर्गीकरण तभी सर्वमान्य हो सकता है जबकि सबका विकास एक ही प्रकार की शिक्षा और एक ही प्रकार के वातावरण में हुआ हो, लेकिन ऐसा होता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा और वातावरण दूसरे से भिन्न होते हैं। इसलिए मूल प्रवृत्तियों (नेचर डिस्पोज़ीशन्स) को न मानकर स्वाभाविक मनोवृत्तियों की स्थिति स्वीकार करनी चाहिए, जिनके कारण मनुष्य कोई कार्य करता है। इन स्वाभाविक मनोवृत्तियों को अमरीकन मनोवैज्ञानिक प्रेरणाएँ (मोटिव्स) कहते हैं। वे प्रेरणाएँ क्या होती हैं, इसके स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने व्यक्ति की आवश्यकताओं का उल्लेख किया है और प्राथमिक (प्राइमरी) तथा गौण (सेकण्डरी) दो प्रकार की आवश्यकताएँ मानी हैं। प्राथमिक दो शारीरिक (फ़िज़ियोलाजिकल) तथा दैहिक (बायोलाजिकल) और गौण को मनोवैज्ञानिक (साइकालोजिकल) तथा सामाजिक

१. 'रीतिकाव्य की भूमिका', पृ० ८१।

(सोशल) भी कहा गया है। प्रथम प्रकार की आवश्यकता का सम्बन्ध उन बातों से है जिनके बिना मनुष्य जी नहीं सकता; जैसे—भूख, प्यास। दूसरे प्रकार की आवश्यकता का सम्बन्ध उन बातों से है जो मानसिक तृप्ति देती हैं; जैसे—धन एकत्रित करना। इन मनोवैज्ञानिकों ने दोनों प्रकार की आवश्यकताओं को परस्पर पूरक बताया है और यह भी कहा है कि कभी-कभी किसी व्यक्ति के लिए गौण आवश्यकता प्राथमिक और प्राथमिक आवश्यकता गौण हो सकती है। किस आवश्यकता से प्रेरित होकर प्राणी कैसा व्यवहार करेगा ये तीन बातें—आवश्यकता, शरीर की बनावट और वातावरण पर निर्भर हैं। आवश्यकता के अनुभव पर शरीर की सन्तुलन-शक्ति ढीली होने से ही प्राणी कार्य की ओर गतिशील होता है। शरीर की बनावट से उस आवश्यकता की पूर्ति के स्वरूप का पता चलता है। विभिन्न जीवों की शारीरिक बनावट इसका प्रमाण है। फिर वातावरण में यदि उस आवश्यकता की पूर्ति के साधन हैं तो प्राणी का व्यवहार और होगा और यदि वे साधन नहीं हैं तो और होगा। इसके साथ-ही-साथ उन्होंने प्राणी के क्रियाशील होने पर क्रियाशीलता के समय शक्ति देने वाले शरीर के सूक्ष्म तन्तुओं की दशा का भी निरीक्षण-परीक्षण किया है और इन सूक्ष्म तन्तुओं तथा शारीरिक क्रियाशीलता के परस्पर-सम्बन्ध के आधार पर मनोवज्ञानिकों ने ईहाओं (ड्राइव्स) की कल्पना की है। क्षुधा ईहा (हँगर ड्राइव) और काम ईहा (सैक्स ड्राइव) को इन्होंने प्रधानता दी है। अन्य कार्यों के लिए अर्जित आवश्यकताएँ (डेराव्ड नीड्स) उत्तरदायी ठहराई गई हैं। अर्जित आवश्यकताएँ वातावरण (एन्वनमेंट), प्रलोभन (इन्सेण्टिव) और सांस्कृतिक वातावरण (कल्चरल एन्वनमेंट) पर निर्भर रहती हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि क्षुधा-निवृत्ति तथा काम-प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्य कार्य हमारे सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण के कारण होते हैं और उनके स्वरूप का निर्धारण वातावरण की आवश्यकता के अनुसार होता है। इस प्रकार उन्होंने संवेदनशीलता (सेन्सिटिविटी), कल्पना (इमेजीनेशन), विचार (थाट), हठता (परसिस्टेन्स), भग्नाशा (फ्रस्ट्रेशन) आदि सबको आवश्यकताओं पर अवलम्बित बताया है। उदाहरण के लिए, जिस व्यक्ति की आवश्यकता पूरी नहीं होती वह वास्तविकता को छोड़कर कल्पनाप्रिय हो जाता है। ऐसा व्यक्ति कल्पना-लोक में बहुत देर तक रहने से भावुक बन सकता है। या जिसकी आवश्यकता की पूर्ति में बाधा पड़ती है वह दृढ़ता को अपनाता है या जिन आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यक्ति को कठिनाई या प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है उनके साथ उसकी आत्म-सम्बन्ध की भावना निहित हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक भावना-सम्बन्धी एक-एक आवश्यकता को उसका आधार बनाया गया है।

मनोविज्ञान की प्रमुख विचारधाराओं के इस संक्षिप्त परिचय के प्रकाश में हम यह कह सकते हैं कि फ्रायड और मैकडूगल के सिद्धान्त अधिक सशक्त हैं। काम-प्रवृत्ति के अतिरिक्त जितनी बातें हैं उन्हें मैकडूगल अपने में समा लेता है। एडलर और युंग के सिद्धान्त भी उसकी इन्हीं प्रवृत्तियों में समाविष्ट हो जाते हैं। अमरीकन मनोविज्ञानवेत्ताओं की मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आवश्यकताएँ, जो कला, साहित्य, धर्म आदि की आधार-शिला हैं, मैकडूगल के स्थायी भावों की मान्यता में आ जाती हैं। भारतीय

रसशाला का भी मेल मैकडूगल से हो जाता है। यों मैकडूगल की विचारधारा वड़ी व्यापक है। फ्रायड की काम-प्रवृत्ति और मैकडूगल के मूल वृत्यात्मक आधार पर जीवन और साहित्य के अधिकांश प्रश्नों का हल खोजा जा सकता है। अतएव हम यहाँ विशेष रूप से इन दोनों के आधार पर ही गद्य-काव्यों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करेंगे।

रुद्धकाय प्रवृत्ति के सिद्धान्त पर लिखे गए हिन्दी-गद्य-काव्यों का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—

१. रूप-दर्शन की प्यास।
२. प्रतीक्षा और स्वागत का साज सजाना।
३. स्वप्न में मिलन।
४. प्रत्यक्ष रति का वर्णन।
५. प्रथम मिलन की स्मृति।
६. जड़-चेतन जीवों की प्रेम-लीला।
७. राधाकृष्ण की प्रेम-लीला।
८. कामजनित आत्म-पीड़ा और कामजनित पर-पीड़ा।

रूप-दर्शन की प्यास—प्रेमिका के रूप-दर्शन की प्यास का चित्रण करना उसके प्रति अपने आकर्षण का व्यक्तीकरण है। उसमें प्रेमिका के शरीर पर अधिकार करने की भावना निहित रहती है। जैसे—

१. "तुम कुसुम-सी सुन्दर हो, हीरक-सी कठोर हो, ज्योत्स्ना-सी शीतल हो, विद्युत्-सी चंचल हो, नीहारिका-सी दूर हो; किन्तु तुम्हारे यौवन की चमक अणु-अणु में व्याप्त है।

सुन्दरि! मैं तुम्हारा नग्न सौन्दर्य देखना चाहता हूँ। झीने आँचल से कलियों-सी मुस्कराओ मत, फूलों-सी हँसो मत, मेरे और अपने बीच का अवगुण्ठन उतार फेंको, केवल मेरी इतनी-सी चाह है।"[1]

२. "तुम्हारी सुकोमल और सुन्दर शरीर की फुलवाड़ी में जव उद्दाम यौवन का मादक वसन्त आकर खिलखिला रहा है, तब उसकी रस-रिमझिम सरसता को सँजोने के लिए तुम्हें एक चतुर माली की उत्कट उत्कण्ठा होगी।

सुभगे! अपने इस अनुपम कुसुमोद्यान का संरक्षण करने के लिए क्या मेरी नम्र सेवा स्वीकृत न होगी? मैं सौन्दर्य में शील-संचय का तीर्थ हूँ, सेवा में आज्ञाकारिता का आचार्य हूँ और यौवन धर्मपालन में संयम का शास्त्री हूँ। मेरी इतनी योग्यता तुम्हें परिपूर्ण नहीं लगती क्या? मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हारे उद्यान के भाव-भरे सौंदर्य और उसकी सरसता का सम्पूर्ण रीति से संरक्षण करूँगा, मुझे नौकरी दो। मैं तुम्हारा माली होकर रहना चाहता हूँ।"[2]

प्रथम उदाहरण में लेखक के प्रेमिका के रूप-सौन्दर्य के प्रभाव से पराजित होने की सूचना है। वह उसे नग्न देखने की जो इच्छा प्रकट करता है, यह उसके शरीर पर

---

१. 'प्रणय गीत', पृ० १७।
२. 'यौवन तरंग', पृ० १५।

अधिकार करने की ही भावना है और कुछ नहीं। यह अतृप्तिजन्य भावना है, जो विशेष रूप से किशोरावस्था में मिलती है। साथ ही इसमें प्रभुत्व कामना का योग है। दूसरे उदाहरण में लेखक अपनी अतृप्त काम-वासना की तृप्ति के लिए व्याकुल दिखाई देता है, परन्तु अपनी तृप्ति में उसे कुछ अड़चनें दिखलाई पड़ती हैं, इसलिए सेवा-भाव की सहायता से वह किसी प्रकार अपने को सन्तोष देना चाहता है। जान पड़ता है कि यहाँ काम-प्रवृत्ति की धारा सेवा-भाव में परिणत होकर अपनी तृप्ति करना चाहती है। और वह आत्म-समर्पण करके अपनी प्रेमिका पर अधिकार चाहता है; इसमें रविबाबू के 'माली' (गार्डनर) की छाया है।

प्रतीक्षा और स्वागत का साज सजाना—वासना-तुष्टि का एक मनोकल्पित साधन प्रेमी की प्रतीक्षा और स्वागत का साज सजाना भी है। दिन-भर प्रेमी के गले में डालने के लिए माला गूँथी जाती है। सायंकाल आरती का दीपक सँजोया जाता है। लेकिन प्रेमी नहीं आता। इसके प्रतिकूल वातावरण क्षुब्ध हो उठता है। आंधी और तूफान के कारण दीपक के बुझने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और प्रेमी निराश हो जाता है—

१. "दिन-भर अपनी ज्वाला से तपाकर सूर्यदेव चले गए। पक्षी भी अपने-अपने घोंसलों में जाकर विश्राम करने लगे। आकाश में घनघोर घटा छा रही है। चारों ओर अन्धकार बढ़ता जाता है। पर तुम क्यों नहीं आते? बाहर वायु सघन वन में अपना विषादमय राग गा रही है। कुटिया के भीतर बैठी हुई मैं प्रतीक्षा कर रही हूँ। आरती का दीपक बुझा जा रहा है। मालती-माला के पुष्प कुम्हला रहे हैं, पर तुम क्यों नहीं आते?"[1]

२. "सजनी, अरे रे! कल भी हृदय-हार न आए। देख तो यह मोगरे का हार यों ही सूखा जा रहा है, गुलाब का इत्र और मृग-मद-मिश्रित चन्दन मेरे सूने शयन-कक्ष में व्यर्थ ही अपनी सुरभि फैला रहे हैं। क्या आज भी मेरा चितचोर न आएगा? मेरा जी अनमना हो रहा है। मेरे अंग-प्रत्यंग फड़क रहे हैं और मैं छत पर बैठे काग के उड़ने का आसरा देख रही हूँ।"[2]

यहाँ प्रथम उदाहरण में वर्षा के जिस तूफानी वातावरण का चित्र है वह कदाचित् वासना के तीव्र वेग की व्यंजना करता है और दीपक का बुझना घोर निराशा अथवा बेचैनी का द्योतक है। दूसरे उदाहरण में शृंगार और साज-सज्जा के व्यर्थ जाने पर शोक व्यंजित है। 'काग के उड़ाने' और 'अंग-प्रत्यंग फड़कने' में अतृप्ति-जनित निराशा से बचने का प्रयत्न है। मनोविज्ञान हमें बतलाता है कि ऐसी स्थिति के आने पर व्यक्ति भग्नाशा से पीड़ित होकर विक्षिप्त हो सकता है। यदि वह किसी मानसिक रोग से पीड़ित हो जाए तो भी आश्चर्य नहीं।

स्वप्न में मिलन—इस अध्याय के प्रारम्भ में ही हम कह चुके हैं कि अब दमित प्रवृत्त्यात्मक इच्छाएँ अचेतन मन में अपना घर कर लेती हैं। ये इच्छाएँ अचेतन मन की सहायता से अपना प्रकाशन करके विभिन्न रूप ले सकती हैं। इनमें स्वप्न में मिलन भी

१. 'चित्रपट', पृ० १३।
२. 'मौक्तिक माल', पृ० ८६।

एक है। सामाजिक मर्यादा और भय के कारण हम अपने प्रिय से प्रत्यक्ष नहीं मिल पाते इसलिए हमारा अचेतन मन स्वप्न में मिलन का आयोजन करता है। जैसे—

"कोई बता सकेगा इस स्वप्न का आशय क्या है ?

प्रभात काल है। हल्की अरुणा दिगन्त में छलक उठी है। नीचे सरिता मन्द गति से बह रही है। एक किनारे पर बालुका-राशि। बीच में चिन्तित मुद्रा में मैं बैठा हुआ हूँ। अंजलि में बालुका को भरता हूँ तो ठहर नहीं पाती, खिसक-खिसक जाती है। सोचता हूँ, जिसे हम अपनाना चाहते हैं वह हमसे दूर क्यों भागना चाहता है ? दूर क्यों हो जाता है ? उसी क्षण पवन मुझे गुदगुदाकर भाग जाता है।

दृष्टि फैलाकर देखता हूँ तो दूसरे किनारे पर तुम खड़ी हो। 'यहाँ आओ', तुम मुझे पुकारकर कहती हो। मैं उत्तर देता हूँ, 'मैं तो तैरना नहीं जानता।' 'नदी का पाट चौड़ा नहीं है; देखो तो,' तुरन्त ही तुम्हारे तट की ओर से ध्वनि सुनाई पड़ती है।

'पर नदी की गहराई का अनुमान मुझे नहीं है,' अकस्मात् मेरे मुँह से निकल जाता है।

मैं समझता हूँ तुम मुझे कायर कहने वाली हो; पर तुम केवल हँस पड़ती हो।

ठीक इसी समय गगन में अरुणाभा गहरी हो उठती है।

देखता हूँ, तुम स्वयं ही तैरकर मेरी ओर आ रही हो।

पवन लहरों से खेल रहा है। इधर तुम लहरियों को गोद में भरती बढ़ी चली आ रही हो। जल-बिन्दुओं के कारण तुम्हारा उज्ज्वल गम्भीर आनन कितना मधुर हो उठा है।

और उस पर एक श्यामल लट।

अरे तुम बिलकुल निकट आ गईं।

मैं तुम्हारे पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाता हूँ तो तुम चीखकर कहती हो, 'दूर ! छूना मत !'

ठीक इसी समय मेरी आँख खुल जाती है।

कोई बता सकेगा इस स्वप्न का आशय क्या है ?"[1]

फ्रायड द्वारा प्रतिपादित स्वप्न-विश्लेषण-सिद्धान्त के अनुसार बहुधा 'नदी में तैरने' से रति का सम्बन्ध माना जाता है। लेखक का आरम्भ में चिन्तित होना और बालू का खिसकना उसकी मानसिक कमज़ोरी और प्रेयसी के प्राप्त करने की असमर्थता-सम्बन्धी चेतना का द्योतक है। 'मैं तो तैरना नहीं जानता' शब्द कदाचित् उसकी रति-कार्य-सम्बन्धी बातों से अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। स्त्री के 'नदी का पाट चौड़ा नहीं है, देखो तो' से प्रकट होता है कि उसकी प्रेयसी उसे उत्साह देने में समर्थ है। उसके फिर यह कहने से कि 'मुझे नदी की गहराई का अनुमान नहीं है' लेखक की यह शंका प्रकट होती है कि प्रेम-मार्ग में न जाने क्या संकट आ जाए। प्रेयसी का उसकी ओर तैरकर आना यह व्यंजित करता है कि प्रेयसी ही अधिक साहसशीला है या यह भी कि लेखक चाहता है कि प्रेयसी ही प्रेम का आरम्भ करे। अन्त में 'दूर, छूना मत' कहकर जो प्रेयसी हट जाती है उसका अभिप्राय यह है कि लेखक को यह सन्देह है कि उसकी प्रेयसी कहीं उसे ठुकरा न दे। पूरे गद्य-गीत में लेखक

१. 'अभाव', पृ० १।

की भीरुता, कायरता तथा उसकी इच्छा-पूर्ति की मानसिक व्यंजना है।

प्रत्यक्ष रति-क्रीड़ा का वर्णन—फ्रायड के अनुसार काम-तृप्ति का एक उपाय यह भी है कि प्रत्यक्ष रति-क्रीड़ा का वर्णन किया जाए। हँसी-मज़ाक में जो अश्लीलता व्यक्त होती है, वह और लिखकर जो ऐसे वर्णन किए जाते हैं वे काम-तृप्ति के ही रूप हैं।

१. "मैं अपने पैरों के किंकण-नूपुर खोलकर तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ। तुम्हारे समीप आकर मैंने अपनी लौट जाने की सामर्थ्य का त्याग कर दिया है।

मैं अपनी भुजाओं से वलयादि भूषण उतारकर तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ। तुम्हारे पार्श्व में खड़ी होकर मैंने अपनी सारी क्षमताएँ तुम्हारी सेवा में समर्पित कर दी हैं।

मैं अपनी कटि-मेखला अलग करके तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ। तुम्हारे आश्रय की छाया में मैंने अपनी सब इच्छाएँ तुम्हारे विश्वास के आगे लुटा दी हैं।

मैं अपने वक्ष से यह हार निकालकर तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ। तुम्हारे तेज से अनुगत होकर मैंने अपने हृदय की घनीभूत ज्वाला तुम्हें उत्सर्ग कर दी है।

मैं अपने शीश का यह एक-मात्र कबरी-कुसुम निकालकर तुम्हारे चरणों में अर्पण करती हूँ। तुम्हारी होकर मैंने अपने अन्तिम दुर्ग का द्वार भी तुम्हारे लिए खोल दिया है—अपना अभिमान तुम्हारे पथ में बिखरा दिया है।

इस प्रकार, अपना सब वैभव दूर कर, अपने प्राणों की अत्यन्त अकिंचनता में, मैं अपने-आपको तुम्हें देती हूँ।"[1]

२. "मेरी कहानी ने तीर बनकर तुम्हारी सोई हुई वासना को बींध दिया। वासना अँगड़ाई लेकर उठ बैठी। उसने आँखें खोल दीं। और ऐसा करते ही मूक हाहाकार से मौन वातावरण विक्षुब्ध हो उठा। तुम चुप थीं, परन्तु वासना की गुप्त तरंगें तुम्हारे निःश्वास से प्रकट हो रही थीं। उन तरंगों ने श्वास के साथ भीतर जाकर मेरा संयम भुला दिया, शरीर में भूकम्प की-सी अशान्ति मच गई। मेरी बाहुओं ने तुम्हें बलपूर्वक अपनी ओर खींच लिया, जैसे पवन वृक्ष की डालियों को इधर-से-उधर करके आपस में मिला देता है। तुम्हारे अधर उस समय मेरे लिए सन्देश दे रहे थे, जिन्हें मेरे अधरों ने आगे बढ़कर ले लिया।"[2]

प्रथम उदाहरण में लेखक-प्रेमी कदाचित् यह चाहता है कि उसकी प्रेयसी रति-क्रीड़ा के लिए एक-एक करके अपने वस्त्राभूषण उतारे और तब शारीरिक संयोग हो। वस्त्राभूषण शरीर पर ही रहते तो व्यवधान बना रहता और अलग उतारकर रखती तो कुछ दुराव रहता। इसलिए वह उन्हें अपने पैरों में समर्पित करवाता है, जिससे प्रकट होता है कि वह पूर्ण समर्पण चाहता है। इससे उसकी प्रभुत्व-कामना व्यंजित होती है। लेखक का अहं भी यहाँ व्यंजित है।

दूसरे उदाहरण में रति-क्रीड़ा के समय की उत्तेजना, आलिंगन और चुम्बन क्रियाओं का वर्णन है। इसमें शक्ति का प्रदर्शन और रति-क्रीड़ा के समय की स्थिति का

१. 'चिन्ता', पृ० १२०।
२. 'आराधना', पृ० २५।

मानसिक अनुभव करने की प्रवृत्ति है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि जो व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रिय से अपनी काम-वासना की तृप्ति कुछ सामाजिक बन्धनों के कारण नहीं कर पाता वह इस प्रकार के वर्णन से अपनी वासना तृप्त करता है।

प्रथम मिलन की स्मृति—प्रथम मिलन की स्मृति के रूप में आलिंगन-चुम्बन आदि का विवरण दिया जाता है। इससे जीवन में वासनात्मक ललक का परिचय मिलता है। यह भी वासना की मानसिक तृप्ति का साधन है।

१. "जब सूर्य धीरे-धीरे जल में डूब रहा था और तारे उसके स्थान को ग्रहण कर रहे थे, तुम शुभ्र शिला-खण्ड पर पड़ी तल्लीन हो—उस अस्तंगत सूर्य को देख रही थीं। धवल अट्टालिका और आकाश का रक्त प्रतिबिम्ब जल में काँप रहा था।

मैं तुम्हारे निकट आया और तुम्हें कम्पित हाथों से उठा लिया। तुम 'नहीं' न कह सकीं, केवल सलज्ज हास्य में झुक गईं।

उस स्पर्श से ही, उसी क्षण सम्पूर्ण तारुण्य मुझमें जाग्रत हो गया और सम्पूर्ण प्रेम तुममें। उस समय, पृथ्वी-भर के पुष्पों का सौरभ लेकर वायु तुम्हारी अलकावलियों से खेल रहा था।[1]

परन्तु प्रिये, उस सन्ध्या की वह सन्धि कितनी कच्ची थी?"

२. "उस क्षण मैं अपने को भूल गई। टकटकी लगाए तुम्हारी ओर देखने लगी। हृदय उमग आया। अंग-अंग पुलकित हो गया। गला भर आया, आँखें झूमने लगीं। तुम्हारी रूप-माधुरी ने और भी प्रमत्त कर दिया। क्या उन्हें ऐसी 'पेया' फिर कभी पीने को मिलेगी?"[2]

"मेरी ओर देखकर मुस्कराते क्यों थे, ना? क्या मेरे अस्त-व्यस्त शृंगार पर दृष्टि पड़ गई थी? मैं भला शृंगार क्या जानूँ? क्या मेरी अशिष्टता पर ध्यान गया था? सो भी मैं नहीं जानती। मैं तो इतना ही जानती हूँ कि तुम आए और मैं तुम्हें देखने लगी। जब तुमने मेरे नेत्रों पर फूल-माला का स्पर्श कराया, मैं स्नेहाधीर हो उठी। ज्योंही मैंने तुम्हें अंक में भरने को काँपती हुई भुजाएँ आगे बढ़ाईं तुम अन्तर्धान हो गए।"[3]

प्रत्यक्ष रति-क्रीड़ा के वर्णनों और प्रथम-मिलन की स्मृति के वर्णनों में कोई विशेष भेद नहीं है। वासना-तृप्ति ही दोनों का लक्ष्य है। मनोविश्लेषकों के अनुसार वासना-तृप्ति के प्रत्यक्ष अभाव में हम पूर्वानुभूत सुखों की मानसिक पुनरावृत्ति करके अति सन्तोष प्राप्त करते हैं। प्रथम मिलन की स्मृति में लिखे गद्य-काव्यों में भूत की कल्पना वर्तमान के अभाव की पूर्ति कर देती है।

जड़-चेतन जीवों की प्रेम-लीला—चराचर सृष्टि के भीतर के प्रेम का चित्रण करना भी वासना-तृप्ति का एक साधन है, जिसे हिन्दी-गद्य-काव्यों में अपनाया गया है—

१. "सन्ध्या होते ही मैं सरोवर पर जा बैठी, बिना सावन के ही बदरिया झुक आई और वर्षा प्रारम्भ हुई। बड़ी-बड़ी बूँदें आकाश से मोतियों की तरह उछलतीं, नृत्य

---

१. 'अन्तस्तल', पृ० १२८।
२. वही, पृ० १२६।
३. 'अन्तर्नाद', पृ० २५-२६।

करतीं और पानी में मिल जातीं। मैं देखती रही और मल्हार गा-गाकर रागिनी को लहरों में रमाती रही। सुहावनी सन्ध्या धीरे-धीरे नीरव रजनी में बदल गई। युवती ने अँधेरी शैया बिछाई, मेघ ने अलकें बिखेरकर शयन किया। मेरे पीछे दामिनी छिप-छिपकर उसे निरखने लगी, अकेला पाकर मीठी मुसकान से उसे रिझाने लगी और समय पाकर उसने संकेत किया, वह गई। उसने प्रथम चुम्बन के साथ आलिंगन भी किया। ऐसे अभिसार को निहारकर मैं हँस पड़ी। उसने सुना, वह झेंपी, मुसकराई और फिर मुझ पर टूट पड़ी।"[1]

२. "सूर्य का प्रखर उत्ताप था। उठते हुए बादल ने सरोवर की जल-राशि के आलिंगन-पाश से हटते हुए कहा—'प्रिये, विदा हो। मैं नृशंस सूर्य के समीप जाकर उसे पृथ्वी की करुण-कथा सुनाऊँगा।'

जल-राशि ने कहा—'फिर कब आओगे मेरे प्राण!'

बादल ने जल-राशि को चिढ़ाने के लिए हँसते हुए कहा—'कभी नहीं।'

जलराशि उदास होकर बोली—'मैं तो रोकर स्वयं ही अश्रुमय हो रही हूँ और किस प्रकार रोऊँ।'

बादल ने मुसकराकर कहा—'न, मत रोओ, मैं स्वयं द्रवित होकर तुम्हारे पास आऊँगा'।"[2]

यह एक कुमारी या अभिसारिका के अपने प्रेमी से लोकाचार के विरुद्ध मिलन का वर्णन है। इसमें वह अपनी दशा का प्रकृति में प्रक्षेप (प्रोजेक्शन) कर देती है और मानवीय तथा बाह्य प्रवृत्ति के साम्य में उसे सन्तोष मिलता है। बादल प्रेमी का प्रतीक है और नायिका बिजली से अपना तादात्म्य स्थापित करती है। बिजली जब उसके पीछे से मुसकराती है तब दोनों का सान्निध्य प्रकट होता है। सारे गीत में उल्लास की भावना है, जो इस तादात्म्य को पुष्ट करती है। लेकिन रति-क्रीड़ा पूरी होने पर उसे लोकापवाद का ध्यान आता है। बिजली के प्रतीक से बिजली टूटने के मुहावरे की उसे याद आती है। 'उस पर बिजली गिरी' यह उसके लोकापवाद-सम्बन्धी भय को प्रकट करता है।

राधा और कृष्ण के माध्यम से प्रेम की व्यञ्जना—राधा और कृष्ण के माध्यम से प्रेम की व्यञ्जना भी अवदमित काम-वासना का एक रूप है। राधा का रूप लेकर कृष्ण से चाहे जिस प्रकार की बात कही जा सकती है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में श्रीमती दिनेशनन्दिनी इस प्रकार से अपनी भावना का व्यक्तीकरण सबसे अधिक करती हैं।

१. "घनश्याम! मैं तो आई गगरी भरन! केतकी की सुगन्ध सान्ध्य-गगन को सुरभित कर रही है, नीलम जल पर कहीं कमल-पत्र और कहीं शैवाल सो रहे हैं और जल-कुक्कुट तथा सारस किल्लोलें कर रहे हैं। मधुवन की छटा निहारते-निहारते मुझे देर हो गई—घनश्याम मैं तो आई गगरी भरन! कलिन्दजा का नीर गहरा है, मैं नीचे उतरकर घट भरूँगी तो मेरा नूतन कुसुम्बी-चीर भीग जाएगा और काई से मेरा पैर फिसल जाएगा तो मैं जल-समाधिस्थ हो जाऊँगी। घनश्याम, मेरी गगरी भर दो और मुझे घर तक पहुँचा

१. 'मौक्तिक माल', पृ० २०।
२. 'हिमहास', पृ० ५७।

दो। गैल डरावनी है, रैन अँधेरी है और मैं आई हूँ अकेली ! नन्दलला, मेघों की घन-गम्भीर गर्जना सुनकर मेरा हृदय काँप रहा है, यदि मूसलाधार वर्षा होने लगी तो मैं अपने को विद्युत् की कौंध से कहाँ छिपाऊँगी। मेरी गगरी भर दो, सिर पर धर दो और घर तक पहुँचा दो, नन्दलला ! मैं तो आई हूँ गगरी भरन।"[1]

२. "केशव, ज़रा अपनी भुवन-मोहिनी वंशी को श्रीमुख से अलग कर मेरी वेणी तो गूँथ दो।

माधव श्रीराधा गौरीजू की उलझी लटें बेनी-कुञ्ज में बैठकर कनक की कंघी से सोल्लास सुलझाने लगे और सँवारने लगे, किन्तु शृंगार-कला में परम पटु और पारङ्गत वे नटनागर सुहाग-सिंगार के सब साधन रहते हुए भी श्री ब्रजरानीजू का जूड़ा बारम्बार चेष्टा करने पर भी न बना सके।

श्री नवनीत प्रियाजी ने प्रीतम की यह दशा देखकर शरदेन्दु-दर्पण अपने सम्मुख धर लिया। फिर तो शशिमुख के मुखचन्द्र का पुनीत पीयूष पुनि-पुनि पानकर गोविन्द ने सुन्दर बेनी गूँथ, मोतियों से माँग भर चमेली की चन्द्रिका से उसे सजाया तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो अस्ताचल पर नवल चन्द्र उदित हुआ हो।"[2]

प्रथम गद्य-गीत में वासना-तृप्ति के लिए उल्लसित प्रेयसी के हृदय का चित्रण है, जो मस्ती में सुध-बुध भूली है। घनश्याम से गगरी भरने के अनुरोध से अभिप्राय प्रतीक-रूप से वासना-तृप्ति से है। उसका अकेलापन, रास्ते का भय आदि मिलन से पहले के भय की व्यञ्जना करते हैं। इसमें प्रेयसी रति-क्रीड़ा के लिए आह्वान करती है और उत्साह देती है। साथ ही इसमें प्रियतम पर आश्रित होने का भी भाव है जिससे वह उसके सम्पर्क का सुख अधिक-से-अधिक ले सके।

दूसरे गद्य-गीत में लेखिका (प्रेयसी) की यह इच्छा प्रकट हुई है कि जैसे कृष्ण ने राधा की वेणी गूँथी थी वैसे ही मेरी वेणी भी गूँथी जाए। यह रूपगर्विता नारी है, जो प्रिय के द्वारा शृंगार कराकर अपने आत्म-गौरव की भावना को तृप्त करना चाहती है।

कामजनित आत्म-पीड़ा और कामजनित पर-पीड़ा—काम-वासना के आवेग से स्वयं दुखी रहने में और प्रेमी को काम-वासना-सम्बन्धी पीड़ा पहुँचाने में सुख अनुभव करना भी वासना-तृप्ति का एक साधन है। सर्वश्री अज्ञेय और दिनेशनन्दिनी में इस प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें कामजनित आत्म-पीड़ा और कामजनित पर-पीड़ा की झलक देखी जा सकती है। अज्ञेयजी की 'चिन्ता' में एक स्थान पर नारी कहती है—"प्रियतम ! कैसे तुम्हें समझाऊँ कि यह अहंकार नहीं है। वह आत्म-दमन है, मेरे प्राणों की अभिन्नता जिसके बिना मैं जी नहीं सकती।"[3] दिनेशनन्दिनी में तो ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। वे अज्ञेय की नारी से भी एक पग आगे बढ़कर कहती हैं—"सैयाँ ! मुझे तिल-तिल न मारो, भूख की यन्त्रणा से छटपटाकर मुझे ठठरी बनने दो; अरब के रेणुका-प्रदेश में अकेली छोड़कर मेरे प्राणों को प्यास के मारे अधरों तक आने दो; ग्रीष्म की चढ़ती दुपहरी के

---

१. 'शारदीया', पृ० ८३।
२. 'दुपहरिया के फूल'।
३. 'चिन्ता', पृ० ११।

प्रखर आतप में मुझे निरन्तर खड़ी रखकर सौन्दर्य को मुरझाने दो; चिन्ता की चिता धधकाकर उसकी ज्वाला में मेरे यौवन को भस्मीभूत कर दो।"[१] श्री शिवचन्द्र नागर ने भी एक स्थान पर ऐसा ही लिखा है—"मैं लज्जावनत अपराधी सिर झुकाए खड़ा हूँ। वास्तव में मैं अपराधी हूँ, मेरा अपराध मार्जनीय नहीं। देवि, मुझे कठिनतम दण्ड दो ताकि मैं भविष्य के लिए अपनी भूलों का परिमार्जन कर सकूँ। मुझे डर है कि कहीं आप मुझे क्षमा न कर दें, क्योंकि मैं अपराधी क्षमा का भार वहन न कर सकूँगा।"[२]

कामजनित पर-पीड़ा के उदाहरण अज्ञेय में अधिक हैं। उन्होंने नारी से कहा है—"जब तुम उद्विग्न, दुखी, तिरस्कृत और दयनीय होती हो, तभी मैं तुम्हें अत्यन्त प्रियतमा देख पाता हूँ। तभी तुम पर मेरा अत्यन्त ममत्व होता है।"[३] "या एक विस्तृत जाल में एक चिड़िया फँसी हुई छटपटा रही है। पास ही व्याध खड़ा उद्दण्ड भाव से हँस रहा है। चिड़िया को फँसी और छटपटाती देखकर मुझे पीड़ा और समवेदना नहीं होती, मैं स्वयं वह चिड़िया नहीं हूँ।"[४] यहाँ अन्योक्ति द्वारा कामजनित पर-पीड़ा की व्यञ्जना की गई है।

गद्य-काव्य और आत्म-गौरव की भावना—अवदमित काम-प्रवृत्ति के अन्वेषण के बाद हिन्दी-गद्य-काव्य में हम आत्म-गौरव (सैल्फ़ एसर्शन) की प्रवृत्ति की खोज करेंगे। इस प्रवृत्ति के गद्य-काव्य दो लेखकों ने विशेष रूप से लिखे हैं—एक तो श्री अज्ञेय ने और दूसरे श्रीमती दिनेशनन्दिनी ने। श्री अज्ञेय ने अपनी 'चिन्ता' में नारी के प्रति व्यक्त किये गए विचारों में अपने अहं का परिचय दिया है। एक स्थान पर वे नारी की शक्ति को अपनी दी हुई बताते हुए कहते हैं—

"तुमने यदि अपना जीवन संसार के असंख्य फूलों को समर्पित कर दिया है तो मैं ईर्ष्या क्यों करूँ? मैंने तुम्हें गन्ध नहीं दी, तुम्हारे लिए मधु नहीं संचित किया, किन्तु गन्ध का सौरभ लेने की, मधु का स्वादन करने की, फूल-फूल पर उड़ने की, जो शक्ति है, वह तो मैंने ही दी है। तुम्हारा यह अनिर्वचनीय सौन्दर्य, तुम्हारे पंखों पर ये अकथ्य सौन्दर्य-मय रंग—ये मेरे ही उपहार हैं। फिर मैं तुम्हारी प्रवृत्ति से ईर्ष्या क्यों करूँ?

मैं मानो तुम्हारे जीवन का सूर्य हूँ, तुम सर्वत्र उड़ती हो, किन्तु तुम्हारी शक्ति का उत्स, तुम्हारे प्राणों का आधार मैं ही हूँ—मेरी ही धूप में तुम इठलाती फिरती हो—मैं इसीको प्रतिदान समझता हूँ कि मेरे कारण तुममें इतना सौन्दर्य और इतना मधुर आनन्द प्रकट हो सकता है। तितली, तितली।"[५]

दिनेशनन्दिनी में यह भाव और भी प्रबल है—

१. "मैं न होती तो तुम जीवन के आह्लाद से अपरिचित होते। तुम्हारे होंठों पर स्मृति का शैशव न झूमता, इन अरुणारी आँखों में मिलन के मार्मिक स्वप्नों का सुखकर

१. 'शारदीया', पृ० ४१।
२. 'प्रणय गीत', पृ० २४।
३. 'चिन्ता', पृ० ४८।
४. वही, पृ० ६३।
५. वही, पृ० ४७-४८।

सृजन न होता, तुम्हारे भ्रू-संचालन से कला में कम्पन न आता, सौरभ की रिक्त प्यालियाँ प्राणों के ओज से प्लावित न होतीं, अभिनय का हास यौवन में गरिमा न पूरता, मैं न होती तो तुम जीवन के आह्लाद से अपरिचित होते।"[1]

२. "मैं तुमसे प्यार कैसे करूँ? मैं फूलों-बिछे मार्ग पर गिन-गिनकर ताल से कदम रखने वाली ऐश्वर्य रानी हूँ और तुम मेरे दिव्य-प्रेमी की स्वर्णिम पादुका के नीचे पिसकर धूल बन जाने वाले तुच्छ रज-कण। मैं रत्नाकर की विशाल शैया पर सोई हुई उष्ण प्रलय के सामयिक तूफान को रोकने वाली महान् शक्ति हूँ और तुम मेरे कदापि न पिघलने वाले हिमाचल-स्वरूप उपास्य से टकराने वाले क्षुद्र बुलबुले। भला बताओ तो, मैं तुमसे प्यार कैसे करूँ?"[2]

यहाँ प्रथम उदाहरण में पुरुष के अहं भाव का प्रदर्शन है और दूसरे तथा तीसरे में नारी के। अज्ञेय की 'चिन्ता' में तो ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं जहाँ पुरुष विजयी है, नारी विजित। उनमें पुरुष के अहं भाव की तुष्टि का प्रयत्न है। कामजनित आत्म-पीड़ा के अहं का एक रूप यह भी है कि समस्त सृष्टि के विधान को ही चुनौती दे दी जाए—

"हे स्वार्थवाद के उपासक मनुष्यो! देखना तुम्हारी स्वार्थान्धता और तुम्हारा पाखण्ड मेरे वज्र-हाथों से चूर-चूर हो जाएगा।

हे सूर्य! तेरा असह्य ताप मुझे तेरे सामने नतमस्तक नहीं कर सकेगा।

हे अग्नि, तेरी विकराल ज्वालाओं की लपट अब मुझे भयातुर नहीं कर सकेगी।

हे पवन, तेरे प्रचण्ड वेग की अब मुझे ज़रा भी परवाह नहीं।

हे मधुर स्वर वाले पक्षियो, अब तुम्हारे गान मुझे भूल-भुलैयों में नहीं फँसा सकते।

हे कोमल पुष्पो, अब तुम्हारा सौरभ और सौन्दर्य मुझे बन्दी नहीं बना सकता।

आज से मैं विद्रोही हूँ, भयंकर विद्रोही। सुख के विरुद्ध, दुख के विरुद्ध। शान्ति के विरुद्ध, अशान्ति के विरुद्ध। विद्रोह, अब यही मेरा मान है, यही मेरा अरमान है।"[3]

आत्म-गौरव की प्रवृत्ति के साथ-साथ इसमें हीनता-भाव की ग्रन्थि का भी समावेश है। भग्नाशा (फ्रस्ट्रेशन) भी है, जैसे आत्म-गीत में; क्योंकि अहं का अतिरेक भग्नाशा का ही सूचक है। यों एक साथ कई प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण यहाँ मिलता है।

गद्य-काव्य और दैन्य—गद्य-काव्यों में दैन्य-भावना दो प्रकार से व्यक्त हुई है—एक तो भक्ति-भावना में दैन्य-प्रदर्शन के रूप में, दूसरे लौकिक प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं में प्रिय के समक्ष अपनी अपूर्णताओं के स्वीकार करने में। प्रथम प्रकार के गद्य-काव्यों में अपने दोषों की ओर ध्यान दिलाकर प्रभु की कृपा की याचना की जाती है। अपनी हीनता और दीनता का प्रदर्शन करते हुए अनेक लेखकों ने प्रभु से प्रार्थना की है और उसे सर्व-समर्थ बताया है। श्री वियोगी हरि कहते हैं—"नाथ, मैं घोर अपराधी हूँ। मेरे काले जीवन का प्याला अपराधों की ही मोहिनी मदिरा से भरा हुआ है। तेरे प्रेम-रस की तो उसमें आज तक एक बूंद भी नहीं डली है। क्षमा कर! तेरे पवित्र पैरों पर आज मैं अपने

---

१. 'वंशीरव', पृ० ४०-४१।
२. 'मौक्तिक माल', पृ० ६।
३. 'प्रार्थना', पृ० १२।

इसी प्याले को चढ़ाता हूँ।

पर और सबसे कैसे माफी माँगूँ! मैंने अगणित अपराध किये हैं, प्रभो! मिथ्या-वादिता से मित्रता जोड़कर सत्य और विश्वास के साथ मैंने जीवन-भर प्रवंचना ही की है। सच पूछो तो मैं आज किसी को अपना मुँह दिखलाने लायक नहीं।"[१]

"हे ईश! मेरी दुर्बलताओं पर न हँस। ज़रा सोचकर देख तो सही कि तूने ही मुझे ऐसा बनाया या मैं स्वयं ऐसा बन गया हूँ, पर तू तो सर्वशक्तिमान है। उस मानव-सुलभ दौर्बल्य को पूरा करने के लिए मुझमें यथेष्ट शक्ति प्रदान कर!

तू कवि है, मुझमें कविता का स्रोत बहा दे। तू प्रकाशमय है, मेरे हृदयान्धकार में ज्ञान-रवि का प्रकाश फैला दे। तू सत्य और शुद्ध है, मेरी आत्मा को विशुद्ध बनाकर उसे सत्य से ओत-प्रोत कर दे।

मैं दुर्बल हूँ, मुझे सबल बना। मैं नीच हूँ, कलुषित हूँ, मुझमें पुण्य का प्रकाश डाल! तेरे गुणों का गान करने के लिए जड़ता नष्ट कर! मुझमें वाक्-शक्ति और स्फूर्ति प्रदान कर!"[२]

नारी के प्रति श्रद्धापूर्ण भावाभिव्यक्ति में भी दैन्य भाव का आभास मिलता है—

"जब मैं अपने दुर्गुणों की ओर देखता हूँ तब याद आ जाता है कि तू मुझसे कहीं अधिक उच्च है। जब तू अपना कृपा-कटाक्ष मेरे ऊपर फेंकती है उस समय मैं उसके भार से दब जाता हूँ और मन-ही-मन कहता हूँ—मैं इतना भाग्यवान, इतना योग्य! और जब तेरे कृपा-कटाक्ष मुझे नसीब नहीं होते तब अपनी अयोग्यता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। पर योग्यता और अयोग्यता उस समय कसौटी पर कस जाती है जब तू रोष-भरे नेत्रों से देखकर मेरे हृदय को उँघा देती है और मेरा सारा शरीर उस दृष्टि के तेज से सिहर उठता है।"[३]

दैन्य-भाव-जनित हीनता की भावना का बहुत स्पष्ट चित्रण वहाँ होता है जहाँ अपनी शारीरिक अथवा मानसिक हीनता के लिए विधना को कोसा जाता है अथवा स्वयं को ही धिक्कारा जाता है—

१. "यामिनी के कोमल अन्धकार में तुम मेरे प्रसूतिका-गृह में प्रवेश कर मेरे भाल पर क्या लिख गई विधना? तुम विश्व-नियन्ता की रचना-प्रणाली से अनभिज्ञ थीं और तुमने मेरे भाग्य-पटल पर ही प्रथम कलम चलाना सीखा था। विश्व-सूत्रधार की निर्भीक आलोचना से घबराकर तुम उठ बैठीं और तुम्हारे महावर-लगे पदाम्बुजों ने स्याही उलट दी। सुलेख मिट गए—अब मैं विश्वपति के श्वेत वक्षःस्थल का वह स्याह धब्बा हूँ, जिसकी ओर संसार घृणा की अँगुली से संकेत करता है।"[४]

२. "मैं प्रयत्न करके भी तुम्हारी ओर नहीं देख सकती। तुम मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर सुघराई से मेरे नयनों में अपना रूप निहार लेते हो; किन्तु जब मैं अपना

---

१. 'मणिमाला', पृ० १८।
२. 'आराधना', पृ० ४५।
३. 'मौक्तिक माल', पृ० २०।
४. 'वशीरव', पृ० ७८।

कुरूप तुम्हारी नीलम पुतलियों में निहारने का प्रयत्न करती हूँ तब मौत मेरी आँखों पर पट्टी बाँध देती है और तब मैं अपने अन्धकार का प्रतिविम्व ही देख पाती हूँ।"[1]

इस दैन्य प्रवृत्ति के कारण हीनता की भावना का प्रदर्शन एक दूसरे ढंग से भी हुआ है—

१. "यदि मैं तपस्वी होता तो उस सघन वन में तपस्या करता, जहाँ सूर्य और चन्द्र-जैसे तपस्वियों का वास है। उस मन्त्र की साधना करता, जिससे जीवन का धूम्रकेतु अस्त होना भूल जाता! उस धारा का जल पीता जिसमें किसी के स्नेह-रसीले वियोग की लहरियाँ समाई होतीं। उस स्वप्न की समाधि जमाता, जो वास्तविकता बनकर समाधि खुलवाता! यदि मैं तपस्वी होता तो वह भस्म रमाता, जिसमें उस चिर स्वप्न की राख मिली होती।"[2]

२. "यदि मैं दीपशिखा होती तो तुम्हारे निर्दिष्ट जीवन-पथ को आलोकित करती, यदि मैं कल्पना होती तो तुम्हारी कविता को नवीन युग के स्वप्नों से राग-रंजित बना, चराचर को भावों की उड़ान और भाषा की माधुरी से मुग्ध करती, यदि मैं विजयश्री होती तो सदैव तुम्हारे सम्मुख हाथ बाँधे खड़ी रहती और जीवन-युद्ध में तुम्हें वरमाला पहनाती, यदि मैं अनन्त रूप-राशि होती तो तुम्हारे रसीले नयनों के अवगुंठन में छिप, विश्व को उस रहस्यमय आकर्षण से विमुग्ध करती। स्वामिन् मैं तो एक अबोध बालिका हूँ। बताओ तो अब तुमसे प्रणय-याचना कैसे करूँ?"[3]

इन उदाहरणों से प्रकट है जब व्यक्ति किसी कार्य को करने में असमर्थ होता है तब ऐसी दलीलें दिया करता है। ये सब उसकी हीन-भावना की ग्रन्थि के फल हैं।

गद्य-काव्य और संघ-प्रवृत्ति—देश-भक्ति और विश्व-बन्धुत्व की रचनाएँ इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत आती हैं। इनका उद्देश्य जाति-रक्षा का होता है और जाति-रक्षा भी आत्म-रक्षा का ही बृहत् रूप है। इसके कई रूप हैं—

१. देश के अतीत गौरव का चित्रण।
२. वर्तमान दुर्दशा का चित्रण।
३. विद्रोह, क्रान्ति तथा बलिदान की भावना का चित्रण।
४. अत्याचारियों के प्रति घृणा।
५. दलितों के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन।
६. विश्व-बन्धुत्व की कामना।

देश के अतीत गौरव का चित्रण—इसमें भारत-भूमि की प्रशंसा और उसकी गौरवपूर्ण पूर्व-परम्पराओं का वर्णन मिलता है। जैसे—"कैसी बढ़िया फुलवारी है। गुलाब है, चमेली है, मधुमालती है—गरीब भी है। दूर से जब बाग दीखता है, सुगन्धों की आशा का उदय कर देता है। निकट आने पर सुगन्ध लहराने लगती है। किन्तु यह नन्दन कुछ अनोखा है। यहाँ अपने को व्यक्ति बो गए हैं—जमाने की ज़मीन पर। श्रीधर पाठक के

१. 'मणिमाला', पृ० १८।
२. 'वेदना', पृ० ६०।
३. 'शबनम', पृ० १०।

शब्द उधार लूँ तो यथार्थ में 'यहि अमरन को ओक' और 'यहीं कहुँ बसत पुरन्दर।' वाल्मीकि से लगाकर तुलसीदास तक और राम से लगाकर छत्रपति शिवाजी और राणा प्रताप तक सब यहीं रहते हैं। व्यास यहीं हैं, वाल्मीकि यहीं हैं, कपिल यहीं हैं, कणाद यहीं हैं, राम यहीं हैं, परशुराम यहीं हैं, बुद्ध यहीं हैं, महावीर यहीं हैं, रघु यहीं हैं, दिलीप यहीं हैं, कृष्ण यहीं हैं, बिदुर यहीं हैं, नारद यहीं हैं, सरस्वती यहीं हैं, सीता यहीं हैं, द्रौपदी यहीं हैं, शिवाजी यहीं हैं, छत्रसाल यहीं हैं, अकबर यहीं हैं, कबीर यहीं हैं, मीरा यहीं हैं, सूरदास यहीं हैं, चैतन्य यहीं हैं, रामतीर्थ यहीं हैं, तुकाराम यहीं हैं, रामदास यहीं हैं। इस जमीन का एक तह भी उखाड़ा कि अनेक मनस्वी बातें करने लगेंगे। इनकी हड्डियों पर हम नन्दन बनाते चल रहे हैं।"[१]

२. "ये सुहावने सुनहरे खेत, यह स्वच्छ नीलाकाश, यह बड़े-बड़े हाथियों की पंक्ति, यह मधुर रसीले आम के निकुंज वन, यह गोरी गंगा, श्यामा यमुना, बताओ कहाँ हैं? बताओ और किस देश की मिट्टी में करोड़ों अश्वमेध और राजसूय यज्ञों की विभूति मिल रही है?"[२]

इन उद्धरणों से प्रकट है कि देश की प्रत्येक वस्तु गौरवपूर्ण दिखाई पड़ती है और उदाहरणों की तह-पर-तह जमाकर उस भावना को पुष्ट किया जाता है।

वर्तमान दुर्दशा का चित्रण—इसके द्वारा देश की जनता की दयनीय अवस्था का चित्रांकन होता है, ताकि उससे प्रभावित होकर जनता संगठित होकर उसको दूर करने को उठ खड़ी हो। यह उद्‌बोधन का एक रूप है। जैसे—

१. "तुझे खींचना है तो ऐसा चित्र खींच। एक उजड़ा हुआ ग्राम बना। उसमें खण्डहर टूटी-फूटी झोंपड़ियाँ हों। खेत और बाग झुलसे और उजड़े पड़े हों। एक ओर भीषण अग्नि धायँ-धायँ करती हुई जीभ लपलपा रही हो। जहाँ-तहाँ अत्याचार-पीड़ित, पद-दलित अस्थि-कंकाल पड़े हों। भूख के मारे नन्हे-नन्हे बच्चे माताओं की गोद में कलप रहे हों। लूट-खसोट और मार-पीट हो रही हो। सर्वत्र नाश का साम्राज्य हो। चित्रकार! क्या ऐसा चित्र तू खींच सकेगा?"[३]

२. यह असंगति नहीं तो क्या है? एक ओर खण्डहरों में पड़े नंग-धड़ंग अति अस्थि-कंकाल, भूख-भूख चिल्ला रहे हैं, दूसरी ओर सुसज्जित महलों में मखमली गद्दों पर प्याले-पर-प्याले ढल रहे हैं और उन्मादिनी रागिनी छेड़ी जा रही है।"[४]

प्रथम उदाहरण में गरीबी का सामान्य रूप से चित्रण है और दूसरे में तुलना से उस अनुभव को तीव्रतर बनाने का प्रयत्न है।

विद्रोह, क्रान्ति और बलिदान की भावना—विश्व से अत्याचार को मिटाने के लिए विद्रोह, क्रान्ति और बलिदान की भावनाओं का समावेश गद्य-काव्यों में किया जाता है। यह भी एक प्रकार से पीड़ितों को एक करने का मार्ग है और अपने हितों का देश के

---

१. 'साहित्य देवता', पृ० ३५।
२. 'मरी खाल की हाय', पृ० ६।
३. 'अन्तर्नाद', पृ० ५८।
४. वही, पृ० ६६।

हितों से तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा है। साथ ही नैराश्य होने पर नाश में तृप्ति ढूँढने का प्रयत्न है। उदाहरणार्थ—

१. "मैं अपने हौसलों और गाँव-पुञ्जों को मिट्टी में मिला दूँगा, किन्तु हर पौधे को, सम्पूर्ण रूप से अपनी पर आने के लिए बाध्य करूँगा। जो मिट्टी में मिले दाने परिपूर्ण तारुण्य की उभार में न आ जाएँ उनकी डालियाँ काट-काटकर इसी नन्दन की खाद बना दूँगा। मैं तो इस बाग की रसा में रस लाने के लिए अपनी हड्डियों की खाद दे दूँगा। इस बाग के दाड़िम में दर्प का-सा स्वाद उत्पन्न करने के लिए युग की अरुणिमा तक की खाद दे दूँगा।"[1]

२. "क्या अपने दुर्भाग्य को दो टुकड़े कर देना है? तो उठिए, समरों और महा-समरों का आमन्त्रण स्वीकृत कीजिए। दुर्भाग्य समुद्र की लहरों में जा छिपा है, लहरें काटते चलिए, दुर्भाग्य और बेड़ियाँ दोनों कटते चलेंगे।"[2]

३. "सावधान हो जाओ! उठो! बिस्तर छोड़ो! औरों को भी उठा दो! सबसे पहले प्रसुप्त विलास-विभोर कामियों को जगाओ! निर्दयतापूर्वक उनके हाथ से शृंगार-मंजूषा छीनकर फेंक दो। उनकी बकुल मालाएँ और कुसुम-कंकण कुचल डालो। वीणाएँ तोड़-तोड़कर लतिया दो। जैसे बने तैसे शीघ्र ही उन कामान्धों को चन्द्रमुखियों के बाहु-पाश से छुड़ाकर अलग कर दो।"[3]

प्रथम उद्धरण में अपने बलिदान करने की प्रेरणा है तथा दूसरे और तीसरे में दुर्भाग्य के विरुद्ध लड़ने तथा विलासियों को लड़ने के लिए बाध्य करने की ओर संकेत हैं। यहाँ जो विध्वंस की पुकार है वह बर्तमान से घोर असन्तोष की व्यंजक है और एक श्रेष्ठ-तर स्थिति को लाने का आयोजन है। इन उद्धरणों में युयुत्सा की मूल प्रवृत्ति का भी सम्मिश्रण है।

अत्याचारियों के प्रति घृणा—संघ-प्रवृत्ति का ही परिणाम यह भी है कि अत्या-चारियों के प्रति तीव्र घृणा का प्रकाशन किया जाए। इसके द्वारा अत्याचारियों के अत्या-चारों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाता है और उन्हें देश तथा समाज की दुर्दशा का उत्तरदायी ठहराया जाता है—

"तुम यहाँ साधक होकर आए थे। अच्छी साधना की! किसने कहा था कि तुम इस मन्दिर की सफेद दीवारों पर विषय-वासना की कालिमा पोत दो, धर्म-ग्रन्थों को हमारे हाथ से छीनकर रास्ते पर फेंक दो, या हमारी फूलों की डालियाँ देवता के आगे से हटाकर अपने पैरों से कुचल डालो। तुम्हारे पदार्पण ने मन्दिर को मदिरालय, श्रद्धा को अन्धता, साधना को कवि-कल्पना और धर्म को आडम्बर बना डाला। हमारी प्राणाधिक आस्तिकता भी आज चौपट कर दी गई। आज न हम इस लोक के रहे, न परलोक के! इतने पर यह कहने का दुस्साहस करते हो कि हम तुम्हें निर्मल, उदार और धार्मिक बनाने आए हैं।"[4]

---

१. 'साहित्य देवता', पृ० ३६।
२. वही, पृ० १३१।
३. 'अन्तर्नाद', पृ० ८१।
४. वही, पृ० ६१।

यह अंश हमें बाइबिल की याद दिलाता है जहाँ कि ईसा मसीह ने यरूशलम के मन्दिर के पुजारियों को इन शब्दों में फटकारा था—"तव वह मन्दिर में जाकर बेचने वालों को बाहर निकालने लगा और उनसे कहा, लिखा है कि मेरा घर प्रार्थना का घर होगा, पर तुमने उसे डाकुओं की खोह बना दिया है।"[1]

दलितों के प्रति सहानुभूति—दलितों के प्रति सहानुभूति भी संघ-प्रवृत्ति का ही एक रूप है। इसमें मानवता के आधार पर उनके प्रति संवेदना व्यक्त की जाती है और ऊँच-नीच तथा धार्मिक पाखण्ड का विरोध किया जाता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में दिये गए हेडफील्ड के विचारों के अनुसार यह अपने ही प्रति सहानुभूति-प्रदर्शन का परिमार्जित रूप है।

१. "किसी देव-दर्शनार्थी को मन्दिर के अन्दर न जाने देना धर्म का सबसे बड़ा उपहास और अपमान है। वह तो मानव-बुद्धि में न समा सकने योग्य एक अजीब-सी बात है। समदर्शी ईश्वर अपने और अपने दलित भक्तों के इस अपमान को इस तरह कब तक सहता रहेगा ? धर्म इस भारी अधर्म को आखिर कब तक पचाता रहेगा ? ताले के अन्दर वे दुराग्रही पुजारी पतित पावन प्रभु को कब तक कैद रख सकेंगे।"[2]

२. "बलिहार! ऊँच-नीच के इस मनःकल्पित भेद-भाव को ये धर्म-व्यवसायी लोग 'ईश्वर-विधान' कहते हैं। जघन्य स्वार्थपरता को इन चतुर ठगों ने 'ईश्वर-निर्दिष्ट' बतलाया है। अपने चिर-संचित अभ्यस्त पापों और कुसंस्कारों को सुरक्षित रखने के लिए इन सभ्य गुण्डों ने, धर्म की ओट लेकर ऊँच-नीच के ये अमानुषीय भेद मानव-समाज में किये हैं। इन निर्लज्ज धर्म-व्यवसायियों को शर्म तो छू भी नहीं गई।"[3]

३. "किसी गरीब असहाय को हम ताँबे या चाँदी के चन्द गोल-गोल टुकड़े क्या देते हैं, बदले में उसका तन, उसका मन और उसकी आत्मा तक खरीद लेना चाहते हैं। क्या ही सस्ता और सुन्दर सौदा है ?"[4]

विश्व-बन्धुत्व की कामना—देश-भक्ति से भी व्यापक संघ-प्रवृत्ति का रूप विश्व-बन्धुत्व की कामना में व्यक्त होता है—

१. "हे नाथ, मुझे उस लोक में जाग्रत करो जहाँ मैं सारे संसार के दुःख को अपने ऊपर ले लेने के सुख में मत्त हुआ विचरूँ। निखिल विश्व का ताप जहाँ मेरे रक्त की ऊष्मा बनाए रखे और अनन्त विश्व-वेदना मेरे संगीत की सामग्री बने। यहाँ एकमात्र तुम्हीं मेरे संगी हो और सब प्राणियों की कामना मुझमें एकत्र होकर तुमसे प्रणय करने की शक्ति दे। जहाँ भुवन-का-भुवन मेरा भवन हो और असीम जीवन के बदले असीम जीवन पाकर मैं तुम्हारे साथ नित्य नई क्रीड़ा किया करूँ।"[5]

२. "जब मैं इस अल्पकालीन जीवन के संकटापन्न मार्ग को तय कर अनन्त-जीवन

१. 'लूका', अध्याय १९, आयत, ४५-४६।
२. ठण्डे छींटे, पृ० ८५।
३. वही, पृ० १८।
४. वही, पृ० ३०।
५. 'साधना', पृ० ६७।

के फाटक पर पहुँचूँ तो मैं यह कह सकूँ कि मैं सारी आयु सीधे और सच्चे मार्ग पर निश्चित लक्ष्य की ओर चलता रहा और वह लक्ष्य था—विश्व-प्रेम, विश्वजनीन वृत्ति ।"[1]

३. "ओ परिश्रान्त पथिक ! पी लो मानव-प्रेम का यह दो घूँट ठण्डा-ठण्डा शरबत । इसे पीकर बैठ जाओ मौज से प्यारे राम के चरणों के पास । तुम्हारे जीर्ण-जीवन का एकमात्र लक्ष्य यही है न ? तो फिर तुम धन्य हो ।"[2]

गद्य-काव्य और पलायन की प्रवृत्ति—पलायन की प्रवृत्ति के कारण लेखक अथवा कवि कल्पनाशील हो जाता है और इस संसार को छोड़कर किसी अन्य लोक में जाना चाहता है । गद्य-काव्यों में इस प्रवृत्ति के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं । जैसे—

१. "चलो प्रेमी उस देश को जहाँ ऊषा की स्वर्णिम किरणें प्रभात को रक्तरंजित न करें, विहग-बालाएँ कल-गान कर रत्नगर्भा विष्णु-पत्नी को न जगाएँ, ऋतु की उष्णता यौवन में वासना भर उसे विषैला न बनाए, संसार की परिसीमित दृष्टि में पावन-प्रेम की अवज्ञा न हो, बुर्दाफरोश बाजारों में सौन्दर्य का सौदा न करें और चिरमिलन की शान्ति में वियोग की कल्पना न हो ।"[3]

२. "सुख और दुःख दोनों को लाँघकर मैं वहाँ पहुँचूँगा । वह नीहार का देश तीव्र दिवा लोक और रजनी की छाया से बहुत दूर है । वहाँ मेरी कामना का अन्त हो जाएगा, पथ की सीमा शेष हो जाएगी और लौटने की पगडण्डी भी मिल जाएगी । मैं स्वयं वहाँ शून्य हो जाऊँगा ।"[4]

३. "मेरी विचार-तरंग-माला सांसारिक परिस्थितिरूपी तूफान से चंचल होने लगी है, मेरी स्वतन्त्रता शनैः-शनैः स्वार्थियों की कृतघ्नतारूपी काल-कोठरी में छिपती जा रही है और मेरी आत्मा के पूर्ण विकास को स्थल-संकीर्णता ने तिरस्कृत कर दिया है; अतएव मैं उस प्रदेश को चल दूँगा जहाँ सत्यवती नदी के सतत प्रवाह से, विवेक-धान्य-सम्पन्न भूमि हरी-भरी रहती हैं, जहाँ भौतिकता, सभ्यता और जड़ विद्वत्ता के अनुसन्धान हिमालय के वक्षःस्थल से टकराते हुए मेघों की नाईं छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जहाँ की वायु में सत्ताधारियों की स्वार्थमयी वार्ता का एक भी शब्द नहीं सुनाई देता, जहाँ के द्वार दिन-रात खुले रहते हैं, जहाँ भेद में अभेद और जड़ में चैतन्य की झलक दिखाई देती है ।"[5]

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रथम में पावन प्रेम की अवज्ञा होने के कारण, दूसरे में कामनाओं के अपूर्ण रहने के कारण और तीसरे में भौतिक सभ्यता और जड़ विद्वत्ता तथा सत्ताधारियों की स्वार्थमयी वार्ता से ऊबकर उनके ठीक विपरीत प्रदेशों को जाने की बात कही गई है । इनमें से तीनों के लेखक इस लोक के संघर्ष से भयभीत होकर अपने अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करने की अपेक्षा कल्पना द्वारा एक दूसरे लोक को जाने में तत्पर दिखाई देते हैं और इस प्रकार अपने अभावों की मानसिक तृप्ति करते हैं ।

---

१. 'मणिमाला', पृ० ४५ ।
२. 'ठण्डे छींटे', पृ० २० ।
३. 'शारदीया', पृ० ३१ ।
४. 'निशीथ', पृ० १० ।
५. 'तरंगिणी', पृ० ८१ ।

महाराज कुमार डॉक्टर रघुवीरसिंह के ऐतिहासिक गद्य-काव्यों में मुगलकालीन खण्डहरों पर जो अश्रुपात किया गया है वह भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पलायन-वृत्ति के भीतर ही आएगा। उन्होंने मुगलकालीन सम्राटों के विलास तथा मुगलकालीन इमारतों की साज-सज्जा का बड़ा ही आकर्षक वर्णन किया है और उनके पतन पर अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट की है। उनके पतन पर उनका हृदय नश्वरता के दर्शन का विश्वासी हो जाता है। एक स्थान पर वे कहते हैं—"उस महान् किले का यह वैराग्य, उस जीवनपूर्ण स्थान की यह निर्जनता, ऐश्वर्य-विलास के भरपूर सोते में यह उदासी और उन रंग-विरंगे, चित्रित तथा सजे-सजाए महलों का नग्न स्वरूप···साधारण दर्शकों तक के हृदय को हिला देता, तब क्यों न वह किला संन्यास ले ले !"[1] इससे एक प्रकार की घोर निराशा उत्पन्न होती है। समस्त पुस्तक में उन्होंने संसार में अपने स्वप्नों को मूर्त्त रूप देने को मनुष्य का भोलापन बताया है, जो पलायन की वृत्ति का ही सूचक है। जैसे—"संसार को सुख-लोक बनाने और अपने स्वप्नों को यथार्थता में परिणत करने का प्रयत्न करना मनुष्य के स्वाभाविक भोलेपन का अच्छा उदाहरण है। वह मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ता है; किन्तु प्यास बुझाना तो दूर रहा, प्यास के मारे ही तड़प-तड़पकर वह मर जाता है।"[2] या "इस लोक में आकर कौन अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण कर सका है ? किसने चिर-संयोग पाया है ? कुछ ही घड़ियों का, कुछ ही दिनों का, कुछ ही वर्षों या युगों का संयोग···और बस यही संसार की जीवन-कहानी, सुखकरता समाप्त हो जाती है। वियोग, वियोग, चिर-वियोग और उस पर बहाए गए आँसू; बस ये ही शेष रह जाते हैं।"[3]

ऐतिहासिक गद्य-काव्यों के भीतर यह पलायन की प्रवृत्ति एक और कारण से भी हो सकती है। वह कदाचित् यह है कि धीरे-धीरे मिटती हुई प्रभुत्व-कामना लेखक को मानसिक तृप्ति के लिए उकसाती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान के प्रति असन्तोष भूत की समृद्धि में एक सन्तुलन प्राप्त कर लेता है।

गद्य-काव्य और शिशु-रक्षा या पुत्र-कामना की प्रवृत्ति—यह एक प्रमुख प्रवृत्ति है। इसका सम्बन्ध जाति-रक्षा की भावना से है। वात्सल्य-स्नेह की जितनी रचनाएँ हैं उनका सम्बन्धी इसी प्रवृत्ति से है। इसमें बालक के रूप-सौन्दर्य और उसकी क्रीड़ाओं पर मुग्ध हुआ जाता है। हमारे रसशास्त्र का वात्सल्य-रस और यह प्रवृत्ति दोनों एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं।

१. "जब तेरे घुँघराले बालों को सुलझाता हूँ तब मुझे रेशमी रूमाल बुनने की याद आ जाती है, जब मैं तेरा मुख चुम्बन करता हूँ तब मेरे अंगों में कमल-पराग की सुगन्ध भर जाती है, जब मैं हाथ फेरता हुआ तुझे गाकर सुलाता हूँ, मुझे ताल और स्वर की पूर्ण संगति तभी ज्ञात होती है। प्रिय वत्स ! तू सुन्दर नहीं, किन्तु स्वयं सौन्दर्य है। तू त्यागी तथा निःस्वार्थी है। यही कारण है कि तेरा आदर्श निर्मल है और उसमें ईश्वरीय प्रेम का

---

१. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ८२।
२. वही, पृ० १०२।
३. वही, पृ० ११६।

प्रतिबिम्ब पड़ता है।"[१]

२. "माँ, जब में इस छोटे-से आँगन में ठुमुक-ठुमुक नाचने लगता हूँ तब तुम सब काम छोड़-छाड़कर एकटक मेरी ओर देखने लगती हो। मैं दंतुली काढ़कर मुसकराता हुआ तुम्हारी ओर देखता हूँ और तुम बलि-बलि जाती हो। मेरी चमकीली काली पुतलियाँ मेरे गोल-मटोल मुँह में—चिकने मुँह में—तुम्हें कितनी सुन्दर मालूम होती हैं, क्यों माँ, उनमें स्नेह, भोलापन, चंचलता, निरुद्विग्नता, हर्ष और प्रसाद भरा है, क्या इसीलिए ? मैं बार-बार किलकारी मारता हूँ, तुम्हारे जी पर आनन्द की बिजली कौंध जाती है।"[२]

यहाँ प्रथम उदाहरण में पिता का बच्चे के सौन्दर्य द्वारा आनन्दमग्न होना और दूसरे में बच्चे के शब्दों में उसकी क्रीड़ाओं के वर्णन से माँ की प्रसन्नता का व्यक्तीकरण है।

गद्य-काव्य और कौतूहल या उत्सुकता—रहस्यवादी रचनाएँ और प्रकृति-प्रेम की रचनाएँ इसके अन्तर्गत आती हैं।

१. "वाणी उसे बतलाने के लिए व्याकुल हो उठी, उसके रूपों का नख-शिख शुरू कर दिया, किन्तु आखिर होते-होते उसका पार न लग सका और इधर वाणी की शक्ति क्रमशः क्षीण होने लगी। वह अब और धीर न धर सकी, थर्राकर बैठ गई। उसके सारे सिद्धान्त, समग्र युक्तियाँ लचर हो गई थीं। पर आश्चर्य ! ऐसे समय में जब वह मौन हो चली थी, एकाएक बोल उठी—'मैंने उसे पा लिया'।"[३]

२. "तारों-भरी रात में जब हरी-हरी घास पर लेट जाता हूँ, मेरे मस्तिष्क-लोक के इस छोर से उस छोर तक केवल एक प्रश्न गूँजा करता है—'विश्व की इस रंग-भूमि का सूत्रधार कौन है, कहाँ है' ?"[४]

३. "किसी सुदूर पर्वत के एकान्त शिखर पर विकसित हुआ गुलाब का फूल किसकी आँखों को अपना कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करता है।"[५]

इनमें से प्रथम उदाहरण में प्रभु-प्राप्ति पर आश्चर्य और सृष्टि में व्याप्त शक्ति के प्रति जिज्ञासा का भाव है।

१. "कितना सौन्दर्य ! कितनी सुषमा ! !

जहाँ देखो, इस उपत्यका में फूल-ही-फूल बिखरे हुए हैं। प्रत्येक स्थल पर फूलों की राशि अपनी विपुलता में बिखरी है। यहाँ इतने फूल क्यों हैं ?"[६]

२. "इस एकान्त सघन कुंज में तुम जा रहे हो। चारों ओर सरोवरों में कमल-फूल खिल रहे हैं। गुलाव की क्यारियाँ खिली हुई हैं। बीच-बीच में प्रफुल्ल बेले की वल्लरियाँ हैं, मानो नवेली प्रकृति के सीधे ओठों में दशन-पंक्ति दमक रही हो। भ्रमर मँडरा रहे

---

१. 'तरंगिणी', पृ० ८५।
२. 'प्रवाल', पृ० ८।
३. 'मणिमाला', पृ० २३।
४. 'चित्रपट', पृ० ४३।
५. 'वेदना', पृ० ५।
६. 'हिमहास' पृ० २।

हैं। परन्तु सब स्तब्ध हैं। तुम्हारे ज्ञान के जादू ने उन्हें मोहित कर रखा है।"[1]

यहाँ प्रथम उदाहरण में प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध होने और दूसरे में प्रभु के कारण प्रकृति की स्तब्धता की कल्पना में वही कौतूहल का भाव काम कर रहा है।

कला, साहित्य, जीवन, स्त्री आदि के सम्बन्ध में परिभाषात्मक सूक्तियों के जो भावुकतापूर्ण उद्गार हैं वे भी कौतूहल के अन्तर्गत ही रखे जाएँगे, क्योंकि उनमें भी व्यक्ति अपनी दृष्टि से उनको जानने की चेष्टा करता है और दूसरों को चमत्कृत कर देने वाली सूक्तियाँ इस सम्बन्ध में देता है।

इस प्रकार मनोविज्ञान के आधार पर गद्य-काव्यों का विश्लेषण किया जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि विभिन्न लेखकों की रचनाएँ मानव-जीवन की किन दुर्बलताओं अथवा क्षमताओं की ओर संकेत करती हैं। लेकिन यहाँ एक बात ध्यान में रखनी है और वह यह कि मनोविज्ञान चाहे कितना ही विकसित विज्ञान क्यों न हो जाए, मानव-जीवन की समग्रता को उसकी कसौटी पर पूरी तरह नहीं कसा जा सकता; क्योंकि जड़ पदार्थ की भाँति किसी प्रयोगशाला में मानव-मस्तिष्क पर नियन्त्रण और परीक्षण नहीं किया जा सकता। कदाचित् इसीलिए सभी मनोवैज्ञानिक अपनी उक्तियों और निष्कर्षों की सीमाओं से पूर्णरूपेण अवगत रहते हैं और इसीलिए मनोविज्ञान भी रासायनिक अथवा पदार्थ और गणित-विज्ञान की तरह शुद्ध विज्ञान नहीं माना जाता। वह भी अन्य विज्ञानों की तरह एक विकसित होता हुआ विज्ञान है। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कोई निष्कर्ष अन्तिम है; क्योंकि मानव-जीवन भी तो अभी अपने विकास के क्रम में ही है। ऐसी स्थिति में हम अपने उपर्युक्त निर्णयों और टिप्पणियों की सीमाओं को समझते हैं और हम यह भी जानते हैं कि अपने-अपने विकास, भाव, अवस्था और रुचि के अनुसार विभिन्न व्यक्ति हमारे द्वारा विश्लेषित उदाहरणों का भिन्न-भिन्न अर्थ लगा सकते हैं। इन सीमाओं के बीच किसी सामान्यीकरण की ओर संकेत करने का साहस नहीं होता। संक्षेप में कहने का अभिप्राय यह है कि तत्सम्बन्धी भ्रान्तियों का बना रहना नितान्त स्वाभाविक है। इतना होने पर भी जिस सीमा तक साहित्य और साहित्यकार की सृजन-प्रक्रिया और हेतु को इस विज्ञान द्वारा समझा जा सके, उस सीमा तक उसके महत्त्व को स्वीकार करने में आनाकानी करना अथवा उसे सर्वथा अनुपयुक्त और अनावश्यक ठहरा देना व्यर्थ ही नहीं, सत्य पर आवरण डालना भी होगा।

---

१. 'साधना', पृ० ६५।

षष्ठ अध्याय

गद्य-काव्य और दर्शन

दर्शन भारतीय जीवन का आधार है। दर्शन ही के कारण भारतीय संस्कृति विश्व की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति मानी जाती है। आदिकाल से हमारे साहित्य में भी इसकी प्रतिष्ठा रही है। 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू' की घोषणा में कवि को चिन्तक अथवा दार्शनिक ही स्वीकार किया गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि श्रेष्ठ साहित्य में दार्शनिक अभिव्यक्ति आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना साहित्य हल्के स्तर का रह जाता है। सम्भवतः यही कारण है कि अपनी रचनाओं से जनता का पथ-प्रदर्शन करने वाले मनीषी कवि आज तक दर्शन को अपनाते चले आ रहे हैं। वर्तमान युग के छायावादी कवि प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी तक ने दर्शन को अपने-अपने ढंग से अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। उनके साहित्य में यदि दार्शनिकता न होती तो उनकी अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता दो कौड़ी की हो जाती। आज भी प्रगतिवादी कविता से इसीलिए लोगों को कुछ निराशा है कि वह भारतीय साहित्य में ग्रहीत दार्शनिक आधार से दूर जा पड़ी है और जब तक उसमें यह दार्शनिक आधार नहीं अपनाया जाता, उसमें नावीन्य होते हुए भी स्थायित्व नहीं आ सकता। अस्तु,

हिन्दी-गद्य-काव्यकारों का हृदय भारतीय दर्शन से रँगा हुआ है, इसीलिए उन्होंने अपने साहित्य की परम्परा के अनुकूल दर्शन-जैसे शुष्क विषय को बड़े ही सरस, रोचक और प्रभावोत्पादक ढंग से अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। उन्होंने ब्रह्म, जीव, जगत्, जीवन, मृत्यु आदि दार्शनिक विषयों की जिस शैली में अभिव्यक्ति की है वह अपने माधुर्य, कल्पना और रागात्मकता के संयोग, कोमलकान्त पदावली और उच्चकोटि की अभिव्यंजना के कारण हिन्दी-साहित्य की बहुमूल्य सम्पत्ति बन गई है। इस विषय में कुछ और अधिक न कहकर अब हम उन दार्शनिक विषयों पर एक-एक करके विचार करेंगे, जिनका समावेश हिन्दी-गद्य-काव्यों में हुआ है।

ब्रह्म—ब्रह्म के सम्बन्ध में हिन्दी-गद्य-काव्यों में निम्नलिखित रूपों में विचार किया गया है: (१) ब्रह्म निर्गुण है, (२) ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी, (३) ब्रह्म विराट् और समस्त सृष्टि में व्याप्त है।

ब्रह्म निर्गुण है—शंकराचार्य के समय से निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा दर्शन में विशेष

रूप से हुई है। यों उपनिषदों में उसकी चर्चा पर्याप्त हो चुकी थी। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' कहता है कि वह साक्षीचेता होते हुए भी केवल और निर्गुण है।[१] 'माण्डूक्योपनिषद्' में उसे अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य आदि कहकर निरूपित किया गया है।[२] कबीर ने इसी ब्रह्म को 'मुख माथा रहित,' 'रूप कुरूप के परे,' 'पुहुपवास से पातरा' अनूप तत्त्व कहा है।[३] तुलसीदासजी ने भी ऐसी ही बात लिखी है।[४] सूर ने 'अविगत गति कछु कहति न आवे' कहकर भी इसी निर्गुण ब्रह्म की ओर संकेत किया है। हिन्दी-गद्य-काव्य में इसी से मिलती-जुलती बात यों कही गई है—"दृष्टिगोचर नहीं, गम्य नहीं, फिर भी तेरी केवल माधुर्य-भरी झलक पाने को भक्त अपना सर्वस्व निछावर कर देता है। पावन, फिर बता तो कैसी है वह तेरी अन्तर्ज्योति!"[५] ऐसे भगवान् की दूरादृत्त स्थिति को समझना, उसकी रीति-नीति को जानना कठिन कार्य है।[६]

ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी—यह सगुणोपासक भक्तों की मान्यता है। दर्शन ग्रन्थों में भी इसका विवेचन हुआ है कि ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। गीता में 'परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्' की घोषणा करके भगवान् ने अपने सगुण रूप में अवतरित होने की बात कही है। गीता में ही एक स्थान पर भगवान् के निर्गुण और सगुण रूप की विवेचना करते हुए कहा गया है कि वह ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है; परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित हैत था आसक्ति-रहित और गुणों से अतीत हुआ भी सबको धारण-पोषण करने वाला और भोगने वाला है।

वल्लभाचार्यजी ने कहा है कि ब्रह्म निर्दोष है और सर्वनिर्दोष 'अप्राकृत' गुणों से युक्त है। वह स्वतन्त्र है। और निश्चेतनात्म (जड़) शरीर के गुणों से रहित है। उसके कर, पाद, मुख आदि अवयव सर्वत्र हैं और आनन्द के बने हुए हैं।[७] तुलसीदासजी ने 'अगुन, अरूप, अलख, अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई' लिखकर उस निराकार की साकारता सिद्ध की है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में भी सीधे-सीधे यह कहा गया है कि ब्रह्म है तो निर्गुण, पर भक्तों के लिए सगुण होता है—"यद्यपि तू निर्गुण है तथापि स्वप्रेम स्थापित गुणावली का अविरोधात्मक गान सुनने से तुझे मेरे लिए सगुण होना पड़ेगा। मैं अपने हृदय के

---

१. 'साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च'—श्वेता०, ६।१।

२. अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिंत्यमव्यपदेश्यमेकात्म प्रत्यय सारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः। मांडूक्योपनिषद् ६।७।

३. जाके मुख माथा नही, नाहिं रूप-कुरूप।
पुहुप बास से पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप ।।कबीर।।

४. एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा ।।
अगुन अखण्ड अनंत अनादी। जेहि चिन्तहिं परमारथवादी ।।तुलसी।।

५. 'उन्मुक्ति', पृ० १; 'हृदय तरंग', पृ० २१।

६. सर्वेन्द्रिय गुणाभासं, सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
असक्तं सर्वं भृच्चैव, निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।गीता १।३१४।

७. निर्दोषं पूर्ण-गुण निग्रहं आत्मतन्त्रां, निश्चेतनात्मकं शरीरं गुणैश्च हीनः।
आनन्द-मात्रं कर पाद मुखोदरादि, सर्वत्र च त्रिविध भेद विवर्जितात्मा ।।
—तत्त्वदीप निबन्ध, 'शास्त्रार्थ प्रकरण', पृ० १३८।।

उद्गार निस्सरित करके प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में प्लावित कर दूँगा।"[१]

ब्रह्म विराट् और समस्त सृष्टि में व्याप्त है—ब्रह्म चाहे निर्गुण हो चाहे सगुण, पर वह समस्त सृष्टि में व्याप्त और विराट् है। जब वह सर्वव्यापी है तो वह निराकार भी होगा; क्योंकि आकार में एकदेशीयता आ जाती है और जो सर्वदेशीय है वह केवल एकदेशीय कभी नहीं हो सकता। इसलिए जहाँ ब्रह्म के रूप की चर्चा की गई है वहाँ उसका विशेष रूप न बताकर उसकी विश्वरूपता की ही चर्चा कर दी गई है। 'ऋग्वेद' के 'पुरुष सूक्त' में कहा गया है कि वह पुरुष सहस्र सिर, सहस्र आँख, सहस्र पाद, सारी पृथ्वी को यह चारों तरफ से घेरकर भी उससे दश अंगुल आगे बढ़ जाने वाला है।[२] 'मुण्डकोपनिषद्' में अग्नि को उसका सिर, चन्द्र-सूर्य को उसके नेत्र, दिशाओं को उसके कान कहा गया है। उसकी वाणी में वेद अभिव्यक्त हैं। वायु उसका प्राण है और उसके पैरों से पृथ्वी स्पष्ट है और वह सब प्राणियों में अन्तरात्मा रूप से विराजमान है।[३] 'श्रीमद्भागवत' में यशोदा ने कृष्ण के दूध पी चुकने पर जो चुम्बन लिया और कृष्ण ने जम्हाई ली तो उसे कृष्ण के मुख में आकाश, अन्तरिक्ष, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, द्वीप, पर्वत आदि सब दिखाई दिए।[४]

'श्रीमद्भगवद्गीता' के ११वें अध्याय में स्वयं भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट् स्वरूप के दर्शन कराए हैं।[५] महात्मा तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में 'लंकाकाण्ड' के अन्तर्गत मन्दोदरी द्वारा रावण को समझाने के लिए राम के विराट् स्वरूप का जो वर्णन कराया है, वह ऊपर की परम्परा में ही आता है। उसमें भगवान् को विश्वमय माना गया है।[६] हिन्दी-गद्य-काव्यों में भी इसी शब्दावली द्वारा ब्रह्म की विराट्ता का वर्णन हुआ है।

"सुदूर धुँधले प्रान्त से आती हुई ये नदियाँ किसके चरणों पर अत्यन्त अनुराग से लोटती हैं और उसे नित्य पखारती हैं? वह कौन राजाधिराज है? चन्द्र-सूर्य जिसके नेत्र हैं, मेघ जिसकी जुल्फें हैं तथा तारे मुकुट में जड़े हुए हीरे हैं, सारे लोग अपने-अपने स्थान पर ठहरे हुए जिसकी बृहद् सभा के सभासद् हैं। जिसका रौब सर्वातिशायी है। वायु अहर्निश जिसका चँवर डुलाता है? खगवृन्द साँझ-सवेरे जिसकी विरुदावली गाते हैं। और तब भी वहाँ कुछ कहने को शेष रहा जाता है। आकाश में गूँजता हुआ नाद जिसकी सभा में मांगलिक गान का काम देता है। विश्व की विभूतियाँ जिसके चरण चूमती हैं। न्याय जिसकी छड़ी, प्रेम जिसका मन और आनन्द जिसकी आत्मा है। जिसकी आँखों का खोलना

---

१. 'तरंगिणी', पृ० ३३।

२. सहस्रशीर्षा: पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सभूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥
—ऋग्वेद', पुरुष सूक्त॥

३. अग्निर्मूर्धा चक्षुषो चन्द्रसूर्यो, दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।
—मुण्डकोपनिषद् २।१:४॥

४. 'श्रीमद्भागवत', दशम स्कंध ७।३५:३६।

५. 'श्रीमद्भगवद्गीता', अध्याय ११।१०:४४।

६. 'रामचरितमानस', गीता प्रेस गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण, पृ० ८७५-८७६।

सृष्टि तथा उन्हें मूँद लेना कल्पान्त का प्रतियोगी है। जगत् जिसकी कार्यगत इच्छा का विस्तार-मात्र है, जो उसकी इच्छा पर बनता और बिगड़ता है। जिसकी आज्ञा सर्वत्र अनुल्लंघ्य है, संसार जिसके पैरों का दास है, आओ, हम सब पूर्ण प्रणय में उसके चरणों पर झुक जाएँ।"[१]

ब्रह्म की व्यापकता का वर्णन भी वेदों से लेकर आज तक बराबर होता आया है। 'ऋग्वेद' में कहा गया है कि वह एक है, अद्वितीय है, उसके साथ तथा समकक्ष रहने वाली वस्तु का अभाव है। अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता उसी के भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करने वाले हैं। वह एक ही है, परन्तु कवि लोग उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।[२] 'मुण्डकोपनिषद्' में समुद्र, पर्वत आदि सबमें उसकी उपस्थिति स्वीकार की गई है।[3] शंकराचार्यजी ने सब नाम, रूप और कर्मों को ब्रह्म द्वारा धारण करने की बात कही है।[४] 'एकोऽहं बहु स्याम' (तैत्तिरीय उपनिषद् २:६) का भी यही अभिप्राय है। कबीर ने 'साईं के सब जीव हैं, कीरी-कुञ्जर दोय' कहकर सबमें उसकी सत्ता को स्वीकार किया है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में इस भावना को यों व्यक्त किया गया है—

१. "कीरी से कुञ्जर और धूलि-कण से अनन्त आकाश एक ही सूत्र में बँधे हैं और सब सत्य को प्रकाशित करने के लिए एक ही भाषा का उपयोग करते हैं—जो कि लहर मर्मर ध्वनि करती है, वायु निःश्वास छोड़ती है, मनुष्य बोलता है और रमणी का हृदय मौन रहता है।"[५]

२. "तुम 'एक' होकर 'अनेक' में रमे हो प्रभु! 'अनेक बन' जा समाए एक 'प्रेम-परिधि' में, वही प्रेम, तुम्हारा मंगलमय स्वरूप है।"[६]

ब्रह्म की व्यापकता का वर्णन एक दूसरे प्रकार से भी हुआ है, जिसमें प्रकृति के उपादानों का विकसित और उल्लिखित होना उसीके हास-विलास द्वारा प्रेरित बताया जाता है। जैसे 'ऋग्वेद' में कहा गया है कि मनुष्यों की मधुर वाणी में वही बोलता है, पक्षियों के कलरव में वही चहकता है, विकसित पुष्पों के रूप में वही हँसता है, प्रचंड गर्जन तथा तूफ़ान में वही क्रोध-भाव को व्यक्त करता है, नभोमंडल में चन्द्र, सूर्य तथा तारों को वही तत्तत्स्थान पर स्थिर कर देता है : ('ऋग्वेद' १०।१२१।५५)[७] या उपनिषद् में कहा

१. 'मणिमाला', पृ० ५३।
२. इन्द्रं मित्रं, वरुणमग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णोगुरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
—ऋग्वेद १।१६४।४६ ॥
३. अतः समुद्रागिरयश्च सर्वे स्नात्स्यंन्दन्तेसिंधवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा औषधयोरसश्च येनैषभूतैस्तिष्ठतेह्य तरात्मा ॥
—मुण्डक० २।१:२ ॥
४. ब्रह्मै सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च।
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति श्रुतिजगौ ॥
—अपरोक्षानुभूति, पृ० १४।५० ॥
५. 'शारदीया', पृ० २१।
६. 'उन्मुक्ति', पृ० ६५।
७. 'भारतीय दर्शन', पृ० ६८।

गया है कि उसीके प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशित है।[1] उसी प्रकार हिन्दी-गद्य-काव्यों में प्रकृति के पदार्थों में उसकी झलक और उसके द्वारा सौन्दर्यमय होने का उल्लेख किया गया है—

१. "यह वही है, जो इन कलित कुंजों की कुसुमित कान्तावलियों की ओर से झाँका करता है। यह वही है, जो इन घने काले बादलों के पार झाँकी देकर मुसकराया करता है। यह वायुयान पर विहार करने वाला वही है, जिसका पवित्र स्पर्श पाते ही हमारे रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं। यह वही है, जो अखिल दृश्य जगत् के बाहर होकर अपनी बाँसुरी से औदासीन्य का सुर अलापता है, जिसके अनुभवगम्य होते ही सारी इन्द्रियाँ एक साथ झुक जाती हैं। यह वही है, जो इस विश्व के पट पर रंग-बिरंगे चित्रों को खींचा करता है, जिनके गोचर होते ही मैं अपने को खो बैठता हूँ।"[2]

"ज्योंही वह मुस्कराया, समस्त सृष्टि पुलकित हो उठी। निस्तब्ध आकाश उद्वेलित हो गया। धीर समीर में प्रकम्प होने लगा। कुसुम की कोमल कलियों पर रोमांच हो आया। लताएँ थिरकने लगीं। पाटल की पंखुड़ियाँ पसीज उठीं। कमलकोश से रस छलकने लगा। भौंरे अस्फुट ध्वनि से गूँजने लगे। पक्षी इधर-से-उधर उड़कर चहकने लगे। अधिक क्या, माधुर्य मुकुलित हो उठा। विकास विकसित हो गया और लावण्य बार-बार उस मुस्कराहट के कोमल स्पर्श को चूमने लगा।"[3]

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार करते हुए यद्यपि जीव और ब्रह्म दोनों की एकता ही अभीष्ट रही है, तथापि उसे दो प्रकार से व्यक्त किया गया है : १. ब्रह्म और जीव एक हैं। २. जीव ब्रह्म का अंश है।

ब्रह्म और जीव एक हैं—ब्रह्म और जीव की एकता का प्रतिपादन शंकराचार्यजी के अद्वैतवाद का प्रतिपाद्य है। उन्होंने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' कहकर जगत् की निस्सारता और ब्रह्म तथा जीव की एकता का समर्थन किया है। 'वृहदारण्यक उपनिषद्' के 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'छान्दोग्य उपनिषद्' के 'तत्त्वमसि', 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' आदि वाक्य ब्रह्म और जीव की एकता से ही सम्बन्ध रखते हैं। कबीरदासजी ने जल और कुम्भ के रूपक से ब्रह्म और जीव की एकता का स्पष्टीकरण किया है।[4] आधुनिक छायावादी कवियों में विद्रोही कवि निराला ने अपनी 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में ब्रह्म और जीव की एकता को नवीन शैली में अभिव्यक्त किया है।[5] महादेवीजी

१. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमाविद्युतोभान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभातिसर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति॥
—मुण्डक० २।२।१०।

२. 'मणिमाला', पृ० ५०।

३. 'अन्तर्नाद', पृ० २७।

४. जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कथौ गियानी॥ कबीर॥

५. तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग, और मैं चंचल गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास, और मैं कान्त कामिनी कविता॥ निराला॥

ने भी अपने एक गीत में ऐसा ही भाव व्यक्त किया है।[1] हिन्दी के गद्य-काव्यों में निराला और महादेवीजी की शैली को अधिक अपनाया गया है। जैसे—

१. "चकोरी चन्द्र की चन्द्रिका पान करने के लिए उस पर सर्वस्व न्यौछावर कर देती है, कमलिनी दिवापति के करों का स्पर्श-सुख पाने के लिए समग्र निशा शोकातुर रहती है। उपास्य और उपासक की ऐसी स्थिति सर्वत्र देखने में आती है। पर जल और उसकी तरंग, सूर्य और उसकी किरण, विद्युत् और उसकी चंचलता इनमें द्वैतता कैसी? इनमें उपास्यता और उपासकता कैसी?"[2]

२. "तुम और मैं दोनों एक ही प्रकार के तो दो किनारे हैं—एक ही आलाप की मूर्च्छना हैं। जब तुम्हारे और मेरे अधर एक ही रस में पड़े हैं, तो प्रेम किसका, किसकी साधना? तुम और मैं तो एक ही नशे का चढ़ना-उतरना है—एक ही स्वरूप का विराट् और सूक्ष्म प्रदर्शन।"[3]

इसके अतिरिक्त इस तथ्य की ओर भी संकेत किया गया है कि जीव चाहे कितने ही रूपों में क्यों न विचरण करता रहा हो, वह अनन्त का साथी सदा उसके साथ रहा है।[4] एक गद्य-गीत में यह भी कहा गया है कि जैसे जलधर के साथ विद्युदग्नि रहती है वैसे ही प्रभु भी जीव के साथ रहता है, पर उसका पता उसे नहीं रहता।[5]

जीव ब्रह्म का अंश है—'वेदान्त सूत्र' में 'अंशो नाना व्यपदेशात्' कहकर जीव को ब्रह्म का अंश माना गया है।[6] गीता जीव को उसी परब्रह्म का सनातन अंश स्वीकार करती है।[7] 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में कहा गया है कि बाल को सौवें भाग के सौ भागों में काटें तो जीव की स्थिति समझ में आ सकती है और वह ब्रह्म अनन्त है।[8] श्री वल्लभाचार्य ने जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म के चिद् अंश से असंख्य निराकार जीव निकले। उसी ब्रह्म के सद् अंश से जड़ प्रकृति और आनन्दांश से उसके अन्तर्यामी रूप

---

१. चित्रित मैं हूँ रेखा क्रम,
मधुर रमा तू मैं स्वर-संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय,
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या?
तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या॥ महादेवी॥

२. 'मणिमाला', पृ० ५२।

३. 'वेदना', पृ० १६।

४. 'चरणामृत', पृ० २६।

५. 'साधना', पृ० १०६।

६. 'वेदान्त सूत्र', अध्याय २, पाद ३।

७. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः॥ गीता १५।७॥

८. बालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः सचाऽऽनन्त्याय कल्पते॥श्वेता० ५।८।६॥

निकले।[१] 'माण्डूक्योपनिषद्' में भी ऐसा ही कथन है।[२] तुलसीदास ने 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' कहकर जीव को ब्रह्म का अंश माना है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में वल्लभाचार्य की शब्दावली के प्रयोग द्वारा जीव को ब्रह्म का अंश माना गया है। जैसे—

१. "अग्नि स्फुलिंग के सम मेरी आत्मा तुझसे पूर्ण प्रकाशित है, ज्योतिर्मय ! मायाविनी नटिनी का यह खेल फिर क्यों ? अदृश्य का आवरण भेद। मेरे मंगलमय ! सर्वत्र आनन्दोर्मियाँ हिलोरें लें और मेरा चेतन तुझमें समाये—'पूर्ण' हो।"[३]

२. "तुम अग्नि हो तो मैं उससे प्रकट होने वाला स्फुलिङ्ग तुम दरिया हो तो मैं उसके बीच रमने वाली मौज, तुम दीपक हो तो मैं उसकी लौ, तुम चन्दन हो तो मैं उसकी सुगन्ध।"[४]

लेकिन अंशाशी भाव के गद्य-काव्यों की ध्वनि एकाकी ही निकलती है, जैसे कि ऊपर के दूसरे उदाहरण में आरम्भ में स्फुलिङ्ग की बात कही गई है परन्तु अन्त में ऐक्य-विधायक शब्दावली आ गई है। ऐसे ही अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। कुछ गद्य-काव्यों में स्पष्ट रूप से यह बात कही गई है कि जीव ब्रह्म से बहुत काल से अलग हो गया है और वह माया-जाल में फँसा है, अतः ब्रह्म से अपने को दूर समझता है तथा उसके स्वरूप का दर्शन करने में असफल रहता है।[५] अज्ञानावरण के कारण जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, यह चिर-परिचित सत्य है।

जगत्—जगत् के सम्बन्ध में मुख्य रूप से पाँच प्रकार से विचार किया गया है : (१) जगत् असत्य या माया है, (२) जगत् सत्य है, (३) जगत् सुख-दुःखमय है, (४) जगत् सराय या नाट्यशाला है, (५) जगत् परिवर्तनशील है।

जगत् असत्य या माया है—जगत् को असत्य और माया कहना शंकर के अद्वैत-वादी दर्शन का परिणाम है। जगत् के सम्बन्ध में शंकर के मत का विवेचन करते हुए श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—"जिस प्रकार इन्द्रजालिक अपनी माया-शक्ति द्वारा विचित्र सृष्टि करने में समर्थ होता है वही दशा ईश्वर की भी है।[६] जादू उन्हीं लोगों को व्यामोह में डाल सकता है जो उस इन्द्रजालिक के रहस्य को नहीं जानते हैं; परन्तु उसके रहस्यवेत्ता पुरुषों के लिए वह इन्द्रजाल व्यामोह का विषय नहीं होता। ठीक इसी प्रकार

---

१. विस्फुलिङ्गा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि।
आनन्दांश स्वरूपेण सर्वान्तरयामि रूपिणः ॥
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, पृ० ९२ ॥

२. तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सौम्य भाषाः प्रजायन्ते तत्र चैवापदन्ति ॥
—मुण्डको० २।१।१।

३. 'उन्मुक्ति', पृ० ६१।

४. 'शबनम', पृ० ५।

५. 'वेदना'; पृ० ८४; 'मौक्तिक माल', पृ० ६१।
'साधना', पृ० ४५; 'वेदना', पृ० ४।

६. 'मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया'।—दक्षिणा मूर्तिस्तोत्र, श्लोक २२।

यह जगत् अद्वैत सत्ता से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए ही अपनी सत्ता बनाये रहता है, परन्तु अद्वैत तत्त्व के ज्ञानियों के लिए उसकी सत्ता निराधार और निर्मूल है।[१] गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी 'विनय-पत्रिका' में संसार को 'जेवरी कौ साँप' तथा 'मृगवारि' कहा है।[२] नीचे के उदाहरणों में शंकर की विचार-धारा ही प्रतिफलित हुई है—

१. "इतिहास प्रमाणों को हथेली पर रखे भूलोक में पुकार-पुकारकर मनुष्य की जीवनी के पृष्ठ पाठ कर रहा है—मूर्खो ! संसार असत्य है, निस्सार है, नश्वर है; उसकी हर वस्तु असत्, सभी व्यवस्थाएँ मिथ्या एवं काल्पनिक हैं। यथार्थ तो यह है कि सृष्टि का मर्म ही नश्वरता की नींव पर खड़ा है।"[३]

२. "जिसके पाणि-पंकज पर हमारे जीवन के चल-चित्र अंकित हैं, उससे मिलने जाना है फिर हमने माया के लाक्षा गृह को ही अपना आदि और अन्त क्यों मान लिया है ?"[४]

३. संसार के झूठे संगीतो ! अपनी तान रोक दो, जिससे मैं जीवन का अनन्त संगीत सुन सकूँ।"[५]

४. "इस सैकत-तीर से दूर, बहुत दूर पिता का आवास है। प्रत्येक यात्री को इस उत्तप्त और निर्जन मरु-विस्तार को लाँघना पड़ेगा।"[६]

५. "कहीं-कहीं जगत् को गँदले पानी की झील, काँटों की बाड़ी और मृग-मरीचिका भी कहा गया है।"[७]

जगत् सत्य है—'बृहदारण्यक उपनिषद्' में जगत् को सत्य मानते हुए कहा गया है कि यह नामरूपात्मक जगत् सत्य से उत्पन्न होने के कारण सत्य ही है[८], वैष्णव आचार्य तो जगत् की सत्यता में पूर्णरूप से विश्वास करने वाले हैं। श्री रामानुज के अनुसार ब्रह्म को ईश्वर माना गया है। संसार की रचना वह लीला के प्रयोजन के लिए करता है। संहार-दशा में भी लीला की विरति नहीं होती; क्योंकि संहार भी उसी की एक लीला है। वे जीव और जगत् दोनों को नित्य मानते हैं और सृष्टि-प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूल तथा सूक्ष्म रूप धारण करने से है। शरीरभूत जीव और जगत् उससे भिन्न और नित्य होने से वे तीन पदार्थ मानते हैं। लेकिन ब्रह्म अद्वैत रूप है, क्योंकि अंगभूत चिदचिद् की अंगी से पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती।[९] श्री वल्लभाचार्य के अनुसार कनक, कामधेनु, कल्पवृक्ष,

१. 'भारतीय दर्शन', पृ० ४।
२. 'विनय-पत्रिका'।
३. 'हृदय तरंग', पृ० ६६।
४. 'शारदीया', पृ० २०।
५. 'चित्रपट', पृ० २६।
६. 'निशीथ', पृ० ६।
७. 'पूजा', पृ० ६, १५, ७३।
८. द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तंचैवामूर्तंच मर्त्यंचामृतं च यच्च, सच्च, त्यच्च। अथ नाम धेयं सत्यस्य सत्यमिति। प्राणाः वै सत्यं तेषामेष सत्यम्॥ बृहदारण्यक, २।३।१६।
९. 'भारतीय दर्शन', पृ० ४८८-४९०।

चिन्तामणि आदि के समान निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अधिकृत भाव से जगद्रूपेण परिणत होता है। जिस प्रकार कुण्डलादि रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं होता, उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता।[1] गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है कि "हे धनंजय, मुझसे परे अथवा मेरे सिवाय और कोई वस्तु नहीं। यह सम्पूर्ण जगत् धागे में पिरोई मणियों के समान मुझमें गुँथा हुआ है।"[2] इसे जो असत्य कहते हैं वे अनीश्वरवादी हैं।[3] अन्यथा कारण ब्रह्म और कार्य जगत् दोनों सत्य हैं।[4] श्री चैतन्य स्वामी जगत् को सत्य संकल्प सर्वविद् हरि की बहिरंग शक्ति का विलास मानते हुए इसे नितरां सत्यम्भू मानते हैं।[5] हिन्दी में श्री श्रीधर पाठक ने 'जगत् सचाई सार' नामक एक कविता लिखी है, जिसमें बताया गया है कि यदि सृष्टि की सुन्दरता को ध्यान से देखा जाए तो पग-पग पर उस प्रभु के कौशल का दर्शन होगा।[6] इस प्रकार जगत् को सत्य मानने की परम्परा भी वैसी ही पुरानी है, जैसी उसे असत्य मानने की। हिन्दी-गद्य-काव्यों में वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों के अनुकूल जगत् को सत्य माना गया है। कहीं-कहीं तो शब्दावली ही उनकी उठाकर रख दी गई जान पड़ती है।

"नटनागर! जिसे वे माया कहते हैं, उसे मैं तुम्हारी लीला कहूँगा। जिससे वे भयभीत होते हैं, मैं उसी की असीम स्नेहमयी गोद में खेलूँगा।

तुम्हारी लीला को मैं असत् कैसे मान सकता हूँ? यह कैसे सम्भव हो सकता है जगदाधार! कि तुम सद्रूप समझे जाओ और तुम्हारी लीला असत्? तुम्हारी लीला को मैं असत् कैसे कहूँ; यह कैसे मान्य हो सकता है? अखिल बोधेश्वर! कि तुम चिद्रूप कहे जाओ और तुम्हारी लीला अचित्? तुम्हारी लीला को मैं निरानन्द कैसे कह सकता हूँ? यह कैसे घटित हो सकता है, रस-निलय! कि तुम आनन्द-रूप कहे जाओ और तुम्हारी लीला निरानन्द।"[7]

भगवान् इस विश्व के नियन्ता हैं, अतः यह माया नहीं हो सकता; यह विश्व तो उसीकी विराट् मूर्ति है अतः वह सत्य है।[8] प्रकृति-सौन्दर्य के रूप में उसकी कृपा का दान प्राप्त कर उसके साथ-साथ जगत् की सत्यता का भी भान होता है[9] आदि तर्कों द्वारा बार-बार जगत् की सत्यता सिद्ध की गई है।

---

१. 'भारतीय दर्शन', पृ० ५१८।

२. मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव॥ गीता ७।७।

३. असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्॥ गीता १६।८॥

४. कार्यस्य कारणादन्यत्वं न मिथ्यात्वम्। अणुभाष्य पाद १०, सूत्र १४, पृ० ५७।

५. 'भारतीय दर्शन', पृ० ५२५।

६. ध्यान लगाकर जो देखो इस सृष्टी की सुघराई को।
बात-बात में पाओगे उस ईश्वर की चतुराई को॥ श्रीधर पाठक॥

७. 'भावना', पृ० ५२-५३।

८. वही, पृ० ३८।

९ 'चरणामृत', पृ० ३३।

जगत सुख-दुःखमय है—यह भावना लोक-सामान्य है। गोस्वामीजी ने 'जड़-चेतन गुण, दोषमय विश्व कीन करतार' लिखकर इसी भावना को व्यक्त किया है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में इसकी प्रतीकात्मक व्यंजना यों हुई है—

"संसार एक सुन्दर उद्यान है। इसमें फूल भी हैं और काँटे भी। फूलों से लोग प्यार करते हैं—किन्तु काँटों से उनके हाथ छिद जाते हैं। फूलों की मुस्कराहट देखकर वे उन्हें तोड़ना चाहते हैं किन्तु हाथ लगाते ही उनकी आँखों से आँसू गिर पड़ते हैं।"[1]

संसार सराय या नाट्यशाला है—कबीरदासजी ने 'रहना नहिं देश बिराना है' लिखकर इस संसार को सराय की भाँति कुछ समय बिताने का स्थान माना है। नाटक में जैसे मनुष्य दूसरे का रूप ले लेता है वैसे ही संसार में वह आत्मस्वरूप को भूलकर दूसरा ही रूप ले लेता है। यह सब उसी नटनागर की इच्छा का परिणाम है। यह भी ध्यान रखने की बात है। विद्यारण्य-कृत 'पंचदशी' में जगत् का रंगशाला 'नाट्य-शाला' के रूप में विस्तृत वर्णन मिलता है। गद्य-काव्यों में किस प्रकार ये भावनाएँ आई हैं इसके लिए एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

१. "नाथ, तुम्हारा आदेश लेकर मैं उस दिन इस सराय में उतरा था। इस सराय का नाम जानता नहीं क्या है ? पता नहीं, तब से यहाँ कितने पथिक आये और कितने यहाँ से चले गए।"

२. "नटनागर ! क्या 'रंगमंच' पर मेरा अभिनय अब तक पूरा नहीं हुआ ? मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि मेरा अब यहाँ कुछ काम नहीं। यह जानकर कि मैंने अपना अभिनय बहुत गहन रूप से पूरा किया। मैं बहुत लज्जित हूँ, पर किसी तरह हो, मैं अब और रहकर भला क्या करूँगा।"[2]

जगत् परिवर्तनशील है—यह बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद की धारणा है। जगत्, समाज और मनुष्य सभी को बौद्ध दर्शन में क्षण-क्षण परिवर्तनशील घोषित किया गया है। अनित्यता उसका अपवाद-रहित सिद्धान्त है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'दर्शन-दिग्दर्शन' नामक ग्रन्थ में बौद्ध दर्शन के प्रकरण में लिखा है—"बुद्ध का अनित्यवाद भी, 'दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है' के कहे अनुसार किसी एक मौलिक तत्त्व का बाहरी परिवर्तन-मात्र नहीं, बल्कि एक का बिलकुल नाश और दूसरे का बिलकुल नया उत्पाद है।"[3] इसका अभिप्राय यह है कि जो वस्तु इस क्षण है, वह दूसरे क्षण इस क्षण से नितान्त भिन्न रूप में सम्मुख आएगी। हिन्दी-गद्य-काव्यों में जगत् की गतिशीलता का दर्शन इसी अनित्यवाद अथवा क्षणिकवाद की दृष्टि से हुआ है—

"संसार क्या है ?" मेरे मन ने मुझसे कहा, "संसार एक प्रकार की महागति है। केवल 'गति' और कुछ नहीं। सूर्य, चन्द्र, तारे सभी किसी अलक्ष्य की ओर जा रहे हैं। दिन-रात रूपी दो पैरों से समय भागा जा रहा है। अणु-परमाणु गतिवान हैं। जीवन यौवन, सुख-दुःख, मरण सभी में एक प्रकार की गम्भीर तथा मनोरम गति है। सारा संसार

---

१. 'मणिमाला', पृ० ५।
२. 'तरंगिणी', पृ० ११५।
३. 'दर्शन-दिग्दर्शन,' पृ० ५१४।

केवल गति है और कुछ नहीं।"[1]

इनके अतिरिक्त संसार को मनुष्य का कल्याण करने वाला कहा गया है क्योंकि उससे आत्म-साक्षात्कार की उत्कट लालसा पैदा होती है।[2] एक स्थान पर संसार को ऊपर से झूठा पर भीतर से किसी महत् उद्देश्य का साधक बताया गया है।[3] यह आधुनिक दृष्टि है।

जीवन—जीवन के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचार-धाराएँ हैं—१. जीवन अनन्त है। २. जीवन क्षणिक है।

जीवन अनन्त है—'गीता' में आत्मा के अमरत्व की घोषणा इस विचार-धारा का मूल है। उसमें कहा गया है कि यह आत्मा किसी काल में न जन्मता है, न मरता है अथवा न यह आत्मा हो करके फिर होने वाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी यह नाश नहीं होता।[4] जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग-कर नये दूसरे शरीरों को धारण करता रहता है[5], ठीक ऐसी ही बात हिन्दी-गद्य-काव्यों में जीवन की अनन्तता के सम्बन्ध में कही गई है—

१. जीवन अनन्त है और पाप एक अज्ञात भय और रौरव की भीषण यन्त्रणा केवल कपोल-कल्पित सत्य है।[6]

२. जीवन तो न कभी मिलता है और न कभी खोता है। अनन्त काल से मैं इस जीवन मैं जलता जा रहा हूँ। सुख-दुःख ही जीवन के दो खेल हैं—एक मुस्कराहट है और एक आँसू।[7]

पहले उदाहरण में पाप को एक अज्ञात भय और रौरव की भीषण यन्त्रणा को कपोल-कल्पित तथा दूसरे उदाहरण में सुख-दुःख की जीवन में संगति मिलाकर कथनों को पूर्णता दे दी गई है।

जीवन क्षणिक है—यह कबीर आदि सन्तों के प्रभाव से आई हुई विचार-धारा है। सांसारिक वैभव पर गर्व करने वाले व्यक्ति को सम्बोधित करके ही कबीर ने मानव-जीवन को पानी का बुलबुला और प्रभात का तारा कहा था।[8] हमारे गद्य-काव्यों में जीवन की क्षणभंगुरता का चित्र इन्हीं शब्दों में खींचा गया है।

---

१. 'धुँधले चित्र', पृ० १०५।
२. 'तरंगिणी', पृ० ११५।
३. 'पूजा', पृ० ४७।
४. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ गीता २।२० ॥
५. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ गीता २।२२ ॥
६. 'मौक्तिक माल', पृ० ११७।
७. 'चरणामृत', पृ० ६०।
८. पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात ॥ 'कबीर-ग्रन्थावली', पृ० ७३ ॥

जीवन काल के बहते दरिया के वक्ष पर खिलने वाला फूल है। पंखुड़ियों पर चमकने वाला शबनम का कतरा है, सान्ध्य-गगन को दीप्त करते वाला तारक चूर है, रंगे-शफक है जो अंशुमाली के उदय होते ही मिट जाता है।[1]

२. मानव-जीवन क्या है ? क्षण-भंगुर ! निरा कच्ची मिट्टी का घड़ा।[2]

इन विचार-धाराओं के अतिरिक्त जीवन के सम्बन्ध में अन्य प्रकार से भी विचार किया है। एक गद्य-गीत में जीवन को पक्षी के समान बताया गया है, जो असंख्य उद्भ्रान्त कल्पनाओं के पंखों पर उड़कर भी चिदाकाश के जीवन ज्योतिर्मय वायु-मण्डल में नहीं पहुँच सका हो।[3] इसमें 'ईशोपनिषद्' के उस मन्त्र के भावों की छाया-सी जान पड़ती है, जिसमें जीव और ब्रह्म को लक्ष्य करके इस प्रकार कहा गया है कि सुन्दर पंखों वाले सदा साथ रहने वाले दो मित्र-पक्षी हैं, जो समान वृक्ष का सेवन करने वाले हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट पिप्पली खाता है और दूसरा बिना खाए हुए भी सुशोभित हो रहा है।[4]

एक गद्य-गीत में जीवन को पञ्च-तत्त्वों का क्रम से संगठन कहा गया है।[5] यह चार्वाक-दर्शन के प्रभाव का परिणाम है। एक उर्दू शायर ने भी ऐसी ही बात कही है।[6] जीवन को खेल,[7] मधुर स्वप्न,[8] मदिरा[9] आदि उसकी भंगुरता को देखकर दिये हुए नाम हैं, जिनके सम्बन्ध में सन्तों की छाया का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

मृत्यु—मृत्यु को भी दो रूपों में देखा गया है—१. मृत्यु शान्तिप्रदायिनी है। २. मृत्यु कष्टप्रद है।

मृत्यु शान्ति-प्रदायिनी है—वाग्वैदग्ध्य के लिए साधारण जगदनुभूति के विरुद्ध विरोधाभास की झलक देकर वस्तु-वर्णन का विधान कवियों की प्राचीन पद्धति है। (यथा—तदेजति तन्नैजति) यों गीता में 'वासांसि जीर्णानि' वाले श्लोक में मृत्यु एक सुखद परिवर्तन के रूप में स्वीकृत की गई है, पर वह सुखद है, स्वागत-योग्य है, ये विचार रविबाबू की 'गीताञ्जलि' से ही अधिक प्रचार में आए हैं। 'गीताञ्जलि' में वे कहते हैं—"जब मृत्यु तुम्हारे द्वार खटखटाएगी, तब तुम उसे क्या भेंट दोगे ? अरे ! मैं अपने अतिथि के आगे अपने जीवन का भरा पात्र रख दूँगा। मैं उसे रिक्त-हाथ कभी नहीं जाने दूँगा। जीवन की सब उपार्जित और एकत्रित सम्पत्ति, हेमन्त के सब दिवसों तथा वसन्त

---

१. 'शबनम', पृ० ४६।

२. 'उन्मुक्ति', पृ० ५।

३. 'वेदना', पृ० ५४।

४. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्व जाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वद्वत्ति, अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति॥

५. 'दुपहरिया के फूल', पृ० १२।

६. जिन्दगी क्या है अनासिर का जुहूरे तरतीब।
मौत क्या है इन्हीं अजज़ा का परेशाँ होना॥ अज्ञात॥

७. 'अन्तस्तल', पृ० १७६।

८. 'उन्मुक्ति', पृ० ५।

९. 'वेदना', पृ० २०।

की रात्रियों के सब फल-फूल उसके आगे रख दूँगा।"[१]

हिन्दी गद्य-काव्यों में यही विचार-धारा यों अभिव्यक्त हुई है :

"मृत्यु ! तुझसे बढ़कर संसार में मेरा कौन है, तू मुझे अनन्त जीवन प्रदान करेगी। जब संसार मुझे छोड़ देता है तब तू मुझे अपनाती है और मुझे जर्जरित-पञ्जर से छुड़ाकर नये-नये दृश्य दिखाती है। आधि-व्याधि की असीम यातना से छुड़ाने के लिए तू ममता के मारे चिर-शान्ति का विशाल वितान तानती है। जब-जब तू मेरे पास आई है तब-तब मैं ललककर तुझसे मिला हूँ और अपने प्रेम की पूरी परीक्षा दे चुका हूँ। तूने उसमें मुझे पक्का पाया है और पल में क्या, इस बार तू सदैव के लिए मुझे बन्धन-विमुक्त कर देगी ?"[२]

मृत्यु का वर्णन गद्य-गीतों में इसी रूप में अधिक हुआ है और उसे जीवन का अनन्य सखा और चिर आकर्षण कहकर उसका स्वागत किया गया है।[३] मृत्यु से मनुष्य के लिए प्रियतम का असाध्य प्रेम सधी हुई पूजा हो जाता है, इसलिए वह जीवन-माधवी से भी बढ़कर है।[४] उससे मित्रता जोड़ने से त्रिताप से मुक्ति और चिर-शान्ति प्राप्त होती है।[५]

मृत्यु कष्टप्रद है—मृत्यु की भयंकरता का वर्णन उपनिषदों में आया है। 'केनोपनिषद्' में इसे 'महती विनष्टि' कहा गया है।[६] कबीर ने 'काल कौ अंग' में लिखा है कि काल (मृत्यु) रूपी बाज़ नर-रूपी चिड़े के ऊपर घात लगाए है और वह उसे आज या कल बिना अवसर और बिना जानकारी के ही मार देगा।[७] प्रसाद ने अपनी 'कामायनी' में मृत्यु के सहसा आगमन को 'महानृत्य का विषम सम' और उसकी नाशक शक्ति को 'अखिल स्पन्दनों की माप' कहकर उसे सृष्टि का अभिशाप बताया है।[८] मृत्यु के कारण मनुष्य की सब इच्छाएँ और अभिलाषाएँ अधूरी रह जाती हैं, यह सामान्य अनुभव की बात है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में इसी भावना को लेकर मृत्यु को भयंकर और कष्टप्रद लिखा गया है—

१. "हरे राम ! तुझे दया नहीं है। कैसी निठुर है मूर्तिमती हत्यारी ! ऊपर क्यों चढ़ी आती है ? ना-ना, छूना मत। हाथ मत लगाना ! छूते ही मर जाऊँगा। हाय ! हाय !! सब यहीं रहे ! मैं अकेला चला। कुछ भी पहले से मालूम होता तो तैयारी कर

---

१. 'गीतांजलि', ९०वाँ गीत।
२. 'साधना', पृ० १०६।
३. 'चित्रपट', पृ० ८४।
४. 'मौक्तिक माल', पृ० १०९।
५. 'वंशीरव', पृ० ५८।
६. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि॥ केनोपनिषद् २।१३।
७. आज कि काल्हि कि निसि हमें, मारगि माल्हन्ता।
काल सिचाणां नर चिड़ा, औझड़ औच्यन्ता॥ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६२॥
८. महा नृत्य का विषम सम अरी, अखिल स्पन्दनों की तू माप।
तेरी ही विभूति बनती है, सृष्टि सदा होकर अभिशाप॥
'कामायनी', सप्तम संस्करण, पृ० १९।

लेता। भगवान् का नाम जपता, पुण्य-धर्म करता। कुछ भी न कर पाया। विश्राम के स्थल पर पहुँचकर एक साँस भी अघाकर न ली कि डायन आ गई। हे भगवान्! हे विश्वम्भर! हे दीनबन्धु! हे स्वामी! हा नाथ! हे नाथ! हे नाथ! तुम्हीं हो—तुम्हीं हो—तुम्हीं!"[1]

लेकिन यह मृत्यु मुक्त पुरुषों से हारी है, इस बात का भी चित्रण हुआ है और यह चित्रण अपनी दार्शनिक परम्परा के अनुकूल है। जैसे 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में कहा गया है कि "ब्रह्मर्षि और देवता उन सब भूतों में व्याप्त विश्वाधिप का ध्यान करके मृत्यु-पाश को छिन्न-भिन्न कर देते हैं।"[2] उसी प्रकार हिन्दी-गद्य-काव्यों में कहा गया है कि मुक्त पुरुष अमर होते हैं और अमरत्व प्राप्त करना मृत्यु को पराजित करना है :

"क्या तू भूल नहीं करती? तू सर्वदा दूसरों के अस्तित्व को मिटाने के लिए ही प्रयत्न करती आई है। तेरे गर्व की साँसों ने न जाने कितने जगमगाते हुए दीपक बुझा डाले! परन्तु कहीं-कहीं तूने भी पराजय देखी है? क्या तूने सावित्री के सतीत्व से पराजय नहीं पाई? अथवा प्रह्लाद से हार नहीं खाई? भला धूल पोंछकर कौन अपनी चोट सहलाता है! फिर भला तू!.........हा! तू ठोकर खाकर भी न सँभल सकी। अपना पथ न समझ सकी। तूने अमर बना छोड़ा। रवि ठाकुर का—यह अमरत्व क्या सर्वदा के लिए तुझसे मुक्त नहीं?"[3]

मृत्यु के पश्चात् पाप-पुण्य का लेखा लिया जाएगा, इस पौराणिक मान्यता का भी उल्लेख हुआ है। यों मृत्यु के सम्बन्ध में दार्शनिक और पौराणिक दोनों प्रकार की विचार-धाराओं का समावेश हिन्दी-गद्य-काव्यों में हुआ है।

स्वर्ग—सभी धर्मों में स्वर्ग की कल्पना की गई है। इस जीवन की कटुता और पीड़ा से छुटकारा पाने की इच्छा ने ही इस कल्पना को जन्म दिया है। 'ऋग्वेद' में स्वर्ग की कल्पना करते हुए लिखा है कि वहाँ चारों ओर सुन्दर-सुन्दर जलाशय हैं। विष्णु के उस परमापद में शहद के निर्झर बह रहे हैं। देवों के उपासक वहाँ मौज करते हैं।[4] 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि स्वर्ग में किसी प्रकार का भय नहीं है और न वहाँ मनुष्य भूख-प्यास से दुखी होता है।[5] कबीरदासजी ने उस देश का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'श्रीमद्भागवत' के द्वितीय स्कन्ध में ब्रह्म-लोक का विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ बारहों महीने वसन्त रहता है, प्रेम का निर्झर झरता है, कमल विकसते हैं और तेज-पुन्ज का प्रकाश होता है। वहाँ सन्त महा अमृत की वर्षा में भीगते हैं। वहाँ जाति-वर्ण नहीं है और परब्रह्म

१. 'अन्तस्तल', पृ० ६३।

२. स एव काले भुवनस्य गोप्ता, विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढ़ाः।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेव ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनन्ति ॥ श्वेता० ४।१५ ॥

३. 'हृदय-तरंग', पृ० ४१; 'तरंगिणी', पृ० ७९।

४. तदस्य प्रियमभिपाथो अश्यां नरो, यत्र देवयवो मदन्ति।
उरूक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥
'ऋग्वेद' १।१५४।५ ॥

५. स्वर्गे लोके न भयं किंचिदस्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ 'कठोपनिषद्' १।१।१२ ॥

की आनन्द-क्रीड़ा चल रही है। वहाँ अगम्य का दीपक विना बाती और तेल के जल रहा है।[1] सूरदासजी ने भी इसी भावना को व्यक्त किया है।[2] हिन्दी के गद्य-काव्यों में इसी परम्परा का विकास हुआ है।

१. मित्र ! जहाँ नदियों में अमृत का जल हो, और स्वर्ण के सैकत और कुंकुम का पंक हो, वही हमारा देश समझो ! जहाँ सत्य और कल्पना में भेद मिट जाता है, जहाँ अभिलाषा के तरु इच्छा-मात्र में फल जाते हैं और उन्हें तृप्ति का कीट नहीं काट गिराता, वही हमारा मनोहर देश है।

सौम्य ! जहाँ अनन्त जीवन, अक्षय यौवन और अपरिमित सुख की सामग्रियाँ बनी रहती हैं, वही हमारा निराला देश है।

२. चलो प्रेमी उस देश को, जहाँ ऊषा की स्वर्णिमा प्रभात को रक्त-रंजित न करे, विहग-बालाएँ कलगान कर रत्नगर्भा विष्णुपत्नी को न जगाएँ, ऋतु की उष्णता यौवन में वासना भर उसे विषैला न बनाए। संसार की परिसीमित दृष्टि में पावन प्रेम की अवज्ञा न हो, बुर्दाफरोश बाजारों में सौन्दर्य का सौदा न करें और चिरमिलन की शान्ति में वियोग की कल्पना न हो।[3]

यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जैसे दूसरे उदाहरण 'पावन प्रेम की अवज्ञा' और 'बाज़ारों में सौन्दर्य का सौदा' की बात वर्तमान सामाजिक जीवन की यथार्थता को व्यक्त करती है और जैसे इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए ही प्रेमी से 'उस देश' को चलने का आग्रह है वैसे ही वर्तमान भौतिक सभ्यता और सत्ताधारियों की स्वार्थमयी राजनीति से ऊबकर भी 'उस प्रदेश' में जाने की कल्पना की गई है, जैसे—

"मैं उस प्रदेश को चल दूँगा, जहाँ सत्यवती नदी के सतत प्रवाह से विवेक-धान्य-सम्पन्न भूमि हरी-भरी रहती है, जहाँ भौतिकता, सभ्यता और जड़ विद्वत्ता के अनुसंधान हिमालय के वक्ष से टकराते हुए मेघों की नाईं छिन्न-भिन्न होते हैं, जहाँ की वायु में सत्ताधारियों की स्वार्थमयी वार्ता का एक भी शब्द नहीं सुनाई देता है, जहाँ के द्वार दिन-

१. हम वासी उस देश के जहँ बारह मास विलास।
प्रेम करैं विकसैं कँवल, तेज पुञ्ज परकास॥
हम वासी उस देश के, जहँवा नाहिं वसन्त।
नीझर झरै महा अमी, भीजत हैं सब सन्त॥
हम वासी उस देश के, जहाँ जाति-बरन कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होय रहा, देश मिलावा नाहिं॥
हम वासी वा देश के, जहाँ पारब्रह्म का खेल।
दीपक जरै अगम्य का, बिन बाती बिन तेल॥ कबीर॥

२. चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहाँ भ्रम निशा होति नहिं कबहूँ यह साचा सुख जोग॥
जहाँ सनक से मीन हंस शिव मुनिजन नख रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि उर, गुञ्जत निगम सुबास॥
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि भुजंगम, इहाँ कहा कहि कीजै॥ सूरदास॥

३. 'मणिमाला', पृ० ८०।

रात खुले रहते हैं, जहाँ भेद में अभेद और जड़ में चैतन्यता की झलक दिखाई देती है।"[१]

मुक्ति—जीवन का परम पुरुषार्थ मुक्ति है, यह बात हमारे दर्शन-शास्त्रों और धार्मिक ग्रंथों में एक स्वर से दुहराई गई है। यह मुक्ति क्या है? 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि जब हृदय की समस्त कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब मनुष्य को अमरत्व की प्राप्ति होती है।[२] उपनिषद् में असत् से सत्, तम से प्रकाश और मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने की प्रार्थना की गई है।[३] 'न्याय-दर्शन' की दृष्टि से मुक्त आत्मा के स्वरूप का वर्णन अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित और अखिल गुणों से विरहित रहता है।[४] 'मीमांसा-दर्शन' की दृष्टि से इस जगत् के साथ सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है।[५] वस्तुतः मुक्ति में आत्मा का विस्तार हो जाता है और वह जड़ता के समस्त बन्धनों से छूट जाती है। आत्मा परमात्मा-रूप होकर अनन्त आनन्द और अनन्त प्रकाश में विचरण करता है। कबीरदासजी ने इस दशा को यह कहकर व्यक्त किया है कि मुक्त आत्मा सीमा को छोड़कर असीम में प्रवेश करती है और असीम रूपी मैदान में ही सोती रहती है।[६]

हिन्दी-गद्य-काव्य में भी मुक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसी ही बातें कही गई हैं:

१. "सारे संकुचित घेरों के मिट जाने से चित्त को प्रसाद और नैर्मल्य प्राप्त हुआ तथा विश्वात्मा का एक अंश-मात्र स्वात्मा अपने पूर्व रूप में अन्तर्हित हो जाने पर विश्वरूप में चमक उठा।"[७]

२. "बड़ा मजा है, बड़ा आनन्द है, बड़ा सुख है। कभी नहीं मिला था। मानो मैंने स्नान किया है। या! ठहरो सोचने दो, कुछ भी समझ में नहीं आता! मानो तंग कोठरी से निकलकर स्वच्छ हरे-भरे मैदान में आ गया हूँ।...मैं अनन्त में फैल गया हूँ। न आदि है न अन्त, न रूप है न स्पर्श; केवल सत्ता है। वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है। अब अप्रकट कुछ नहीं। प्राप्य कुछ नहीं। महान् कुछ नहीं। किसी का अस्तित्व नहीं दिखता। केवल मैं हूँ। मैं वही हूँ। यह वही है। यही है वह।"[८]

३. "जहाँ पैर रखते हुए भयभीत हो जाता था, आज वही जीवन पवन-सुरभित जल-कण-सिक्त रम्य पुष्पोद्यान हो गया। मैं प्रफुल्लित होकर अभूतपूर्व वीणा बजाता हूँ और उसके सप्त स्वरों में परमतान्तर्गत अनन्तानन्द का सुमधुर गायन सुनाई देता है। आज प्रेमदेव की अप्रतिम प्रभा के आगे अनित्यता की झलक मन्द पड़ गई और यह तमाच्छन्न

---

१. 'तरंगिणी', पृ० ८२।
२. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठोपनिषद् २।६।१४॥
३. ओ३म् असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय।
४. स्वरूपैक प्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः॥ न्यायमंजरी, पृ० ७७॥
५. प्रपंच सम्बन्धविलयोमोक्षः॥ 'शास्त्रदीपिका', पृ० ३५७॥
६. हद छाँडि बेहद गया, रहा निरन्तर होय।
बेहद के मैदान में, रहा कबीरा सोय॥
७. 'मणिमाला', पृ० १।
८. 'अन्तस्तल', पृ० ८४।

जीवन-भवन परम प्रकाशमय हो गया।"[१]

मुक्ति प्राप्त होने अथवा ज्ञान के प्रभाव से जो दशा जीव की होती है उसे अति आधुनिक ढंग से भी व्यक्त किया गया है, परन्तु केवल शब्दावली का अन्तर है, भावना या निहित विचार-धारा का नहीं। जैसे इस उदाहरण में :

"मेरे चारों ओर जहाँ तक दृष्टि जाती है—फूल-ही-फूल खिले हैं। धरती दिखती ही नहीं। मृण्मय कठोर धरती है ही नहीं। यह तो परिमल कोमलता और लावण्य की राशि है, अनन्त पुष्पराजि है।"[२]

इसी प्रकार अन्यत्र भी कहीं मुक्ति को 'जीवन की ज्वाला'[३] और कहीं उसे 'नव प्रभात'[४] कहा गया है, जिसमें जीवन की जड़ता दूर होकर अमृत-तत्त्व की उपलब्धि होती है।

मुक्ति नहीं बन्धन—मानव-जीवन की महत्ता इसलिए है कि इसके द्वारा मुक्ति-लाभ हो सकता है, यह हमारे शास्त्रों में सर्वत्र प्रतिपादित हुआ है; लेकिन कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपनी 'गीतांजलि' द्वारा इस भावना का बड़ा व्यापक प्रचार किया है। उन्होंने लिखा है कि त्याग में मुझे मुक्ति नहीं। मुझे तो आनन्द के सहस्रों बन्धनों में मुक्ति का रस आता है।[५] इसका प्रभाव हिन्दी की छायावादी कविता और गद्य-काव्य दोनों पर पड़ा। छायावादी कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने इसीलिए बन्धन को ही मधुर मुक्ति माना है।[६] हमारे गद्य-काव्यों में भी इसकी छाया पड़ी है। उन्होंने शारीरिक बन्धन को आभूषण और मर्यादा-रक्षा का कारण बताया है।

शारीरिक बन्धन तो मेरा आभूषण है, किन्तु आत्मा मेरी स्वतन्त्र है। तेरे दर्शन-मात्र से मेरी अन्तरात्मा सिहर उठती है, मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठता है, मैं अपना-आपा भूल तेरे चरणों में लोट पड़ती हूँ देव! जिस दिन तेरा कम्पित कर, ओ मेरे आराध्य! वीणा की सुप्त तन्त्रियों पर मनोरम आघात करेगा, उसी क्षण मेरी अन्तरात्मा मधुर स्वर-लहरी बन, तेरी कोमल अंगुलियों पर थिरकेगी। बन्धन? वह तो मनुष्य-मात्र को है।[७]

यह न कहो कि मृदंग भीतर से शून्य है। इसमें अनन्त तत्त्व भरा है। कैसी विचित्र इसकी बनावट है! एक खोखले दारुखण्ड पर दोनों ओर चमड़ा मढ़ा है और वह गुणों से भली-भाँति जकड़ा है। तुम्हारी थपकियों से कै बार इसने संसार को मोहित नहीं किया

---

१. 'तरंगिणी', पृ० ६।

२. 'प्रवाल', पृ० ५।

३. 'वेदना', पृ० ७७; 'तरंगिणी', पृ० ४६।

४. 'मणिमाला', पृ० ४७।

५. 'गीतांजलि', ६२वाँ गीत।

६. तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन।
गन्धहीन तू गन्धयुक्त बन॥
निज स्वरूप का ही प्ररूप मन।
मूर्तिमान बन विहीन गल रे गल निष्ठुर मन॥

'गुन्जन', दूसरा संस्करण, पृ० ३।

७. 'उन्मुक्ति', पृ० १।

और कौन ऐसा मधुर घोष है जो इससे नहीं निकला ! किन्तु अब तुम क्या कर रहे हो ? कहीं इसके गुणों को न निकाल डालना, नहीं तो यह किस काम का रह जाएगा। उन्हीं में बँधे रहने से तो यह अपनी मर्यादा में स्थित है।[1]

प्रभु की प्राप्ति—प्रभु-प्राप्ति के तीन मार्ग हमारे गद्य-काव्यों में बताये गए हैं—१. अन्तर में प्रभु की प्राप्ति। २. प्रेम में प्रभु की प्राप्ति और ३. दीनों के प्रेम में प्रभु की प्राप्ति।

१. अन्तर में प्रभु की प्राप्ति—यह योग के प्रभाव को व्यक्त करने वाला सिद्धांत है, जिसमें ध्यानावस्थित होकर चित्त-वृत्तियों का निरोध किया जाता है। कबीर ने कहा है—'मो को कहाँ ढूंढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में।' और जायसी की चिन्ता है—'पिउ हिरदे में भेद न होई।' हिन्दी-गद्य-काव्यकार भी इसी स्वर-में-स्वर मिलाता है और जो आनन्द उसे ब्रह्माण्ड में नहीं मिलता उसे अपने भीतर प्राप्त करता है—

"अन्त को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा—आनन्द, आनन्द, कहाँ है आनन्द! हाय ! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन बिताया। बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किन्तु मेरी आन्तरिक प्रकृति स्तब्ध थी, अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ, पर इसी समय ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझसे पूछ उठा—'क्या कभी अपने-आपमें भी देखा था ?' मैं अवाक् था सच तो है। जब मैंने—उसी विश्व के एक अंश—अपने-आप तक में खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली ? जो वस्तु मैं अपने-आपको न दे सका, वह भला दूसरे मुझे क्यों देने लगे ? परन्तु यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने-आपको न दे सका था, वह मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से मिली; जो मुझे अखिल ब्रह्माण्ड में न मिली थी वह अपने-आपमें मिली।[2]

२. प्रेम से प्रभु की प्राप्ति—वैष्णवाचार्यों ने भक्ति के प्रकरण में दाम्पत्य-रति वाली जिस मधुरा भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है उसकी धारा कृष्ण-भक्त कवियों से लेकर रीतिकाल के स्वच्छन्द कवियों और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तक अविच्छिन्न रूप से चली आती है। इसमें प्रभु को प्रिय और अपने को प्रेमी या प्रभु को प्रेमी और अपने को प्रिय माना जाता है। हिन्दी-गद्य-काव्यों में भी वही परम्परा विद्यमान है। भक्ति-भावना वाले गद्य-काव्यों में ही नहीं अन्यत्र भी उसकी ऐसी महिमा गाई गई है कि उसने दार्शनिक रूप ले लिया है। उसे ईश्वर का पर्यायवाची बना दिया है।

'प्रेम एवं परमात्मा'। अवश्य वह मूर्तिमान है। वह यहाँ नित्य आता है और निराकार भावना में साकारता धारण करता है।[3]

'प्रेम' ईश्वर का रूप है और ईश्वर नाशहीन है। अतः इस तर्क से यह सिद्ध हुआ कि जिसका जीवन प्रेममय है, वह क्षणिक नहीं कहा जा सकता। प्रेममय और ईश्वर-मय एक ही बात है।[4]

---

१. 'साधना', पृ० ३४।
२. 'उन्मुक्ति', पृ० ५२।
३. 'तरंगिणी', पृ० ५।
४. 'धुँधले चित्र', पृ० ७३।

ऐसे प्रेममय प्रभु की प्राप्ति प्रेम द्वारा ही हो सकती है—

"यौवन-प्रभाव में रूप के ललित तन्त्र को लिखकर साधना करती रही, किन्तु न आए। जीवन के प्रौढ़ में ज्ञान के कलित यन्त्र को चला मैं तुम्हारी उपासना करती रही, तुम न आए, न आए। मगर जब दिन और रात के अधर मिले, अन्धकार गिरि-शिखरों पर फैला और समुद्र-तट पर आत्म-विभोर ज्वार का चढ़ाव आया तब मैंने एकनिष्ठ हो, प्रेम का फलित मन्त्र पढ़ा और तुम तारों के झीने प्रकाश में मेरा हृदय-द्वार खटखटा रहे थे।"[१]

३. दीनों के प्रेम में प्रभु की प्राप्ति—दीनों और दलितों के प्रति प्रेम की भावना का प्रचार हमारे सन्त कवियों ने किया। कबीर ने परपीड़ा को जानने वाले को ही पीर (गुरु) कहा है।[२] रहीम ने दीन पर कृपा करने वाले को दीन-बन्धु की श्रेणी का माना है।[३] गुजरात के भक्त-कवि नरसी मेहता ने वैष्णव जनों की कसौटी ही 'पराई पीर' को जानना निश्चित किया।[४] पूज्य बापू को नरसी मेहता का यह भजन बड़ा प्रिय था। वे स्वयं जीवन-भर दरिद्रनारायण की सेवा करते रहे। गद्य-काव्यों में इसकी प्रतिष्ठा का श्रेय कवीन्द्र रवीन्द्र को है। उन्होंने 'गीतांजलि' में लिखा है—इस भजन-पूजा और जाप को त्याग दें। सब द्वारों को बन्द करके मन्दिर के एकान्त अँधेरे कमरे में तू किसकी पूजा करता है ? आँख खोलकर देख, तेरा प्रभु तेरे सम्मुख नहीं है। वह तो कठिन भूमि में हल चलाते हुए किसान और पत्थर तोड़ते हुए सड़क बनाने वाले श्रमिक के साथ है। उसके वस्त्र धूल से भर गए हैं, धूप और वर्षा की भी उसे चिन्ता नहीं है। तू अपने पवित्र वस्त्रों को उतार डाल और उसी भाँति धूलि-भूमि में उतर आ।[५] लगभग सभी गद्य-काव्यकारों ने इसी भावना को हिन्दी में उतार दिया है। कुछ उदाहरण देखिए—

१. "लोग उसे खोजते-खोजते हैरान हो गए पर वह तो वहाँ घूमता है जहाँ रोटी के लिए वैशाख की दोपहरी में निर्दोष ललाट के पसीने बहते हैं। क्या किसी ने आज तक उसे वहाँ खोजा ? घृणा के कारण जिन पर लोगों की दृष्टि भूलकर भी नहीं जाती उन्हीं से वह प्रेम करता है, उन्हीं की खोज में वह अपना सारा समय लगाता है। झूठे बड़प्पन के फफोले को फोड़कर नीचे उतर और उन दीनों का साथ दे, जिन्हें अपने प्रभु ने बड़े प्रेम से अपनाया है।"[६]

२. "सफाई करने वाले भंगी की पूजा, मन्दिर में साष्टांग दण्डवत् करने वाले भक्त की अपेक्षा चराचर के स्वामी परमेश्वर को विशेष मान्य है, सड़क पर पत्थर तोड़ने वाले संगतराश की अर्चना पत्र-पुष्प, जल-चन्दन का अर्घ्य देने वाले पुजारी की पूजा

---

१. 'शबनम', पृ० ७३।
२. कबिरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
   जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर ॥ कबीर ॥
३. दीन सबन को लखत हैं, दीनहिं लखै न कोय।
   जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होय ॥ रहीम ॥
४. वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर पराई जाणे रे ॥ नरसी मेहता ॥
५. 'गीताञ्जलि', ११वाँ गीत।
६. 'मणिमाला', पृ० ३०।

की अपेक्षा भगवान् को अधिक प्रिय है।"[१]

३. "किसे खबर थी कि इन अधनंगों और अधभूखों के इन भयावने खण्डहरों में हमारा प्राणाधार खेल रहा होगा? कौन जानता था कि इन गन्दी गलियों में हमारा कुञ्जबिहारी कृष्ण अपनी विश्व-विमोहिनी वंशी फूँक रहा होगा। बड़े-बड़े मन्दिरों और महलों को छोड़कर हमारा राजराजेश्वर इन सड़ी झोंपड़ियों में मजूरों की मजूरी करने आया है। कैसा दिव्य दर्शन है।"[२]

सूफी मत का प्रभाव—श्री राहुल सांकृत्यायन ने अपनी 'दर्शन दिग्दर्शन' नामक पुस्तक में सूफ़ी सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए लिखा है—"सूफ़ी दर्शन में जीव ब्रह्म का ही अंश है और जीव का ब्रह्म में लीन होना, यही उसका सर्वोच्च ध्येय है। जीव ही नहीं, जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शंकर के ब्रह्म-अद्वैतवाद और सूफ़ियों के अद्वैतवाद में कोई अन्तर नहीं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो कि भारत में मुसलमान सूफ़ियों ने इतनी सफलता प्राप्त की और सफलता भी पूर्णतया शान्तिमय तरीके से। जीव को एक (सत्, ब्रह्म) से मिलने का एक ही रास्ता है, वह है प्रेम (इश्क)। यद्यपि यह प्रेम शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम था, किन्तु कितनी ही बार इसने लौकिक क्षेत्र में भी पदार्पण किया।"[३] हिन्दी-कविता में कबीर और जायसी के माध्यम से यह सिद्धान्त व्याप्त हुआ। कबीर ने 'इश्क की शराब' को 'हरि रस' का नाम दिया है और कहा है कि हरि रस ऐसा पीना चाहिए कि कभी खुमारी न जाय तथा शरीर की सुध-बुध भुलाय मस्त घूमता रहे।[४] जायसी ने भी यही बात कही है कि उस परम तत्त्व से मन लगने पर कुछ अच्छा नहीं लगता, उसी की मस्ती में डूब जाना पड़ता है।[५]

हिन्दी-गद्य-काव्यों में इसी शराब की माँग प्रभु से की गई है।

"अरे डाल दे थोड़ी-सी अपनी प्रेम-मदिरा मेरे जीवन की खाली प्याली में, मेरे अलबेले साक़ी! ज़रा-सी पिला दे अपनी वह प्रीति पेया, मेरे प्राणप्यारे सद्गुरु! फिर पड़ा रहने दे मुझे कहीं अलमस्त मेरी प्यारी कसकीली याद में। कुछ ऐसा कर कि तेरी इस लीलामयी मदिरा को पीकर मैं अपनी मतवाली आँखों के रंग में इन सारे मत-मज़हबों को रँग डालूँ। दीन और दुनिया के दामन पर कोई और ही रंग चढ़ा दूँ। खुद भी छक जाऊँ और औरों को भी छका दूँ। यह होश मेरे किस काम का! मुझे तो तेरी वही मीठी बेहोशी चाहिए। जब तक यह होश है, तब तक तेरी आज्ञा का पालन न कर सकूँगा। थोड़ी-सी प्रेम-मदिरा पिलाकर बेहोश कर दे, मेरे प्राणेश! और फिर देख, कि मैं तेरा आदर्श आज्ञावाही सेवक हूँ या नहीं, एक अनासक्त कर्मयोगी हूँ या नहीं।"[६]

१. 'ठंडे छींटे', पृ० ७६।
२. 'अन्तर्नाद', पृ० ६०।
३. 'दर्शन दिग्दर्शन', पृ० १०३।
४. हरि रस पीया जाणिये, कबहुँ ना जाय खुमार।
मैमन्ता घूमत रहै, नाहीं तन की सार॥ कबीर॥
५. कथा जो परम तत्त्व मन लावा।
धूमि माति, सुनि और न भावा॥जायसी॥
६. 'प्रार्थना', पृ० ७।

इस शराब के पीने से अहं का विसर्जन हो जाता है, इसलिए प्रेमी की माँग होती है।

"खुदा की चहारदीवारी से निकलकर देखने पर द्रष्टा और दृश्य का भेद लोप हो जाता है, पैमाना, सुरा और साक़ी को देखकर मैं अपना-आपा भूल जाती हूँ, वस्ल की प्याली से सिर्फ एक घूँट पिला दे कि अनलहक राज़ मेरी ज़बाँ पर उतर आए और मैं मंसूर की शहादत का सबूत बन जाऊँ।"[१]

इस शराब का नशा ऐसा है जो प्रलय तक रहने वाला है—

"यह ऐसी मादक सुधा तुमने मुझे पिलाई, साक़ी ! जिसका नशा अन्तिम प्रलय तक न उतरेगा। कैसे अनोखे रूप की झाँकी तुमने कराई है देव ! कि वह अनन्त जीवन के अन्त तक भी नेत्रों से ओझल न होगी। तुम्हारे बिम्बाधर के क्षणिक स्पर्श मात्र ने मुझमें कैसे अमर यौवन का सञ्चार किया कि असंख्य ग्रीष्म शिशिर और ख़िज़ाँ के बीतने पर भी वह नूतन बना रहेगा।"[२]

इस प्रकार हिन्दी-गद्य-काव्य में दर्शन की सरस अभिव्यक्ति मिलती है। आज तक के भारतीय साहित्य में गृहीत दार्शनिक विचार-धाराओं का समावेश न्यूनाधिक मात्रा में उनके भीतर हुआ है। यदिम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इस दार्शनिक अभिव्यक्ति में मृत्यु को सुखद मानना, मुक्ति के स्थान पर बन्धन को स्वीकार करना और दीनों के प्रेम में परमात्मा की प्राप्ति के सिद्धान्तों की नवीन रूप में प्रतिष्ठा हुई है। यों, जैसा हम विवेचन के समय कह चुके हैं, ये नई बातें नहीं हैं, फिर भी कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' के प्रभाव से इन्होंने हिन्दी-गद्य-काव्य में प्रमुख स्थान बनाया है और समस्त दार्शनिक अभिव्यक्ति के बीच इनका स्वर कुछ ऊँचा मालूम पड़ता है। यह गद्य-काव्य की अपनी ऐसी विशेषता है, उसकी ऐसी देन है जिसके लिए हिन्दी-साहित्य को उसका ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। यह दूसरी बात है कि इस प्रकार की मनोवृत्ति में तथ्यमूलकता का कहाँ तक सम्बन्ध है, किन्तु काव्य की दृष्टि से तो उसमें चमत्कार है ही।

---

१. 'दुपहरिया के फूल', भाग २, पृष्ठ ३१।

२. 'वंशीरव', पृष्ठ २५।

सप्तम अध्याय

उपसंहार

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि गद्य-काव्य साहित्य की एक प्रमुख विधा है और उसकी धारा प्राचीन काल से आज तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है, लेकिन उसे आधुनिक काल में जो महत्त्व मिला है वह प्राचीन काल में नहीं मिला। इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक तो यह कि प्राचीन काल में परिस्थितिवश पद्य को गद्य की अपेक्षा विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हुई; और दूसरा यह कि प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने उसे काव्य के अन्तर्गत मानते हुए भी उसका वैसा विशद विवेचन नहीं किया जैसा कि पद्य का किया। फलस्वरूप प्राचीन काल से उसके भाग्य में जो उपेक्षा लिख गई थी उससे उसे आज तक मुक्ति नहीं मिली। इतना होने पर भी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के बल पर वह साहित्य की अन्य विधाओं के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर बढ़ता चला जा रहा है।

हिन्दी-साहित्य की तो वह एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण वह अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों से सदैव विशेष सम्मान प्राप्त करता रहेगा। हिन्दी-गद्य-काव्य की नवल वल्लरी ने नवयुग के अग्रदूत भारतेन्दु बाबू की वाणी की सरस रसा में अंकुरित और विश्व-कवि रवि ठाकुर की कल्पना के वासन्ती वायु-मण्डल में पुष्पित और पल्लवित होकर अपनी मादक सुरभि से समस्त साहित्यिक जगत् को मतवाला बना दिया। खलील जिब्रान की तात्त्विक दृष्टि ने तो उसे और भी अधिक आकर्षण प्रदान कर दिया। इस प्रकार अपने छोटे-से जीवन-काल में उसने रहस्योन्मुखी आध्यात्मिकता, भक्ति, प्रेम, राष्ट्रीयता, इतिहास और प्रकृति के प्रांगण में ऐसी मनभावनी क्रीड़ा की है, जो सहृदय मधुपों के लिए सदैव आकर्षण की वस्तु बनी रहेगी। जड़-चेतन जगत् की स्थूल और सूक्ष्म वस्तुओं में से कोई भी ऐसी नहीं है जो उसके स्पर्श से पुलकित न हुई हो। यदि और बातों को छोड़ भी दें तो यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस नास्तिकता के युग में इसने रहस्यवादी कविता के साथ भक्ति की भावना को संरक्षण देकर आस्तिकता के प्रचार का बहुत-कुछ श्रेय प्राप्त किया है।

भाषा-शैली, अलंकार-विधान, रस और भाव-व्यञ्जना तथा शैली के रूप-विधान की दृष्टि से उसका जो अनन्त वैभव है वह हमारे साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है। अभिव्यक्ति की उन्मुक्तता और भावों की सरलता में उसका सौन्दर्य अपूर्व माधुर्य लेकर

खिल उठा है। कृत्रिमता और आडम्बर से उसे घृणा है। वास्तव में वह उस मुग्धा नायिका की भाँति है, जिसके अल्हड़पन से ही आनन्द-विभोर होकर रसिक जन अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं।

मनोविज्ञान और दर्शन के लिए तो वह एक प्रयोगशाला है। उसमें लगभग सभी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का अपने निजी ढंग से समावेश हुआ है। कहीं-कहीं तो वह अपने विस्तार और गहराई के कारण मनोविज्ञान की शास्त्रीय पकड़ में भी नहीं आता। रही दर्शन की बात; सो उसका दार्शनिक आधार भी बड़ा ही पुष्ट है। शंकर के वेदान्त से लेकर चैतन्य के प्रेम-भक्तिमय आत्म-समर्पण तक अनेक सिद्धान्तों को वह अपने में समोये हुए है। संसार की सत्यता, मृत्यु की मनोहारिता और दीनों के प्रति प्रेम में दीनबन्धु की दयालुता की अनुभूति की जो तरल त्रिवेणी उसमें तरंगित है उसमें स्नान करके शरीर शीतल और आत्मा आनन्दित होती है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि ये सब बातें इतनी सुन्दरता से कही गई हैं कि वे स्वादिष्ट रसायन की भाँति अनायास ही अन्तर में पहुँचकर मनो-मालिन्य के विषम ज्वर को दूर कर देती हैं।

मनोवृत्तियों के विश्लेषण और जीवन-व्यापी सत्यों की व्यञ्जना करने वाली सूक्तियों का जो चयन उसमें हुआ है वह हिन्दी-भाषा की अभिव्यञ्जना-प्रणाली की समृद्धि का ही सूचक नहीं, वरन् उससे मानव को गहराई में जाकर अनुभव के मुक्ताकण चुनने की भी प्रेरणा मिलती है। इस दृष्टि से तो वह अपनी अन्य समकालीन साहित्यिक विधाओं से और भी अधिक सम्पन्न और गौरवशाली प्रतीत होता है।

तात्पर्य यह कि गद्य-काव्य हमारे हिन्दी-साहित्य की एक अनुपम निधि है। उसे हेय और नगण्य मानकर महत्त्व न देना अपने दृष्टिकोण की संकीर्णता का परिचय देना है, इसलिए उसे भी साहित्य की अन्य विधाओं के समान गौरवपूर्ण पद मिलना चाहिए। यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। यदि आज हम किसी पूर्वाग्रहवश उसे उसके इस अधिकार से वंचित करने की असफल चेष्टा करते हैं तो भले ही करें, परन्तु आनेवाला कल निश्चय ही उसकी सत्ता को हृदय से स्वीकार करके उसकी महत्ता का गुण-गान करेगा, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

परिशिष्ट-१

गद्य-काव्य के प्रमुख लेखक

राय कृष्णदास

श्री राय कृष्णदासजी का जन्म सन् १८९२ में काशी में एक प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न वैश्य-कुल में हुआ। आपके पिता भारतेन्दुजी की बूआ के पुत्र थे और भारतेन्दुजी से चार-पाँच वर्ष छोटे थे। जब नौ वर्ष के थे तभी मातृहीन हो गए थे, इसलिए उनका पालन-पोषण भारतेन्दुजी के ही यहाँ हुआ था। यद्यपि उनके परिवार में फ़ारसी का प्रभाव था तथापि भारतेन्दु की वैष्णव संस्कृति ने इन्हें भागवत-भक्त बना दिया और वे संस्कृति की ओर मुड़ गए। श्री राय कृष्णदासजी पर भी इस वातावरण का प्रभाव पड़ा और उनमें साहित्यिक संस्कार उत्पन्न हुए। इनको साहित्यिक जीवन के लिए प्रोत्साहन देने वाले इनके पिता के मौसेरे भाई श्री राधाकृष्णदासजी थे, जो भारतेन्दुजी के लघु संस्करण माने जाते थे। श्री राधाकृष्णदासजी के अतिरिक्त पं० लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी (हिन्दी-अध्यापक), आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० केदारनाथ पाठक से इन्हें लेखन-कार्य में विशेष सहायता मिली। पं० केदारनाथ पाठक का इनके साहित्यिक जीवन के विकास में विशेष हाथ है। उन्होंने इनका परिचय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और जयशंकर प्रसाद से कराया।

यों तो आपने सन् १९०१ में, जब वे केवल नौ वर्ष के ही थे, लिखना आरम्भ कर दिया था; परन्तु आपका वास्तविक लेखन-कार्य सन् १९१६ से आरम्भ हुआ। आपने महाशय काशीनाथ द्वारा अनूदित 'हिन्दी गीताञ्जलि' पढ़कर उसी के ढंग पर लिखना शुरू किया और 'साधना' नाम से उन रचनाओं का प्रकाशन कराया। उनको 'गद्य-गीत' नाम भी आपने ही दिया। इस प्रकार हिन्दी में वे रवीन्द्र-शैली के गद्य-काव्य के प्रवर्त्तक कहलाने के अधिकारी हुए। 'साधना' के अतिरिक्त 'छाया-पथ' और 'प्रवाल' नामक रचनाएँ इसी धारा की और भी आपने लिखीं।

गद्य-काव्यों के अतिरिक्त रायसाहब ने 'ब्रज रज' कविता-संग्रह और 'अनाख्या', 'सुधांशु' तथा 'आँखों की थाह' कहानी-संग्रह भी दिए हैं। इनमें 'सुधांशु' की कहानियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रसाद की भावपूर्ण शैली में लिखी गई ये कहानियाँ अपना एक विशेष स्थान रखती हैं। ख़लील जिब्रान के 'मैडमैन' का 'पागल' नाम से आपने

अनुवाद भी किया है। भारतेन्दुजी की शैली पर 'हमीर' नाटक, शरत् की शैली पर एक उपन्यास और 'शाल्व' नामक महाकाव्य उनकी अधूरी कृतियाँ हैं, जिनके पूर्ण न होने का उत्तरदायित्व उनके कला-प्रेम को है।

'भारत कला भवन' की स्थापना के कारण उनका समस्त समय चित्रों, मूर्तियों और सिक्कों की खोज-बीन में ही लग जाता है। अपनी लाखों की सम्पत्ति लगाकर उन्होंने अद्भुतालय की स्थापना की है। 'भारतीय मूर्ति-कला' और 'भारतीय चित्रकला' नामक पुस्तकें इस बात का प्रमाण हैं कि रायसाहब का कला का अध्ययन कितना गहरा और वैज्ञानिक है।

रायसाहब स्वभाव के सरल और सुरुचि-सम्पन्न प्राणी हैं। पक्के वैष्णव हैं। क्रियात्मक राजनीति से सदैव अलग रहते हैं। गांधीवाद में विश्वास रखते हैं और खद्दर पहनते हैं। साहित्य, संगीत और कला तीनों से ही उन्हें प्रेम है। उनकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र है। एक बार जिस संग्रहालय या विक्रेता के यहाँ कोई चित्र या मूर्ति देख लेते हैं उसको दस-दस, बीस-बीस वर्ष बाद भी उसी प्रकार याद रखते हैं। उनके पास साहित्यिक पत्रों का बहुमूल्य संग्रह है। प्रसादजी के उनके संस्मरण तो बेजोड़ हैं।

गद्य-काव्य

रहस्योन्मुख आध्यात्मिक गद्य-काव्यों का प्रचलन रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के अनुकरण पर हिन्दी में सर्वप्रथम राय कृष्णदासजी ने किया। उनके गीतों का स्वर आध्यात्मिक ही है। रवीन्द्र द्वारा उनको प्रेरणा मिली है, इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है, "सो उसका ('गीतांजलि' का) यह अनुवाद (हिन्दी-अनुवाद) पाकर उस पुरानी प्रवृत्ति ('गीतांजलि' पढ़ने की) की तृप्ति का द्वार खुल गया। इतना ही नहीं उसके, एकाध पृष्ठ में ही इतनी कोमलता, भावुकता और सरसता मिली कि मैं उसमें तन्मय हो गया। साथ ही उसी तरह के कितने ही घने भाव मेघ-पटल की तरह अन्तस्तल में उमड़ पड़े। उसकी प्रत्येक पंक्ति से एक नया भाव सूझने लगा और अभी की पढ़ने की कौन कहे, वहीं रुककर मैं हठात् उन्हें उस पोथी की पोस्तीनों पर लिखने लगा। शायद 'साधना' की ये पंक्तियाँ उसी अवस्था की द्योतक हैं—"पुलकित होकर मैंने गान आरम्भ किया। प्रेम के मारे मेरा कण्ठ भर रहा था, इससे मैं प्रति शब्द पर रुकता था"···'गीतांजलि' के पहले पृष्ठ का दूसरा वाक्य है—"तू इस क्षण-भंगुर पात्र (शरीर) को बार-बार खाली करता है और नवजीवन से उसे सदा भरता रहता है।" इसे पढ़कर मैंने लिखा था—"तुम अमृत को बार-बार कच्चे घटों में भरते हो और मैं उन्हें गलते देखता हूँ।" ('साधना', पृष्ठ ३३)···हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य ने भी लिखने में बड़ी सहायता दी। लिखना दिन में तो होता ही, रात में भी घण्टों बीतते। लिखता, बार-बार पढ़ता और झूमता। इन्हीं भावों से मिलते-जुलते वर्षों के भाव भी लिख डाले। मित्रों से बातचीत में कोई भाव उखड़ जाता और साधारण घटना भावोद्बोधन करा जाती। उसी रंग में सराबोर रहता।··· यहाँ मैं इतना स्पष्ट कर दूँ कि ऐसे जो भाव ऐहिक या भौतिक कारणों से उत्पन्न होते थे उन्हें भी आध्यात्मिक रूप में ही अंकित

करता था।"[1]

एक दूसरे स्थान पर वे कहते हैं—"साधना की धारा तो 'गीतांजलि' के प्रभाव की है और उसकी अभिव्यक्ति में कोई नयापन नहीं। वह रविबाबू की ही है। हाँ, 'छाया पथ' में कुछ अपना मार्ग मैंने खोजा है।"[2]

रायसाहब के उक्त कथनों से तीन तत्त्वों का पता चलता है—(१) रवीन्द्र का पूरा प्रभाव, (२) हिमालय के प्राकृतिक वातावरण का योग और (३) प्रत्येक घटना को आध्यात्मिक रूप देना। लेकिन यह साधना के लिए ही ठीक है। 'छाया पथ' और 'प्रवाल' में उनका पद्य भिन्न हो गया है। 'छाया पथ' में निवेदन का ढंग बदल गया है और लेखक ने कभी अपने आराध्य को स्त्री-रूप में सम्बोधित किया है तथा स्वयं पुरुष बन गया है और कभी पुरुष-रूप में सम्बोधित किया है तथा स्वयं स्त्री बन गया है। 'छाया पथ' में प्रकृति तथा अन्य वस्तुओं के निरपेक्ष वर्णन भी हैं, जबकि 'साधना' में उनका स्व सापेक्ष वर्णन है। 'छाया पथ' में अन्योक्ति पद्धति का अधिक आश्रय लिया गया है, जबकि 'साधना' की अभिव्यक्ति में सीधापन है। 'छाया पथ' में वार्तालाप शैली और कथात्मक शैली का योग है, जबकि 'साधना' में प्रार्थना-शैली का ही प्राधान्य है। 'छाया पथ' में परकीया प्रेम की ओर अधिक झुकाव है जबकि 'साधना' में रहस्यवादी प्रवृत्ति की ओर। यों 'छाया पथ' और 'साधना' दोनों में पर्याप्त अन्तर है। और 'प्रवाल' में न 'साधना' का रहस्योन्मुख प्रेम है और न 'छाया पथ' का परकीया प्रेम, उसमें तो शुद्ध वात्सल्य रस की सरिता प्रवाहित है। माता-पिता और पुत्र-पुत्री के पारस्परिक वार्तालाप से ही यह कृति पूर्ण है। आधुनिक हिन्दी-पद्य-साहित्य और गद्य-साहित्य में इतना सजीव वात्सल्य-वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। पिता और माता के हृदय की कोमलता और बालक के हृदय की अबोधता दोनों का समान सफलता के साथ चित्रण करने में रायसाहब को अपूर्व सफलता मिली है।

आध्यात्मिक दृष्टि से रायसाहब अपने आराध्य से सतत आलिंगित रहते हैं। उनका प्रियतम उनके साथ प्रतिक्षण रहता है।[3] प्रकृति इस मिलन के लिए पृष्ठभूमि का काम देती है।[4] इस मिलन के उपक्रम-स्वरूप जो प्रतीक्षा होती है उसमें रायसाहब का हृदय बेचैन हो उठता है। वे साज सजाकर ठहरने के लिए तैयार नहीं होते और स्वयं ही अपने प्रियतम की ओर चल देते हैं।[5] माला उनकी प्रतीक्षा का विशिष्ट अंग है। वे ग्रीष्म की दोपहरी में ही माला बनाने बैठ जाते हैं।[6] कभी-कभी स्वयं मालिन का रूप लेकर उद्यान में पहुँच जाते हैं और वहीं माला तैयार करते हैं। आश्चर्य की बात यह होती है कि वह माला उनके हाथों में जकड़ जाती है, जिसे वे प्रियतम के मिलन की सूचना समझते हैं।[7] कभी वे परकीया नायिका की भाँति घर से निकल पड़ते हैं प्रियतम की ओर प्रेम से

१. 'हंस' जुलाई-अगस्त १९३१ में स्वयं राय कृष्णदास-लिखित 'अतीत' शीर्षक लेख।
२. 'मैं इनसे मिला', दूसरी किस्त, पृ० २९।
३. 'साधना', पृ० ४७, ६६, ७०, ७७, ८४; 'छाया पथ', ३२, ४६, ४६, ५१।
४. 'साधना', पृ० ४६; 'छाया पथ', पृ० ४२।
५. 'साधना', पृ० ७१।
६. वही, पृ० ८१।
७. 'छाया पथ', पृ० २७।

खिंचे हुए और सामने पहुँचकर लजा जाते हैं[1] और कभी उसे सहगामिनी नारी के रूप में सम्बोधित करने लग जाते हैं।[2] उनका यह प्रियतम अज्ञात है—गोपियों का सगुण कृष्ण नहीं; अत: उसमें स्थूल शृंगार का आभास तक नहीं है। उसमें केवल आलिंगन और चुम्बन का ही सांकेतिक उल्लेख मिलता है।[3]

मधुरा भक्ति की कोटि का यह प्रेम उनकी साधना में सर्वत्र व्याप्त है। इसके अतिरिक्त वे अपने प्रभु को सर्वत्र प्रकृति में व्याप्त देखते हैं तो उसे सगुण, सवाक् और शक्तिशाली कह उठते हैं।[4] उन्हें पुष्प की सुन्दरता से प्रभु की महत्ता का ज्ञान होता है, संध्या, वर्षा, शरद् और प्रभात के सौंदर्य से प्रभु की दयालुता का अनुभव होता है। प्रकृति के सौन्दर्य में उनकी तल्लीनता यहाँ तक बढ़ जाती है कि उन्हें समस्त सृष्टि प्रभु के गान से स्तब्ध दिखाई देती है।[5] चाँदनी रात का सौंदर्य देखकर वे प्रश्न कर उठते हैं कि क्या यह दृश्य बाह्य प्रकृति का है।[6] इस प्रकृति-सौंदर्य-मुग्धता के कारण हंस की गति से चल रही निस्तब्ध पवन पर बहती स्वरावली के साथ तान लेने के लिए लालायित हो जाते हैं।[7] प्रकृति को इस दृष्टि से देखकर वे प्राकृतिक रहस्यवादी की कोटि में भी पहुँच जाते हैं।

तीसरा रूप उनकी साधना का वह है जो दास्य-भक्ति का है। वे भगवान् की सेवा में ही आनन्द का अनुभव करते हैं और स्वतन्त्रता या मुक्ति नहीं चाहते।[8] पद्म-पराग में मधुप की भाँति और केतकी-रज में कीट की भाँति लेटे रहना ही उन्हें प्रिय है।[9] वे उस दयालु स्वामी के मार्ग में पद्दलित होने के लिए पड़ जाते हैं ताकि वे कुचलकर उनके जीवन को सार्थक कर दें और सजल दृष्टि से देखकर उनके हृदय की व्यथा को शान्त कर दें।[10] प्रभु की भक्ति से अपने अभावों को भी वे वरदान मान लेते हैं।[11] उन्हें अपने प्रभु की शक्ति पर अटूट श्रद्धा और दृढ़ विश्वास हो जाता है और वे अपने प्रभु की इच्छा से जो कुछ वह कराए उसे करने में ही सुख अनुभव करते हैं; क्योंकि जिसने मृग-मरीचिका दिखाई है वही पार लगाकर प्यास बुझाएगा।[12] वे भगवान् शक्तिशाली हैं और उनके लिए कोई कार्य असम्भव नहीं है, इसलिए वे उसके ऊपर अपने को छोड़ देते हैं।[13] उन्हें यह

१. 'छाया पथ', पृ० ५३।
२. वही, पृ० ५१।
३. वही, पृ० ५०।
४. 'साधना', पृ० १०१।
५. वही, पृ० २१, २३।
६. वही, पृ० ६५।
७. वही, पृ० ६१।
८. वही, पृ० ११।
९. वही, पृ० ६१।
१०. वही, पृ० १८।
११. वही, पृ० ६४।
१२. वही, पृ० ५५, १००।
१३. वही, पृ० ५४; 'छाया पथ', पृ० ३०।

विश्वास है कि सबके साथ छोड़ देने पर भी प्रभु ही साथ देता है।[१] वह भक्त के दुर्गुणों को न देखकर उसका आदर करता है, इसलिए उसे छोड़कर किसी दूसरे की खोज करना व्यर्थ है।[२] वह कितना दयालु है कि 'पाँव पियादे' अपने भक्त के पीछे-पीछे घूमता रहता है और स्वयं भक्त की चिन्ता करता रहता है।[३] यद्यपि कभी-कभी वह योगियों की भाँति आनन्द की प्राप्ति अपनी आत्मा में ही कर लेता है।[४] लेकिन ऐसा कम ही होता है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति इसमें रमती नहीं। वे तो अपने प्रभु के प्रेम और कृपा से ही सन्तुष्ट होने वाले जीव हैं।

दार्शनिक दृष्टि से रायसाहब ने जीव, ब्रह्म, संसार, जन्म-मरण, अमरत्व आदि पर विचार किया है। वे आत्मा और परमात्मा को एक ही मानते हैं और उनका विश्वास है कि जीव की यात्रा परमात्मा तक पहुँचने पर ही समाप्त होती है।[५] कमल जैसे नाल पर टिका रहता है और नाल दिखाई नहीं देता, वैसे ही जीव ब्रह्म पर आधारित है पर ब्रह्म दिखाई नहीं देता।[६] जीव के सम्बन्ध में रायसाहब का कहना है कि यद्यपि जीव ब्रह्म का अंश है पर यह रहस्य समझ में नहीं आता कि ब्रह्म उसे क्षणभंगुर, नश्वर और मृत समझकर क्यों उससे दूर रहता है।[७] इसका उत्तर एक दूसरे गद्य-गीत में देते हुए वे कहते हैं कि चिरकाल से उस आनन्दमय प्रभु से विलग रहने से मनुष्य की स्थिति यह हो गई है कि वह इस संसार-रूपी इन्द्रजाल को अपनी आँखों के सामने से हटाने से डरता है।[८] यह उनकी मौलिक कल्पना है। वैसे वे जन्म-मरण के बन्धन से ऊवकर कहते हैं कि बार-बार कुटी बनाकर अशान्ति मोल लेने से एक बार प्रासाद बनाकर चिरस्थायी आनन्द प्राप्त करना अधिक श्रेयस्कर है।[९] एक स्थान पर वे यह भी कहते हैं कि बन्धन की बड़ी आवश्यकता है। यहाँ वे मृदंग की उपमा देकर बताते हैं कि उसे गुणों (रस्सी) से कसने पर ही विभिन्न स्वर निकलते हैं। यह सगुणता ही उसके जीवन का चिह्न है। यदि उसे हटा दिया तो उसके जीवन का नाश हो जाए, उसकी मर्यादा जाती रहे।[१०]

संसार के सम्बन्ध में उनका दृढ़ मत है कि वह माया नहीं है, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म ही उसमें व्याप्त है। भला यह कैसे हो सकता है कि भगवान् जिस वाटिका का माली हो वह माया हो।[११] संसार तो कल्पवृक्ष है। जो उसे जिस दृष्टि से देखेगा उसे वह वैसा ही दिखाई

---

१. 'साधना,' पृ० ३६।
२. वही, पृ० १६।
३. वही, पृ० ७२, ७४।
४. वही, पृ० ५२।
५. 'साधना', पृ० ५४, १०६; 'छाया-पथ', पृ० २८।
६. साधना', पृ० २०।
७. वही, पृ० १२।
८. वही, पृ० ४५।
९. वही, पृ० १३।
१०. वही, पृ० ३४।
११. वही, पृ० २१।

देगा ।[१] हाँ, उसे एक रंग-बिरंगा खिलौना अवश्य कहा जा सकता है, जिसे प्रभु मनुष्य के बहलाने को देता है और फिर छुड़ा लेता है ताकि वह प्रभु से मिल सके। इस प्रकार भी उसकी सत्ता नष्ट नहीं होती ।[२] वे स्वर्ग का तिरस्कार करते हुए कहते हैं कि इस संसार में सुख कहाँ मिलेगा ? स्वर्ग यदि मिल भी जाए तो निरन्तर सुख जी उबा देगा। इसलिए सुख-दु:खपूर्ण संसार से परे कोई वस्तु नहीं और यदि हो भी तो संसार से बाहर जाना असम्भव है ।[३] यह उनका जीवन-दर्शन है और आधुनिक दृष्टिकोण के अनुकूल है।

मृत्यु उनके लिए अनन्त जीवन प्रदान करने वाली, जर्जरित पिंजर से छुड़ाकर नये दृश्य दिखाने वाली, असीम कष्टों से मुक्ति दिलाने वाली है, जो ममता के कारण चिर-शान्ति का वितान तानती है, अत: वे उससे ललकारकर मिलते हैं ।[४] उन्हें सुख-दु:ख भी क्यों हो ? जीवन की सुरा जिसने ढाली थी उस साकी-रूपी प्रभु के पीने के काम में यदि आ जाए तो इससे बड़े गौरव की बात क्या होगी ?

वात्सल्य-वर्णन की दृष्टि से उनके गद्य-गीतों में लगभग सभी श्रेष्ठ हैं। उनमें कहीं बालक माँ से 'ढेल छा मिट्टी का खिलौना' मँगाने का हठ करता है,[५] कभी मल्लू बनाकर मुँह पर रंग-बिरंगे टीके लगा टट्टू पर उलटे मुँह बिठा, डुग्गी वाले के साथ नगर में चारों ओर घुमवाने को कहता है,[६] कभी सुकुमार वृक्ष का पुष्प,[७] कभी कबूतर,[८] कभी आम का पेड़,[९] आदि बनने की अभिलाषा प्रकट करता है। इन स्थलों पर उनका पशु-पक्षियों की प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण द्रष्टव्य है। बच्चे खिलौनों को कैसे तोड़ देते हैं और उन्हें आँगन में बिखेर देते हैं, कैसे फिर उन्हें जोड़ने का प्रयत्न करते और न जुड़ने पर माँ से उसे जुड़-वाने को कहते हैं और माँ के न जोड़ने पर मचल उठते हैं ।[१०] कैसे लड़कियाँ खिलौनों को छोटा बच्चा मानकर माँ की भाँति 'छोजा, बच्चे छोजा', 'छोजा मेला मुन्ना, अब बहुत लात बीत गई', 'छोजा लाजा बेटा न' आदि कहकर सुलाती हैं ।[११] किस प्रकार बालक अपनी क्रीड़ाओं से माँ को प्रसन्न होते देख प्रश्न-पर-प्रश्न करता है,[१२] आदि का अत्यन्त ही स्वाभाविक चित्रण है।

न केवल बालक वरन् माता-पिता के हृदय की झाँकी भी बड़ी सजीव है। कभी

---

१. 'छाया-पथ', पृ० १८।
२. 'साधना', पृ० १२।
३. वही, पृ० ९८।
४. वही, पृ० १०६।
५. 'प्रवाल', पृ० ७।
६. वही, पृ० १२।
७. वही, पृ० १६।
८. वही, पृ० १७।
९. वही, पृ० २०।
१०. वही, पृ० २१।
११. वही, पृ० २४।
१२. वही, पृ० ८, १३, १५।

माँ बेटी के विवाहित होकर जाने पर दुखी होती है,[१] कभी बेटे को 'हीरामन सुग्गा' कहती और उसे सोने की कटोरी में दूध-भात खिलाने, कण्ठी पहनाने, सुन्दर बानी पढ़ाने की अभिलाषा प्रकट करती है। उसके अटपटे बोल सुनने, उसकी लाल चोंच के द्वारा अपना अंचल खींचे जाने और दिये हुए फलों को कुतर-कुतरकर आँगन में गिराने का दृश्य देखना चाहती है,[२] कभी शिशु को सम्बोधित करके उससे प्रश्न करती है कि क्यों वह उसे इतना प्रिय लगता है और कहाँ से उसने यह सौन्दर्य चुराया है,[३] कभी पालने में पड़े शिशु को हाथ-पाँव फेंकते देख उसे गोद में उठाकर बाग की सैर करने ले जाने का वर्णन है तो कभी उसके हाथ उठाने को बुद्ध से उपमा दी गई है।[४] इसके साथ ही कैसे बच्चा बूढ़े बाबा की अँगुली पकड़े उन्हें खींचे ले जा रहा है, कैसे दोनों उसके साथ झुके हुए खिंचे चले जा रहे हैं, कैसे उसे मीठे से चिपचिपा होने पर भी गोद में ले लेते हैं,[५] आदि बातों का बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन हुआ है। उसके शारीरिक सौन्दर्य का तो बार-बार वर्णन हुआ है—सुप्त सौन्दर्य का भी और जागृत सौन्दर्य का भी।[६] शिशु जहाँ बाप के लिए बुढ़ापे का सहारा, ममता का एक-मात्र स्थल, धर्म-कर्म करके संसार को ठगकर कोष भरने का एक-मात्र हेतु और आत्मा की शान्ति है[७] वहाँ माँ के लिए भी वह सर्वस्व है। कारण, माँ को कोकिल, कमल, कुन्दकली, झरना, समुद्र, सूर्य-चन्द्रमा, आकाश, वरुण तथा संसार की सभी वस्तुओं ने जो स्नेह-दान दिया था और प्राणेश्वर ने उसे पूर्ण कर दिया था, वह समस्त निधि बेटे को देकर भी वह अकिंचन न होकर और भी सम्पन्न हो गई है।[८] इस प्रकार माता-पिता के मन की कामनाएँ, भावनाएँ और कल्पनाएँ 'प्रवाल' का बड़ा आकर्षण हैं।

कुछ जड़-चेतन पदार्थों को लेकर रायसाहब ने जीवन-व्यापी रूपों की व्यंजना का भी प्रयत्न किया है। झरना उनको बताता है कि पृथ्वी के हृदय में जहाँ ज्वाला है वहीं करुणा-कल्लोलिनी है।[९] नदी की पंकिल धारा कैसी ही क्षीण हो हमें अपने उद्देश्य की ओर बढ़ने का सन्देश देती है,[१०] खिले पाटल को हम प्रेम से अपनाते हैं और मुरझाए हुए को घृणा से फेंक देते हैं, यह स्वार्थमय प्रेम का सूचक है; क्योंकि जहाँ स्थायित्व नहीं वहाँ प्रेम में स्वार्थ का समावेश हो जाता है।[११] तितली कभी पुष्पों को छोड़कर नहीं जाती, इससे यह परिणाम निकलता है कि नित्य और निरन्तर होने वाले प्रेम में कभी कमी नहीं आती,[१२]

१. 'प्रवाल', पृ० २७।
२. वही, पृ० २६।
३. वही, पृ० ३१।
४. वही, पृ० ३३।
५. वही, पृ० ३४।
६. वही, पृ० ३०, ३५।
७. वही, पृ० २८।
८. वही, पृ० ३६।
९. 'छाया-पथ', पृ० ४।
१०. वही, पृ० ५।
११. 'साधना', पृ० ६३।
१२. 'छाया-पथ', पृ० २१।

वीणा का खोखलापन ही उसे पीड़ा के सुख का अनुभव कराता है जिससे वह करुण विलाप करती है।[1]

प्रकृति के प्रति उनका सहज अनुराग है। सूर्य, चन्द्र, नदी, निर्झर, संध्या, प्रभात, बादल, बिजली आदि पर उन्होंने एक भोले और जिज्ञासु हृदय के साथ विचार किया है। उनका वर्णन करके उनकी परोपकार-वृत्ति से अभिभूत होना और वही बन जाने की कामना करना उन्हें विशेष प्रिय है।[2] पर्वत-प्रदेश के सौन्दर्य का उन पर विशेष प्रभाव है—"कैसा उत्तम स्थान है। दूर-दूर तक के रमणीय दृश्य यहाँ से दिखाई पड़ते हैं। वह देखो, समभूमि पर नदियाँ और जंगल कैसे भले मालूम पड़ते हैं। मानो वसुन्धरा ने अपनी अलकों को मोतियों की लड़ियों से अलंकृत किया है। क्षितिज में रंग-बिरंगे बादल उसकी साड़ी की भाँति शोभित हो रहे हैं। वह पश्चिम दिशा दिवाकर को अनुरागपूर्वक निमन्त्रित कर रही है। चारों ओर देखते रहिए और प्राणपूर्ण पवित्र पवन पान करते जाइए, पर जी नहीं अघाता।"[3] वे प्रकृति के सौन्दर्य से मुग्ध होकर उसमें लीन हो जाते हैं।[4]

रायसाहब की भाषा-शैली अत्यन्त परिमार्जित और संयत है। उसमें न तो श्री वियोगी हरि की आलंकारिकता है और न श्री चतुरसेन शास्त्री की व्यावहारिकता; रवीन्द्र की सहज भावाभिव्यक्ति के अनुकरण पर जिस नये ढंग की रचना उन्होंने की उसके लिए एक सहज स्वाभाविक भाषा की ही आवश्यकता थी। स्वभावत: वह भाषा संस्कृत की ओर झुकी है, परन्तु उसमें देशज और उर्दू-फारसी के शब्दों का पर्याप्त समावेश है। यदि यह कहा जाए कि उनकी भाषा का आकर्षण ही ये देशज और उर्दू-फारसी के शब्द हैं, तो अत्युक्ति न होगी। किस प्रकार वे इन शब्दों से अपनी भाषा को प्रवाहपूर्ण बनाते हैं, यह देखिए :

१. "मेरे गीत आनन्द-सौरभ से बसे हुए हैं।"[5]
२. "तुम औचक आकर अपनी धरोहर माँग बैठोगे तब तुम्हें मेरा प्रेम और परिश्रम प्रकट होगा।"[6]
३. "देखता क्या हूँ कि वे पाँव-पियादे मेरी ओर आ रहे हैं।"[7]
४. "न कहीं तम है न **चोरचाई का डर**। तनिक-तनिक से भी खटकों को समस्त निशा, सुनने के लिए मेरे कान **पूर्णरीत्या** लग रहे हैं।"[8]
५. "उनके फूलों को लोढ़कर मैं ये मालाएँ बनाता हूँ।"[9]
६. "इन्हें मैंने अपने प्रेमाश्रुओं से सींच-सींचकर **टटका** और **हिम-सदृश शीतल**

१. 'छाया-पथ', पृ० २५।
२. वही, पृ० १६।
३. 'साधना', पृ० ८८।
४. वही, पृ० २३, ६७, १०३।
५. वही, पृ० २५।
६. वही, पृ० ३५।
७. वही, पृ० ७२।
८. वही, पृ० ७५।
९. वही, पृ० ७८।

परन्तु **जीवितोष्मापूर्ण** बनाए रखा है।"[1]

७. "अपनी **राममोटरिया** उठाकर चलता बना।"[2]

८. "छोटे-छोटे क्षुपों और वृक्षों के बाद दो-चार बड़े-बड़े वृक्ष दिखाई देते थे जो आकाश की हल्की आसमानी यवनिका से निकले पड़ते थे। **यत्र-कुत्र पत्थर के गोल ढोके** पानी के बाहर कछुए की पीठ-से निकले हुए थे।"[3]

९. "उन्होंने चेत कराया और मैं अपने सामान से दुरुस्त हो गया।"[4]

१०. **गिरि-गह्वरों** में घुसकर उनका रहस्य खोजता हूँ। ज़ोर से **हौरा** करता हूँ।"[5]

११. "बच्चे ही तो ठहरे छैला उठे।"[6]

१२. "तुम बार-बार अपने पंजे फैलाकर चुक्का-पुक्का बता रहे हो।"[7]

१३. "तुम भी तो कुछ ऐसा ही ऊत सूत करते थे।"[8]

उदाहरण संख्या ४ में 'चोरचाई का डर' और 'पूर्णरीत्या', ६ में 'टटका' और 'हिम-सदृश शीतल' और 'जीवितोष्मापूर्ण', ७वें में 'राममोटरिया', ८वें में 'यत्र-कुत्र पत्थर गोल ढोके', १०वें में 'गिरि-गह्वरों' और 'हौर' करना आदि देशज, उर्दू, फारसी और संस्कृत के सम्मिलित शब्दों के उदाहरण हैं। शेष में देशज शब्दों का ही चमत्कार है। इसके साथ ही व्रजभाषा के भी प्रयोग मिलते हैं :

१. "मैं विमल प्रभा के पास कितने **काल लौं** रहा हूँ।"[9]

२. "उसकी लाठ उसके अस्थि-पंजर-सदृश **अब लौं** खड़ी है।"[10]

३. "अपनी छटा से मेरे **हिये को जुड़ा रहे हौ।**"[11]

'छाया-पथ' और 'प्रवाल' में क्रिया-पद 'हो' के स्थान पर 'हौ' का प्रयोग पग-पग पर मिलता है।[12] इससे स्वाभाविकता बढ़ी ही है, घटी नहीं। कुछ शब्दों का चामत्कारिक प्रयोग भी हुआ है :

१. "इसका समस्त अशिव लेकर तुम इसके 'शं-कर' बनते हो।"[13]

२. "हे स्वभाव के सन्तान ! न तुझमें सुमन का सहज सौन्दर्य ढकने वाला पर्दा—

---

१. साधना, पृ० ८२।
२. वही, पृ० ९८।
३. 'छाया-पथ', पृ० ६।
४. वही, पृ० ९।
५. 'प्रवाल', पृ० ४।
६. वही, पृ० २१।
७. वही, पृ० ३४।
८. 'साधना', पृ० ७३।
९. वही, पृ० ४५।
१०. वही, पृ० ८७।
११. वही, पृ० ३८।
१२. 'साधना', पृ० ३७, ४६, ५०, ५१, 'प्रवाल', पृ० ३१, ३३।
१३. 'साधना', पृ० २१।

पंखड़ियों का पटल समूह ही है।"[1]

प्रतीकों में 'कुटी' (जन्म-मरण के बन्धन के लिए), 'कच्चा घट' और 'टूटी-फूटी डोंगी' (नश्वर जीवन के लिए), 'सम्राट्' (प्रभु के लिए), 'मणियाँ' (सांसारिक वैभव के लिए), 'विहंगिनी' (आत्मा के लिए), 'हीरा' (महान् व्यक्ति के लिए), 'बादल' (कृपालु प्रभु के लिए), 'पारद' (शुद्ध ज्ञान के लिए) विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। इनके प्रतीक बड़े स्पष्ट और उपयुक्त हैं।

अलंकारों में उपमा और रूपक उन्हें विशेष प्रिय हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी मौलिक होती हैं—

१. "जिस जामुन के पेड़ के नीचे हम खड़े थे उसके सूखे पत्ते खड़खड़ाकर अन्तरिक्ष में नाचते हुए शाप-च्युत अप्सरा की भाँति जल में गिर पड़े—धीरे-धीरे आगे बढ़े।"[2]

२. "बे-इख्तियार मैंने उसकी एक मिट्टी ली। आहा! कितनी मीठी थी—कवियों की कल्पना-जैसी, प्रेमियों के अलाप-जैसी, कुलवधुओं की लाज-जैसी, नहीं-नहीं अपने ही जैसी।"[3]

रूपक भी बड़े सुन्दर होते हैं—

१. "तुम्हारे कर-काम-पल्लव अहर्निशि मेरे ऊपर दान-वर्षा कर रहे हैं।"[4]

२. "दिन का आगमन जानकर तमो भुजंगम उदयाचल की सुनहली कन्दराओं में जा छिपा।"[5]

३. "आनन्दोच्छ्वासपूर्वक मेरा हृत्कमल प्रस्फुटित हो उठता है और उसके भाव-भृङ्ग हर्ष-गुंजार करने लगते हैं जो मेरी वाणी-रूपी द्विजावली के कूजन द्वारा पुनरावृत्त होते हैं तथा मेरी कलिकांगुलियाँ चुटकियाँ बजाकर उनका ताल देती लगती हैं।[6]

अन्य अलंकारों में मानवीकरण,[7] उदाहरण,[8] व्यतिरेक,[9] उल्लेख आदि का प्रयोग हुआ है।

इनकी शैली में चित्रोपमता का विशेष गुण है। जिस किसी दृश्य का वर्णन करते हैं उसका चित्र-सा खड़ा कर देते हैं। रूपक और अन्योक्ति-प्रधान शैली से भिन्न जो प्रतीकात्मक शैली इन्होंने अपनाई है उसमें ये मानसिक दशाओं के चित्र अंकित करने में भली-भाँति सफल हुए हैं। 'साधना' में उसका बहुत अच्छा प्रयोग हुआ है। वैसे ये विषयानुकूल शैली बदल लेते हैं। पर उनमें सादगी और अकृत्रिमता सभी विद्यमान रहती हैं। धीर-गम्भीर गति से ही इनकी भाषा चलती है, आवेश का उसमें नाम नहीं है। नीचे की पंक्तियों

१. 'छाया-पथ', पृ० ७।
२. 'प्रवाल', पृ० २३।
३. 'साधना', पृ० ३७।
४. वही, पृ० ५८।
५. 'छाया-पथ', पृ० ५६।
६. वही, पृ० ५७।
७. 'साधना', पृ० ५७, ७८, ८४।
८. वही, पृ० ६२, ११२।
९. 'छाया-पथ', पृ० १८।

में कितनी सरलता से वातावरण तथा मानसिक दशा का चित्र अंकित कर दिया गया है—

"मैं भी दीपक बढ़ाकर अन्धकार में विश्राम कर रहा हूँ। यदि कहीं जुगनू भी चमक जाता है तो आँखों में आग-सी लग जाती है। अचानक मेरा मन उस धुँधली लौ की ओर जाने को क्यों मचल उठता है, जो इस विशाल नदी के उस सुदूर किनारे पर टिमटिमा रही है और जिसकी छाया सुवर्ण मानदण्ड का रूप धारण करके उसकी थाह ले रही है।"[1]

सामूहिक रूप से उनकी कृतियों की शैली पर विचार करें तो हम पाएँगे कि 'साधना' की शैली संस्कृत की ओर झुकी हुई है और 'छाया-पथ' अथवा 'प्रवाल' की व्यावहारिकता की ओर। लेकिन दोनों प्रकार की शैलियों में स्वाभाविकता है। 'साधना' में प्रार्थना-शैली में आत्म-विवेदन की प्रधानता है तो 'छाया-पथ' में कथा-शैली और वार्तालाप-शैली में जीवन के सत्यों का साक्षात्कार किया गया है। 'प्रवाल' में उद्गार शैली है, जो उनकी अपनी वस्तु है। रायसाहब से पहले गद्य-काव्य की उपन्यासपरक शैली थी, गद्य-गीत की शैली नहीं। गद्य-गीत की शैली का आविष्कार उन्हें स्वयं करना पड़ा। रवीन्द्र का अनुकरण होते हुए भी उसकी प्रतिष्ठा का श्रेय उन्हें मिलना उचित ही है। श्री आत्मानन्द मिश्र ने उनके विषय में ठीक ही लिखा है, "रायसाहब ने एक ऐसी शैली का शिलान्यास किया, जिसमें यथेष्ट प्रवाह के साथ परिमार्जित भाषा की कोमल-कान्त पद-माधुरी का समुचित योग था। आपकी भाषा में न व्यावहारिकता थी और न संस्कृत-पदावली की जटिलता। कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रभाव से आपने सर्वप्रथम आध्यात्मिक गद्य-काव्य लिखना आरम्भ किया था, अतएव आपको रहस्योन्मुख भावात्मक गद्य-काव्य का प्रवर्त्तक कहना अत्युक्ति न होगी।"[2]

श्री वियोगी हरि

श्री वियोगी हरि का जन्म चैत्र शुक्ला रामनवमी संवत् १९५३ विक्रमी को छतरपुर (बुन्देलखण्ड) में हुआ था। जिस समय आप छः महीने के थे उसी समय आपके पिता का स्वर्गवास हो गया और आप अपने नाना अच्छेलाल तिवारी के यहाँ चले गये। वहाँ उनका लालन-पालन बड़े लाड़-चाव से हुआ। तिवारीजी धार्मिक व्यक्ति थे और अच्छे संगीतज्ञ थे तथा सितार-वादन में निपुण थे। इसलिए छुटपन में ही उन्हें अनेक दोहे-चौपाइयाँ कण्ठस्थ करा दिए। उनके स्नेह से इनकी बुद्धि का विकास होने लगा और आठ वर्ष की छोटी अवस्था में ही इन्होंने गणेशजी पर एक कुण्डलिया रच डाली। कुछ समय बाद श्री रामचन्द्रजी पर बहुत-से दोहे भी इन्होंने बना डाले।

इनके हिन्दी-संस्कृत-अध्यापक पं० अनन्तराम त्रिपाठी बिना छड़ी की पढ़ाई नहीं मानते थे, पर वियोगी हरिजी अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण कभी उनके कोप के भाजन न हुए। १८ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने मैट्रिक पास कर लिया। ये खेल-कूद में रुचि नहीं रखते थे, पर व्यायाम से इन्हें प्रेम था। शेष समय में संस्कृत तथा हिन्दी के ग्रन्थों का अध्ययन करते थे।

---

१. 'साधना', पृ० ५५।

२. 'सुधा', वर्ष १२, खण्ड १, संख्या २।

यों तो इनकी साहित्य में स्वाभाविक रुचि थी, परन्तु श्री गंगाधर व्यास तथा लाला भगवानदीन, जो उन दिनों छतरपुर में थे, इनके लिए वरदान सिद्ध हुए। उनके सम्पर्क से इनकी काव्य-प्रतिभा का समुचित विकास हुआ। परिणामस्वरूप मिडिल में ही 'मेवाड़-केसरी' खण्ड-काव्य तथा 'वीर हरदौल' नाटक लिखे। मैट्रिक में आते-आते आपने 'प्रेम पथिक', 'प्रेम शतक', 'प्रेम मन्दिर', 'प्रेम परिषद्', 'प्रेमांजलि' आदि प्रेम-धर्मानुयायी रचनाएँ कीं, जो प्रेम मन्दिर, आरा से छपीं।

इनके जीवन की सबसे बड़ी प्रेरक घटना छतरपुर की तत्कालीन महारानी श्री कमलकुमारी (जुगलप्रिया) के सम्पर्क में आना है। वे धर्मप्राण और आध्यात्मिक वृत्ति की महिला थीं। सन्त और वैष्णव साहित्य की गंगा में वे निरन्तर अवगाहन करती रहती थीं। उनको वे अपनी धर्म-माँ कहते थे। उनके साथ तीन बार उन्होंने तीर्थयात्रा की। उनके प्रभाव से उनकी रुचि और भी अधिक धार्मिक हो गई और उन्होंने विवाह न करने का निश्चय कर लिया। गृह-कलह भी एक कारण था, जिससे उन्होंने विवाह न किया।

तीर्थयात्रा के सिलसिले में इलाहाबाद आए तो श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन से परिचय हो गया। यह परिचय घनिष्ठता में बदला और हरिजी उनके परिवार के एक सदस्य बन गए। टण्डनजी की सादगी, निरभिमानता और तपस्या का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। प्रयाग में रहते हुए उन्होंने चार वर्ष तक 'सम्मेलन पत्रिका' का सम्पादन किया। साथ ही 'छद्मयोगिनी' नाटिका, 'साहित्य विहार', 'कवि कीर्तन' और 'प्रबुद्ध-यामुन' पुस्तकें भी लिखीं, जिनमें से अन्तिम पुस्तक में हरिजी के जीवन का प्रतिबिम्ब कई स्थलों पर मिलता है। 'व्रज माधुरी सार', 'विनय पत्रिका' (हरितोषणी टीका), 'सूर-सूक्ति-सुधा', 'बिहारी संग्रह', 'बुद्ध-वाणी' आदि सम्पादित पुस्तकें भी इसी समय निकलीं। यहीं उन्होंने 'तरंगिणी' नामक गद्य-काव्य-कृति की रचना की। कुछ समय आपने सम्मेलन के हिन्दी विद्यापीठ में भी कार्य किया।

जब टंडनजी लाहौर चले गए तो आप पन्ना राज्य में आ गए। यहाँ भी आप राज्य के कुटुम्बी बनकर रहे। 'प्रार्थना', 'पगली', 'प्रेम योग', 'भावना', 'ठण्डे छींटे', 'अन्तर्नाद', 'अनुराग वाटिका', 'वीर सतसई' आदि पुस्तकें यहीं लिखी गईं। 'वीर सतसई' में वीररस को रसराज सिद्ध करके इन्होंने कमाल कर दिया। इस पर सम्मेलन के अठारहवें अधिवेशन में मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया। इस प्रसंग पर स्व० श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने कहा था, "महाकवि पद्माकर के बाद ऐसी उत्कृष्ट रचना किसी ने नहीं की। मेरा तो अनुमान है कि श्री वियोगी हरि 'बिहारी' के ही अवतार हैं। साथ ही मेरा यह भी अनुमान है कि भविष्य में दो सौ वर्षों तक शायद ही ऐसी रचना देखने को मिले।" वस्तुतः व्रजभाषा में वीररस की गंगा बहाकर उन्होंने शृंगार की जमी हुई काई को धो दिया। 'प्रेम योग' में बड़ी विलक्षण शैली में प्रेम-जैसे गहन विषय का प्रतिपादन किया है। 'अनुराग वाटिका' के भक्ति के पद तो प्राचीन वैष्णव कवियों की याद दिलाते हैं।

सन् १९३२ में हरिजी को 'हरिजन सेवक संघ' ने बुला लिया और वे 'हरिजन सेवक' के सम्पादक बना दिये गए। इससे पहले पन्ना से 'पतित बन्धु' निकालकर आप

दलितवर्ग की सेवा कर चुके थे। इसलिए आपने सन् १९३८ तक बड़ी योग्यतापूर्वक 'हरिजन सेवक' का सम्पादन किया। भाषा के सम्बन्ध में गांधीजी से उनका मतभेद था, इसलिए वे 'हरिजन सेवक' से तो अलग हो गए परन्तु हरिजनों की जो लगन उनके हृदय में लग गई उसके परिणामस्वरूप वे 'हरिजन उद्योगशाला' के आचार्य बन गए। तब से आज तक वे निष्काम भाव से हरिजन-सेवा कर रहे हैं। हरिजन-सेवा को वे सेवा नहीं, अपनी आध्यात्मिक प्रकृति का स्वाभाविक विकास मानते हैं। गांधीजी की राजनीति से उन्हें मतभेद भले ही हो, अध्यात्म उनका भी वही है, जो गांधीजी का था। यद्यपि क्रियात्मक सेवा-कार्य के कारण उन्हें लेखन का अवकाश नहीं मिलता, तथापि मननशील होने के कारण वे 'सन्त वाणी', 'विनोबा के विचार' और 'मेरी हिमाकत'-जैसी रचनाएँ प्रस्तुत कर सके हैं। 'मेरी हिमाकत' तो व्यंग्यपूर्ण शैली में लिखी गई अपने ढंग की अनूठी रचना है।

आपने दर्शन का गहरा अध्ययन किया है और सन्त और वैष्णव-साहित्य का सूक्ष्म दृष्टि से पारायण किया है। वे सन्त-साहित्य के सामने आधुनिक वादों के साहित्य को पसन्द नहीं करते, परन्तु प्रसादजी की 'कामायनी' को 'महावाणी' और 'पुण्य-सलिला' भागीरथी कहते हैं। वे आदर्शवादी हैं और साहित्य को भी इसी दृष्टि से देखते हैं। 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त उन्हें पसन्द नहीं। वे रचनात्मक कार्यकर्ता के नाते जन-सेवा को ही साहित्य का लक्ष्य मानते हैं और आध्यात्मिकता को जीवन का सारभूत तत्त्व। उनका जीवन सेवा, त्याग और तपस्या का जीवन है।

गद्य-काव्य

हिन्दी में भारतेन्दु शैली के गद्य-काव्यों के प्रतिनिधि श्री वियोगी हरि मूलतः कवि हैं। व्रजभाषा में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण काव्य-कृतियाँ दी हैं और भक्ति तथा सन्त-साहित्य का सम्पादन किया है। साथ ही गांधीजी के जीवन-दर्शन को उन्होंने आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है। इन सबके परिणामस्वरूप उनके गद्य-काव्यों में भक्ति, राष्ट्रीयता, विश्व-बन्धुत्व आदि की भावनाएँ स्वभावतः आ गई हैं।

उनकी गद्य-काव्य-कृतियाँ हैं—'तरंगिणी', 'अन्तर्नाद', 'भावना', 'प्रार्थना', 'ठण्डे छींटे' और 'श्रद्धा-कण'। 'तरंगिणी' उनके गद्य-काव्यों का सर्वप्रथम संकलन है। इसमें उनका विरह-विदग्ध हृदय अपने प्रभु के चरणारविन्द में रहने को विकल हो उठा है—"इस महापतित, प्रेमोन्मत्त, प्रपन्न एवं विरही हरि की प्रणय-उत्कण्ठा आपके सरस सस्नेह राजीव नेत्रों में स्थान पा सके। बस, इसी आशा से आपके वांछनीय विरह से आर्द्र इस कठोर और नीरस हृदय से सरल स्रोत निकलने लगे, जो आज 'तरंगिणी' के रूप के दिखाई दे रहे हैं।"[१] इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य क्या है इस विषय में प्रस्तावना-लेखक श्री शिवाधार पाण्डेय, एम० ए० का कथन है—"पुस्तक का मुख्य उद्देश्य भावों की ऊँचाई, गहराई, मिठास और नयेपन की ओर है। परमात्मा और प्रकृति, स्वदेश और समाज, सुहृदों और बालकों का हृदय, मानव-कर्तव्य और मानस-मिलन ये इसके गूढ़ विषय हैं। ढंग 'गीतांजलि का है, परन्तु

१. 'तरंगिणी' के 'उत्सर्ग' में स्वयं लेखक।

रंग रवीन्द्र बाबू का नहीं है।"[१] 'तरंगिणी' से यह पता चलता है कि लेखक की रुचि और दिशा क्या है? 'अन्तर्नाद' में 'तरंगिणी' की 'भावना' का ही विकास हुआ है। 'सत्यं शिवं सुन्दरं', उद्‌बोध, अग्नि, उद्‌गार और उद्धार, दो-चार शीर्षकों में अन्तर्नाद के गद्य-काव्यों को विभाजित किया गया है। प्रभु-प्रेम के उद्‌गार इसमें 'तरंगिणी' की अपेक्षा कम हैं। लेखक को राष्ट्रीय भावना और गांधी-सम्पर्क ने प्रभावित कर दिया है, इसलिए वह भारतवासियों को उनके कर्त्तव्य का ज्ञान कराने और इस गौरवशाली देश को दासता की शृंखला में जकड़ने वाले अंग्रेज़ों के प्रति घृणा उत्पन्न करने की चेष्टाओं में रत दिखाई देता है। सुधारकों और आलोचकों पर व्यंग्य और दलित के प्रति सहानुभूति के स्रोत साथ-साथ चलते हैं। यह भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का प्रभाव है।

'भावना' में शुद्ध आत्म-निवेदन है। यह उनके भक्त-हृदय की झाँकी कराने वाली कृति है। अपनी दार्शनिक मान्यताएँ और विश्वास इसमें उन्होंने दिए हैं। इसमें वे सच्चे वैष्णव-भक्त कवि के रूप में सामने आए हैं और इसमें दैन्य के साथ सख्य-भाव का अक्खड़पन और आत्म-समर्पण की भावनाएँ प्रमुख हैं। उन्होंने भावना को वैष्णव-भावना के खण्ड-काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसके आरम्भ में मंगलाचरण के स्थान पर भगवान् की प्रतीक्षा में रत उनके हृदय की मंगलमयी 'स्वागत प्रस्तावना' है और अन्त में 'भरतवाक्य' की भाँति 'तथास्तु' में भक्ति की महत्ता प्रतिष्ठित करने के लिए प्रभु से यह प्रार्थना की गई है कि "तुम्हारी प्रेमलता प्रेमियों के तरुण भाव तमालों को नित्य आलिंगन दिया करे और भावुकों के स्नेह नीरद तुम्हारी स्नेहदायिनी सतत हृदय से लगाए रहें।"[२] 'तरंगिणी' की अपेक्षा भावना की शैली सरल है। यहाँ उनकी दास्य-वृत्ति का निखार है, जबकि 'तरंगिणी' में सख्य-वृत्ति अपने पूरे ज़ोर पर थी। पांडित्य-प्रदर्शन भी 'तरंगिणी' में जितना है उतना भावना में नहीं। 'भावना' एक पूर्ण रचना है, जिसमें हरिजी ने भक्ति-भावना के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है।

'प्रार्थना' भावना के विचारों का विस्तार करने वाली कृति है। उसमें सर्व-धर्म-समन्वय, विश्व-बन्धुत्व और दोनों के व्रत, प्रेम, भावना के अतिरिक्त अपने आत्म-परिष्कार की भावना और मिल गई है। 'भावना' की शुद्ध भक्ति में 'प्रार्थना' की इन भावनाओं ने मिलकर उनकी वैष्णव-भावना को और भी व्यापकता दे दी है।

'श्रद्धा-कण' अपने ढंग की अकेली रचना है। विश्व-वन्द्य महात्मा गांधी के जीवन और उनके कार्यों तथा सिद्धान्तों का दिग्दर्शन इसमें कराया गया है। किस प्रकार उस महात्मा ने स्वतन्त्रता का प्रकाश फैलाया, किस प्रकार सत्य और अहिंसा के प्रयोग किये, किस प्रकार दलित मानवता को आशा की किरण दिखाई, किस प्रकार साम्प्रदायिकता से लड़ा आदि के साथ प्रार्थना-भूमि पर उसके प्रवचनों के भाव का भी वर्णन है। अन्त में उसकी शिक्षाओं को जीवन में उतारने की शुभ सम्मति दी गई है।

स्वयं गांधीजी की दृष्टि में पर-पीड़ा को जानने वाला ही परम वैष्णव हो गया

---

१. 'तरंगिणी' प्रस्तावना, पृ० ४।
२. 'भावना', पृ० ६३।

है।[1] श्री वियोगी हरि ने उसी को अपने गद्य-काव्यों में व्यक्त किया है। तुलसी या सूर अथवा कोई भी गांधीवादी दृष्टिकोण को अपनाकर जो कुछ कहेगा-सुनेगा वह वियोगी हरि के गद्य-काव्यों से मिलती-जुलती ही बात कहेगा।

श्री वियोगी हरि के गद्य-काव्य का मूल स्वर भक्ति का है। श्री राय कृष्णदास की भाँति रहस्योन्मुख प्रेम को उन्होंने अपनी रचनाओं में आग्रह के साथ स्थान नहीं दिया। उनका आराध्य वही है, जो तुलसी और सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्तों का है। वे तुलसी की भाँति वादों के चक्कर में न पड़कर उनसे परे अपने चित्त-चंचरीक को प्रभु के पाद-पद्मों में लगा देना चाहते हैं।[2] रसखान की भाँति उपनिषदों के मन्थन, साधना की कठिनाइयों, उपासना के परिश्रम में भी न पाकर उनकी कृपा-याचना करते हुए प्रेम द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं।[3] और अंग-प्रत्यंग से उसकी सेवा करना चाहते हैं।[4] 'भक्तों के सौभाग्य' नामक गद्य-काव्य में उन्होंने अपने प्रभु को प्रह्लाद, ध्रुव, निषाद, अहिल्या, सुदामा, गोपी, शबरी, कबीर और मीरा सबका प्रेम-भाजन बना दिया है।[5] इससे भी आगे बढ़कर वे उसे राम, अल्लाह, यहोबा, बुद्ध सभी नामों से पुकारने में संकोच का अनुभव नहीं करते और इन्हें उसी की प्यारी सूरत मानते हैं। काबा, काशी, बौद्धगया, जेरूसलम सब उसके स्थान हैं और संस्कृत, अरबी, लैटिन सब उसकी तुतली बोलियाँ।[6] लेकिन वे भगवान् को रिझाने के लिए वेद, धम्मपद, अवस्ता, बाइबिल, कुरान आदि का पाठ नहीं करना चाहते, कारण वह विश्व-व्याप्त है। उसे प्राप्त करने के लिए प्रेम का ढाई अक्षर आना आवश्यक है।[7] वे सब धर्मों को रंग-बिरंगी प्यालियाँ और उनमें प्रभु के गुण-गान को 'अमी-रस' मानते हैं तथा धर्म के नाम पर लड़ने वाले मज़हबियों को मतवाला कहते हैं।[8]

वह प्रभु बड़ा दयालु है। उसने दया करके मनुष्य को बादल, समुद्र, खेत, उपवन आदि प्रकृति की ऐसी चीज़ें दी हैं जिनमें मनुष्य सब दुःख भूल जाता है।[9] उसकी करुणा त्रितापनाशिनी, पवित्र और सरस सरिता है।[10] उसी की कृपा से महान् कार्य होते हैं। वही वासना का क्षय करके साधना की सिद्धि कराता है।[11] इसीलिए वह प्रभु से दया की भीख माँगते हैं।[12]

---

१. 'वैष्णव जन तो तैने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।' वाला नरसी मेहता का भजन उनको विशेष रूप से प्रिय था।
२. 'भावना', पृ० ३८।
३. वही, पृ० ३२।
४. 'तरंगिणी', पृ० ८।
५. 'भावना', पृ० ६४।
६. 'प्रार्थना', पृ० ३।
७. 'वही', पृ० २६।
८. 'वही', पृ० १६।
९. 'तरंगिणी', पृ० ६।
१०. 'भावना', पृ० ५।
११. वही, पृ० ६।
१२. 'प्रार्थना', पृ० १५।

उनका प्रभु प्रेममय है[१] इसलिए वे उसे प्रेम से ही प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी भक्ति भी 'प्रेमलक्षण परा भक्ति' है,[२] जिससे ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों हेय हैं। इस प्रेममय प्रभु को रहस्यवादियों की भाँति वे कभी-कभी 'दिव्य-लोक' में प्राप्त करने की बात कहते हैं।[३] और एकान्त मिलन में अकस्मात् प्रियतम मिलन का आनन्द भी प्राप्त करते हैं।[४] परन्तु यह उनका वास्तविक मार्ग नहीं है, उनका वास्तविक मार्ग है प्रभु को कृति और दीन-दुखियों में खोजना।[५] प्रकृति का उल्लास उसकी प्रसन्नता का ही परिणाम है।[६] एक स्थान पर वे कहते हैं—"वह तो सघन वन की लहलही पत्तियों के साथ खेलता होगा, वसन्त वायु के स्वर में गाता होगा, गज-गामिनी नदी की कल्लोलमयी तरल तरंगों में नृत्य करता होगा, इन्द्र-धनुष के सप्तवर्णीय प्रकारावृत्त गगन-वाटिका में केलि करता होगा, विद्युत् के आभूषण अथवा श्वेत-पीत नीरद के परिधान धारण किए प्रकृति के राज्य-सिंहासन पर विराजमान होगा और पहाड़ियों तथा घाटियों पर पक्षि-संघ के मधुर शब्द के साथ अपनी बाँसुरी का स्वर मिलाता होगा।

वह निष्कपट सरल हृदय में बाल-हास्य में, प्रेम-चितवन में, करुणापूर्ण आह्वान में, तल्लीन गान की तान में, परिचुम्बित मुख-माधुर्य में, वियोगी आँसुओं में, कर-स्पर्श की शीतलता में, दीन की शोकाकुल आह में, तथा प्रियजनों के आलिंगन में पवित्र निवास करता होगा। अपने हृदय-कपाट खोल दे और उसके भीतर पतित एवं तिरस्कृत जनता का प्रवेश होने दे। अपने अन्तरंग मानसरोवर को विश्व-प्रेम से इतना स्वच्छ कर ले कि उसमें आपके व्यक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने लगे।[७]

भगवान् को इस प्रकार व्याप्त देखने के लिए साधना की आवश्यकता है और वियोगी हरि में उस साधना का अभाव नहीं है। वे उसके लिए वासना का क्षय आवश्यक मानते हैं। वासना-वसन को छिन्न-भिन्न करके प्रभु के चरणों में अपने क्षुद्र हृदय को विसर्जित करने की तीव्र लालसा उनके हृदय में है।[८] वासना के क्षय होने पर ही आत्मा का परिष्कार होता है और आत्मा का परिष्कार होना जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने की भूमिका है।[९] अहंकार दूसरा शत्रु है जो प्रभु के साथ साक्षात्कार होने में बाधक है।[१०] स्वार्थ की तो उन्होंने निन्दा की है और उसे दुःख का मूल बताया है।[११]

अलंकार, वासना और स्वार्थ—इन तीनों का नाश होने से मनुष्य की आत्मा

---

१. 'तरंगिणी', पृ० ५।
२. 'भावना', पृ० २६।
३. 'अन्तर्नाद', पृ० २३।
४. 'तरंगिणी', पृ० १६, ४८।
५. 'अन्तर्नाद', पृ० १७; 'तरंगिणी', पृ० ५३, ५४, ६५।
६. 'अन्तर्नाद', पृ० २७।
७. 'तरंगिणी', पृ० ६१-६२।
८. वही, पृ० ३६-३७।
९. वही, पृ० ६४।
१०. 'अन्तर्नाद', पृ० ६३; 'प्रार्थना', पृ० २०।
११. 'तरंगिणी', पृ० ७३, ७५।

परिष्कृत हो जाती है, उसको प्रभु का दिव्य आभास होने लगता है। वह अपनी समस्त संकीर्ण सीमाएँ नष्ट करके विस्तार प्राप्त कर लेती है और तल्लीनता में एकरूपता के कारण द्वैत भाव का अभाव हो जाता है। इस प्रकार द्रष्टा का दृश्य में, उपासक का उपास्य में और प्रेमी का प्रेम में लय हो जाता है।[१] जो व्यक्ति परिष्कृत आत्मा वाला होगा, उसका हृदय उज्ज्वल होगा। वह सच्ची ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करके उस स्वर्गीय आनन्द को उपलब्ध करेगा, जिसके लिए मनुष्य अनेक जन्मों से भटकता आ रहा है। वह कभी माया के चक्कर में नहीं फँसेगा।[२]

वियोगी हरिजी का काव्य प्रभुमय है। प्रत्येक स्थिति में उनका प्रभु के साथ सम्पर्क बना रहता है। उनकी प्रीति लता है तो प्रभु तमाल, वह चातकी है तो प्रभु श्याम घन, वह तड़पती मछली है तो प्रभु महासागर।[३] और उनके मन की स्थिति यह है कि यदि वह मृग है तो प्रभु की स्मृति कस्तूरी, वह मधुकर है तो प्रभु सरोज, वह पतंग है तो प्रभु दीपक, वह तरंग है तो प्रभु सागर, वह लौह है तो प्रभु चुम्बक।[४] उनको प्रभु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से सन्तोष नहीं हो सकता। वह तो गोपियों की भाँति उसी के प्रेम को अपनी निधि मानते हैं।[५] प्रभु का प्रेम मिलेगा इसी आशा से वे मुक्ति का भी तिरस्कार करते हैं और प्रभु की चितवन के फन्दे में फँसकर अपने मन-मानिक को उसकी मुस्कान की डिबिया में सम्पुटित कर देना चाहते हैं।[६] उसके सामने अपने हृदय को खोलकर रख देते हैं और अपनी बुराइयों को एक-एक करके दिखाते हैं।[७] कभी प्रभु को उपालम्भ देते हैं, कभी यह सोचकर अपनी बुराइयों पर गर्व और कमज़ोरियों पर अभिमान करते हैं कि प्रभु उन्हींसे पतितपावनता के कर्तव्य का निर्वाह करते हैं।[८] उनकी एकमात्र कामना यही रहती है कि वे दीन-दुखियों में ही प्रभु के दर्शन करें।[९] वे उन भक्तों की सोममय गुण-गाथा गाते-गाते थकते नहीं।[१०] प्रभु के ऐश्वर्य की अपेक्षा वे उसके माधुर्य के ही चाहक और गाहक हैं, इसलिए अवध या गोकुल की लीला-भूमि में ही भक्ति-भावना से विभोर होने को अधीर हो रहे हैं।[११]

भक्ति के अतिरिक्त दूसरी भावना वियोगी हरि के गद्य-काव्यों में राष्ट्र-प्रेम की है। वे अतीत गौरव के वैतालिक हैं, इसलिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु, यदि तुमको मुझे भवसागर में ही भेजना है तो उस परम पवित्र देश में जन्म देना, जहाँ की माटी भी

---

१. तरंगिणी, पृ० १।
२. 'अन्तर्नाद', पृ० ४८, ५४।
३. 'भावना', पृ० ३।
४. वही, पृ० ७।
५. वही, पृ० १६, ३८।
६. वही, पृ० ५४।
७. 'प्रार्थना', पृ० १८, १६, २६।
८. 'भावना', पृ० २४, ६२।
९. वही, पृ० ५८।
१०. 'तरंगिणी', पृ० १२।
११. 'भावना', पृ० ६४।

खाकर आपने त्रिलोक दिखा दिया था।[1] उन्हें स्वर्ग को भी तृणवत् समझने वाले पर्ण-कुटीरवासी मन्त्र-द्रष्टा ऋषि की सन्तान और ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव करने वाले गुरु का शिष्य होने का अभिमान है, इसीलिए वे भारतवासियों को कार्य-भूमि में स्वकर्तव्य कर दिखाने के लिए आह्वान करते हैं।[2] वे कहते हैं, "यदि तुम्हारे अवयव भारत-माता के स्तन्य-पान से परिपुष्ट हुए हों, यदि क्षणस्थायी चमक-दमक की सभ्यता से तुम्हारे नयन-मुकुर मलिन न हुए हों, यदि तुम्हारे हृदय में 'स्वदेश-भक्ति' के स्रोत पराधीनता के कारण न छिड़ गए हों, तो आओ, अपने वृद्ध भारत का उद्धार करो और संसार की अन्यान्य समुन्नत जातियों में अपनी सत्ता के लिए भी स्थान लेने को समर्थ हो जाओ!"[3] स्वर्ग के सुख का तिरस्कार करते हुए वे अपनी जन्मभूमि, ऊजड़ गाँव, ऊसर खेत, टूटी-फूटी झोंपड़ी, निर्जन वन, टेढ़ी-मेढ़ी वन-वीथियों को अधिक महत्त्व देते हैं।[4] अंग्रेज़ों ने हमें गुलाम बनाकर हमारे संस्कारों और वृत्तियों को विकृत कर दिया है, इसका अनुभव करके वियोगी हरिजी ने उनकी बड़ी भर्त्सना की है—"तुम्हारे पदार्पण ने मन्दिर को मदिरालय, श्रद्धा को अन्धता, साधना को कवि-कल्पना और धर्म को आडम्बर बना डाला। हमारी प्राणाधिक आस्तिकता भी आज चौपट कर दी गई। आज हम न लोक के रहे, न परलोक के। इतने पर भी यह कहने का दुस्साहस करते हो कि हम तुम्हें निर्मल, उदार और धार्मिक बनाने आए हैं।"[5] अंग्रेज़ों के प्रति तीव्र घृणा और उनकी कुटिलता तथा पाखंड का भण्डाफोड़ 'अन्तर्नाद' में विशेष रूप से हुआ है।

राष्ट्रीय भावना वाले उनके गद्य-काव्यों में बहुत बड़ा अंग विलासी राजाओं और फ़ैशनेबल युवकों के ऊपर तीखे व्यंग्यों से भरा है। इस वीर-भोग्या वसुन्धरा को वे नहीं भोग सकते जिन्होंने इस भूमि को दान की बछिया की तरह विदेशियों और विधर्मियों के हाथ में सौंप दिया है।[6] उन्होंने उन कवियों और गायकों को भी आड़े हाथों लिया है जो देश की वर्तमान स्थिति को भुलाकर विलास के गीत गाते और मस्त रहते हैं।[7] विषमता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—"एक ओर खण्डहरों में पड़े नंग-धड़ंग आर्त्त अस्थि-कंकाल 'भूख-भूख' चिल्ला रहे हैं, दूसरी ओर सुसज्जित महलों में मखमली गद्दों पर प्याले-पर-प्याले ढल रहे हैं और उन्मादिनी रागिनी छेड़ी जा रही है। एक ओर रोमांचकारी सर्वनाश की भयावनी काली छाया हमारे अधर पर पड़ रही है, दूसरी ओर वाग्भ्रष्ट शब्द-चित्रकार अश्लील चित्र खींच-खींचकर छबीली कामिनी की लचीली लंक और रंगीली-रसीली आँख पर मर रहा है। इधर महाशक्ति भैरवी सुनने को उत्कण्ठित खड़ी है, उधर पाटल की पंखुड़ियों पर थिरकते हुए सुकुमार समीर द्वारा प्रकम्पित वसन्त-राग

१. 'तरंगिणी', पृ० १०२।
२. वही, पृ० ११२।
३. 'अन्तर्नाद', पृ० ६५।
४. वही, पृ० ६१।
५. वही, पृ० ८७, ६२।
६. वही, पृ० ५६।
७. वही, पृ० ६८, ८२।

विलासियों के निर्जीव हृदय में नाटकीय कामोद्दीपन कर रहा है।[१]

वे देश की दुर्दशा से इतने प्रभावित होते हैं कि उनका भक्त-हृदय राग-रागिनियों के मादक आलापों में स्वर्गीय संगीत की झलक न पाकर दलित-दुखियों के विलापों और पीड़ितों के करुण-क्रन्दन की ओर ही मुड़ता है और अपने प्रभु को वीणा तथा वंशी से न रिझाकर मज़दूर का प्रतिनिधि बनकर टाँकी और हथौड़े के स्वर से रिझाना चाहता है। वे 'रोटी की पुकार' सुनकर दर्शन की व्यर्थता का अनुभव करने लगते हैं। कंगालों के समर्थन में वे कहते हैं—'वेदान्तीजी ने ब्रह्मानुभव भले ही कर लिया हो, पर उन्हें अभी भयंकर भूख का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हुआ। अनुभव हो कैसे, धनाढ्य भक्तजन जो बेतरह बाधक हो रहे हैं। सिर्फ चार ही दिन के लिए ब्रह्म-विद्या की पोथियाँ देकर स्वामीजी को इन भुखमरे कंगालों के बीच छोड़ दिया जाए, फिर देखें उनका ब्रह्मसूत्र वैसा ही ताजा रहता है या उसका सच्चा अर्थ समझाने में उन्हें 'रोटी महाभाष्यम्' देखने की ज़रूरत पड़ती है।"[२] अछूतों के उद्धार और समाज में उनकी प्रतिष्ठा दिलाने के लिए वे गांधीजी की वाणी को गद्य-काव्यों में उतार देते हैं।[३] वे ढोंगी पुजारियों, दम्भी सुधारकों और अनधिकारी आलोचकों को भी खरी-खोटी सुनाते हैं।[४] 'श्रद्धा-कण' में तो गांधीजी के सिद्धान्तों की व्याख्या ही दी गई है। खादी और चर्खा, हरिजनोद्धार और दरिद्र-सेवा, श्रम और स्वावलम्बन, राष्ट्रभाषा और वैष्णवता, धर्म और राजनीति, गौ-पूजा और सर्व-धर्म-समन्वय, सर्वोदय और स्वराज्य, हिंसा और अहिंसा पर गांधीजी के मतों का संक्षिप्त भाष्य, 'श्रद्धा-कण' की पूँजी है। उनका बलिदान, उससे उनकी लोकप्रियता, गांधीवादियों की आडम्बर-प्रियता आदि पर भी उन्होंने लिखा है। अन्त में कई गद्य-गीतों में उस महामानव के गुणों को जीवन में उतारने की प्रेरणा दी गई है। एक स्थान पर वे कहते हैं—"अन्त तक वह सत्य की गहरी-से-गहरी शोध करता रहा, प्रयोगों की मानो माला ही गूँथ डाली। और वे उस सतत प्रवाह को आज भक्ति-भावना के भीतर आबद्ध कर देना चाहते हैं। प्रकाश मिले कि वे भक्तजन अनन्त असीम सत्य के आगे 'इति' की लकीर न खींचें।"[५] साम्प्रदायिकता के आधार पर जो पारस्परिक झगड़े हमारे देश में हुए और जिनके फलस्वरूप देश बँटा, उस पर वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं—"वे भूले-भटके हुए पथिक हैं। उन्हें अपनाकर दिखा दे। उन हियों के अन्धों को राह बता दे। उन पर भी दया कर, दयासागर! वे आज बेहया, खुदी को कलेजे से लगाये, बेहोश पड़े हैं। उनके अशान्त अहंकार ने उन्हें जालिम बनाकर छोड़ा है। उनका दिल दया से कैसे खाली हो गया है। सो, ऐ मेरे दाता! उन हृदय-हीनों को तू आज थोड़ा-सा दया-दान दे दे!"[६]

श्री राय कृष्णदास की भाँति इन्होंने भी शिशु को अपने गद्य-काव्यों का विषय

१. अंतर्नाद, पृ० ६८।
२. 'प्रार्थना', पृ० १७।
३. 'ठण्डे छींटे', पृ० ४३।
४. वही, पृ० ५८-५६।
५. 'श्रद्धा-कण', पृ० ५६।
६. 'प्रार्थना', पृ० २७।

बनाया है। लेकिन जहाँ रायसाहब ने बालक और माता के हृदय को बुलवाया है, वहाँ वियोगी हरि ने अपने ऊपर पड़े हुए बालक के सौन्दर्य और क्रिया-कलाप के प्रभाव को ही व्यक्त किया है।[१] वे अधीर बालक को सान्त्वना देने में अधिक सुख अनुभव करते हैं, उसके साथ खेलने में नहीं।[२] हाँ, शिशु-सौन्दर्य का चित्रण उन्होंने बड़ी रुचि से किया है।[३] एक गद्य-गीत में वे आठ-नौ वर्ष की बालिका को सदाचार की शिक्षा देते हुए दिखाई पड़ते हैं।[४] एक स्थान पर बालक को ललकार देने वाले अपने मित्र से उसे ललकारने का कारण पूछते हुए वे उस बालक की प्रशंसा करते हैं और इस प्रकार एक अच्छे बालक के गुणों का ब्यौरा देने लगते हैं।[५]

बालक के अतिरिक्त वियोगी हरि ने मित्र के सम्बन्ध में भी कई गद्य-काव्य लिखे हैं, जिनमें मित्र की महत्ता, संकट में उसको धीरज देना और मिलने पर अमित आनन्द का अनुभव करना आदि का वर्णन है।[६]

भाषा और शैली की दृष्टि से वियोगी हरि के गद्य-काव्य अलग दिखाई देते हैं। एक ओर वे गोविन्दनारायण मिश्रजी की शैली का अनुकरण करते हुए अनुप्रासयुक्त सामासिक पदावली वाली पाण्डित्यपूर्ण भाषा लिखते हैं, तो दूसरी ओर वे सहज बोधगम्य, सरल और चलती हुई हिन्दुस्तानी लिखते हैं। पहले प्रकार की भाषा उनकी प्रारम्भिक कृतियों में मिलती है, जबकि दूसरे प्रकार की भाषा गांधीजी के प्रभाव के कारण बाद की रचनाओं में मिलती है। एक तीसरे प्रकार की भाषा वह है जिसमें न पाण्डित्य-प्रदर्शन है, न चलतापन। इसमें सभी भाषाओं के सब प्रचलित शब्द स्वतः आ गए हैं। तीनों प्रकार की शैलियों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

१. "जब मैं अति विशद निर्जन अरण्य में कलरव कल कलित सुललित झरनों का सुगति-विन्यास देखता हूँ, मन्द स्रोतस्विनी सरित तट तरु-शाखा-विहीन कल कण्ठी कोकिल कुहुक-ध्वनि सुनता हूँ, प्रभात ओस-कण-झलकित हरित तृणाच्छादित प्रकृति परिष्कृत वहु वनस्पति सुगन्धित सुखद भूमि पर लेटता हूँ, तथा नाना विहंगपूर्ण सुफलित वृक्षावृत गिरि सुवर्ण रंग शुभ्र स्फटिकोपम शिलासन पर बैठकर प्रकृति छटा दर्शनोन्मत्त अर्द्धोन्मीलित साश्रु नयन द्वारा अस्तप्राय तप्त कांचन वर्ण रवि मण्डल भव कमनीय कांति की ओर निहारता हूँ तब स्वभाव सुन्दर लज्जावनत, अप्रकट सुमन-सौरभ रसिक पवन आकर, श्रवण-पुट द्वारा तेरा वीरोत्कण्ठित प्रिय सन्देश सुना जाता है।"[७]

२. "हँसने-खेलने वालों की हाँ-में-हाँ मिलाने वाले तो यहाँ कसरत से मिलेंगे और बहुत सस्ते मिल जाएँगे, पर गरीब दुखियों के सच्चे हमदर्द इस मतलब-भरी हाट में कहीं

---

१. 'तरंगिणी', पृ० ८४।
२. 'अन्तर्नाद', पृ० ३७, ३९।
३. 'तरंगिणी', पृ० ८८।
४. वही, पृ० ९४।
५. वही, पृ० ८७।
६. वही, पृ० ९१, ९८।
७. 'तरंगिणी', पृ० ५४।

विरले ही होंगे और बहुत मँहगे मिलेंगे। भले ही लोग तुम्हें पागल कहें, पर तुम तो इन 'वाह' के प्रेमियों की नहीं, बल्कि उन 'आह' के आशिकों की ही खिदमत किये जाओ! साईं मिलन की सच्ची राह आह और आँसू की ही है।"[१]

३. "और मीरा! उस बावली की बात क्यों कहोगे? तुम्हें रिझाना तो बस उसीने जाना। पर, तो भी, उसे तुम सदा खिझाते ही रहे। बुरा न मानना, उसके प्रेम की तोल में तुम तक हल्के बैठोगे। अहा! सो उसका प्रेम था, उसके हाथ में जहर का प्याला प्रेम-प्याला हो गया। और नागिनी हो गई फूलों की माला! अच्छा तुम्हीं कहो, उसके आँसुओं से अभिषिक्त लता कैसी थी। माना कि तुमने मीरा को अन्त में अपना लिया, पर पहले इतना खिझाया क्यों? प्यारे, तुम न जाने कैसे हो? तुम्हारी रीझ और खीझ का कुछ पता नहीं चलता।"[२]

उनकी भाषा में दार्शनिक शब्दावली अधिक मिलती है। 'ब्राह्मी स्थिति' और 'ब्राह्मी अवस्था' का उल्लेख उन्होंने बार-बार किया है, जो अद्वैतवाद के प्रति उनकी अभिरुचि का परिचायक है। 'तरंगिणी', 'अन्तर्नाद' और 'भावना' में अनेक गद्य-गीत दर्शन की गुत्थियों की ओर संकेत करने वाले हैं।

हिन्दी-गद्य-काव्य-लेखकों में वियोगी हरिजी अनुप्रास और रूपक के सम्राट् हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर सांगरूपक भी दिए हैं।[३] लेकिन रूपकों में जटिलता नहीं है। जैसे अनुप्रास सरल और स्वाभाविक होते हैं। जैसे कितने कर्मठ कामना-कामिनी को कण्ठ से लगाए जल-केलि में या "काव्य में कलित कलाओं का केलि कल्लोल देखकर ही विज्ञान सत्य में तन्मय हुआ है।"[४] "हे जगन्नायक, जब तू बाल रवि-रश्मियों का रँगा हुआ काषाय वस्त्र धारण किये, कृपा कटाक्ष का दण्ड लिये, प्रकृति पात्र में भिक्षा लेने को आएगा तब मैं तेरे चरण कमल अश्रु-पट से धोकर हृदय-पद्मासन पर तेरी अप्रतिम यति मूर्ति स्थापित करूँगा। हे विगत कल्मषा, मैं बड़े ही प्रेम से तेरा पात्र अपनी आत्मा से भर दूंगा।"[५]

दूसरा प्रिय अलंकार उपमा है। उनकी उपमाएँ अछूती और नवीन होती हैं :

१. "स्वच्छ चाँदनी से निखरे हुए हिमाच्छादित श्वेत शिखर ऐरावत के दाँतों से होड़ लगा रहे थे।"[६]

२. "आज तू उनकी, कच्चे दूध के समान भोली-भाली चितवन पसन्द नहीं करती।"[७]

३. "उसकी सहज दृष्टि की कमल-पत्र पर थिरकती हुई ओस-विन्दु से उपमा दें या दूध के प्याले में तैरती हुई मछली की विलोल गति से।"[८]

१. 'ठण्डे छींटे', पृ० ११।
२. 'भावना', पृ० ६३।
३. वही, पृ० ३३।
४. वही, पृ० ४८।
५. 'तरंगिणी', पृ० २५।
६. 'अन्तर्नाद', पृ० २०।
७. वही, पृ० ६५।
८. वही, पृ० ११०।

अनुप्रास, रूपक और उपमा के अतिरिक्त मानवीकरण[१] और अन्योक्ति[२] का प्रयोग अधिक किया गया है। एक और वस्तु उनकी शैली में यह है कि वे संस्कृत-फारसी के कवियों की उक्तियों को बीच-बीच में सजाकर अपनी भावुकता को चरम सीमा पर पहुँचा देते हैं। श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी ने ठीक ही लिखा है—"वियोगी हरिजी की मेधा-शक्ति बड़ी तीव्र है। इन्हें अपनी शैली के विन्यास में संस्कृत, फारसी आदि के विद्वानों की मार्मिक उक्तियों का एक सुन्दर सोपान मिलता है, जिसके सहारे आप अपनी भावुकता के चरम उत्कर्ष तक पहुँच जाते हैं। वास्तव में प्राचीन रसपूर्ण मार्मिक उक्ति के विषयों को सहेतुक सजाने में ही आपकी भावात्मक शैली की विशेषता है।"[३] इसके साथ ही व्यंग्य और तीखा-पन भी उनकी शैली की अनुपम विशेषता है। यह बात वहाँ मिलती है, जहाँ वे युवकों के फैशन और विलास-प्रियता पर चोट करते हैं तथा अमीरों तथा धर्म के ठेकेदारों को डाँटते हैं। 'अन्तर्नाद' और 'ठण्डे छींटे' में पृष्ठ-के-पृष्ठ ऐसे अंशों से भरे हैं, जिनमें उनके अन्तर का विद्रोह व्यंग्य और तीखापन लिये हुए प्रकट हुआ है।[४]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का जन्म अनूपशहर के निकट गंगा-तट पर चांदोख ग्राम में भाद्रपद कृष्णा ४ रविवार संवत् १९४८ विक्रमी को प्रदोष वेला में हुआ था। आपके पिता विशेष शिक्षित न थे, पर उन्हें ऋषि दयानन्द के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके दो गहरे मित्र थे—एक प्राणाचार्य होमनिधि शर्मा, जो उस काल के प्रसिद्ध चिकित्सक थे और दूसरे ठाकुर महावीरसिंह—प्रसिद्ध बैरिस्टर उदयसिंह के पिता। इन तीनों ने आर्य-समाज का प्रचण्ड प्रचार किया, उस प्रचार में डण्डे का तर्क ही अधिक था। वे जन्म-भर आर्यसमाजी रहे।

जब आचार्य चतुरसेन शास्त्री का जन्म हुआ तो इनके पिता इनकी शिक्षा-दीक्षा के विचार से सिकन्दराबाद आ बसे। यहाँ उनको प्रसिद्ध आर्यसमाजी प्रचारक पं० मुरारी-लाल शर्मा का साहचर्य मिला। यहीं उन्होंने सम्भवतः सन् १९०३ या ४ में स्वामी दर्शनानन्द (तब पं० कृपाराम) और मुरारीलाल शर्मा के सहयोग से गुरुकुल सिकन्दराबाद की स्थापना की। यह सबसे पहला गुरुकुल था; क्योंकि गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना इसके बाद हुई। कुल तीन रुपये चन्दे में आए और तीन विद्यार्थी दीक्षित हुए—एक आचार्य चतुरसेन शास्त्री, दूसरे श्री देवेन्द्र शर्मा (पं० मुरारीलाल के पुत्र, और पीछे आर्यसमाज के प्रसिद्ध प्रचारक, सांख्य काव्यतीर्थ, शास्त्री) और तीसरा एक और, जिसका जीवन आरम्भ तारुण्य में ही समाप्त हो गया।

---

१. 'तरंगिणी पृ० ७४; 'भावना', पृ० २४।

२. वही, पृ० ६७, ६८, १०४, १०७; 'अन्तर्नाद', पृ० ५२, ५३, ८०, ८४; 'भावना', पृ० १८-१९।

३. 'सुधा', वर्ष ८, खण्ड २, संख्या १, अप्रैल १९३५, पृ० १९८।

४. 'अन्तर्नाद', पृ० ७१, ७८, ८२, ९९, १०३, १०५; 'ठण्डे छींटे', पृ० ३८, ४३, ५१, ६२, ६४, ६६।

गुरुकुल में भर्ती होने के समय आचार्यजी स्कूल में छठी कक्षा में पढ़ते थे। सिकन्दराबाद में गुरुकुल खुल जाने से वह आर्यसमाज का गढ़ हो गया था। आचार्यजी पर भी आर्यसमाज का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। प्रसिद्ध भजनीक वासुदेव शर्मा, तेजस्वी गायक तेजसिंह, प्रसिद्ध वाग्मी पं० तुलसीराम आदि का उन्हें अच्छा सान्निध्य प्राप्त हुआ। पं० भीमसेन शर्मा और स्वामी दर्शनानन्द के शास्त्रार्थ का भी आचार्यजी के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा।

एक बार गुरुकुल की भूगोल और 'सत्यार्थ प्रकाश' की पढ़ाई से ऊबकर ये एक और विद्यार्थी के साथ दीवार फाँदकर भाग निकले और काशी जा पहुँचे। वहाँ इन्होंने केशवदेव शास्त्री से संस्कृत पढ़ी। जब वे अमेरिका चले गए तो ये भी जयपुर संस्कृत कालेज में आकर भर्ती हो गए। वहाँ से इन्होंने साहित्य और चिकित्सा की डिग्रियाँ प्राप्त कीं। सन् १९०९ में सिकन्दराबाद में प्रैक्टिस शुरू की। कुछ दिनों दिल्ली और अजमेर रहकर सन् १३-१४ के लगभग डी० ए० वी० आयुर्वेदिक कॉलेज, लाहौर में आयुर्वेद के प्रधान लैक्चरार हो गए।

जब ये जयपुर में पढ़ते थे तब इन्होंने वेदान्त-निष्णात पं० गणपति शर्मा से वेदान्त पढ़ा था। वहीं पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा से परिचय हुआ था। साहित्य-रचना की ओर आपका झुकाव पद्य से हुआ और आपकी सबसे पहली रचना लाला लाजपतराय के निर्वासन पर 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' में छपी। ये मित्रों को गद्य-पद्य में लम्बे-चौड़े पत्र भी लिखा करते थे। अपने श्वसुर आयुर्वेद महोपाध्याय कल्याणसिंह और उनके अन्तरंग मित्र श्री पद्मसिंह शर्मा से इनको साहित्य-सृजन की प्रेरणा प्राप्त हुई। पहली पुस्तक बाल-विवाह के विरुद्ध एक ट्रैक्ट के रूप में निकली। पहला उपन्यास 'हृदय की परख' था। 'अन्तस्तल' नामक गद्य-काव्य दूसरी प्रमुख पुस्तक थी। इसकी भूमिका श्री पद्मसिंह शर्मा ने लिखी थी। आचार्यजी के कथनानुसार यह हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक गद्य-काव्य है।

कथाकार के रूप में आचार्यजी का स्थान हिन्दी में अग्रणी लेखकों में माना जाता है। आपके अब तक ८५ के लगभग ग्रन्थ, २५० के लगभग कहानियाँ और एकांकी और १०००० पृष्ठ का फुटकर साहित्य सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में छप चुका है। आप अधिकार-पूर्वक प्रत्येक विषय पर लिख सकते हैं। आयुर्वेद और साहित्य पर तो आपकी रचनाएँ स्वभावतः उत्कृष्ट कोटि की हुई हैं। सामयिक, धार्मिक और राजनीतिक विषयों पर भी आपने महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। 'वैशाली की नगर-वधू' नामक आपका उपन्यास हिन्दी में अपने ढंग का अकेला ऐतिहासिक उपन्यास है।

आपका स्वभाव विद्रोही है। बचपन से घोर दरिद्रता में पालित-पोषित होने के कारण धनी जनों के प्रति उनमें तीव्र आवेश उत्पन्न हो गया है। इसलिए जब कभी ऐसे व्यक्तियों का वर्णन करना होता है, वे अत्यन्त उत्तेजित और असंयत हो उठते हैं। आपकी भाषा में ओज का भी यही कारण है। आप सन् '३६ से अपनी प्रैक्टिस छोड़कर कलम के सहारे जी रहे हैं और प्रकाशकों की दया पर निर्भर हैं।

चरित्र और आत्म-निष्ठा को आप जीवन का शृंगार मानते हैं। शारीरिक श्रम

के आदी नहीं हैं, पर मानसिक श्रम अथक रूप से कर सकते हैं। उद्योग को अपनी निष्ठा समझते हैं और असफलताओं से कभी नहीं घबराते। बातचीत, रहन-सहन और व्यवहार में दिखावा उन्हें अच्छा नहीं लगता। अध्ययन और चिन्तन दोनों में मौलिकता की समर्थ प्रतिभा के धनी होने से आज भी वे अप्रतिहत गति से साहित्य-रचना करते चले जा रहे हैं।

गद्य-काव्य

आचार्य चतुरसेन शास्त्री गद्य-काव्य-लेखक के नाते अपनी भिन्न शैली के द्वारा एक नई दिशा की ओर इंगित करने वाले हैं। राय कृष्णदास की रहस्यवादिता, वियोगी हरि की भक्ति-भावना और दिनेशनन्दिनी की प्रेम की पीड़ा से भिन्न इनमें सामाजिक अधोगति के लिए तीव्र असन्तोष और कुछ कर गुजरने की उत्कट लालसा है। इनके गद्य-काव्य-संग्रहों के नाम हैं—'अन्तस्तल', 'मरी खाल की हाय', 'जवाहर' और 'तरलाग्नि'। इनमें से 'जवाहर' में 'मरी खाल की हाय' की चौदह राष्ट्रीय रचनाओं का संग्रह होने से केवल तीन ही गद्य-काव्य-संग्रह रह जाते हैं। स्थूल रूप से इन तीनों संग्रहों के गद्य-काव्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—भावों-सम्बन्धी गद्य-काव्य, जिनका संग्रह 'अन्तस्तल' में है और राष्ट्रीय-गद्य-काव्य, जिनका संग्रह 'मरी खाल की हाय' और 'तरलाग्नि' में है।

'अन्तस्तल' में दो प्रकार के गद्य-काव्य हैं—१. भावों से सम्बन्ध रखने वाले वे गद्य-काव्य, जिनमें भावों का बिम्ब ग्रहण कराया गया है और २. अपनी मृत पत्नी की स्मृति में लिखे गए वैयक्तिक गद्य-काव्य; जिनमें उसके सौन्दर्य-विवाह के समय के उसके आत्म-समर्पण आदि की झलक है। पहले प्रकार के गद्य-काव्य २४ हैं और दूसरे प्रकार के ४७। ५ माँ के सम्बन्ध में हैं और ८ प्यार, सुख, पागल, उस पार आदि को सम्बोधित करके लिखे गए स्फुट गद्य-काव्य हैं। श्री पद्मसिंह शर्मा ने 'अन्तस्तल' के सम्बन्ध में लिखा है—"'अन्तस्तल' के चतुर चितेरे ने बड़े कौशल से, बड़ी सफाई से, मानसिक भावों के विविध रूप-रंग के विचित्र चित्र खींचकर कमाल का काम किया है। मैं उन्हें इस सफलता पर बधाई देता हूँ। 'अन्तस्तल' हिन्दी में निस्सन्देह अपने ढंग की एक नई रचना है। यह पाठक और लेखक दोनों के काम की चीज़ है। समझदार पाठकों के लिए शिक्षाप्रद मनो-विनोद की सामग्री है और लेखकों के लिए भाव-चित्रण का बढ़िया साधन।"

'मरी खाल की हाय' में पच्चीस रचनाएँ हैं, जो विषय की एकता की दृष्टि से संग्रहीत कर दी गई हैं। इनमें ८ कहानियाँ हैं, २ कविताएँ और १५ गद्य-काव्य। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम और उसमें जूझने वाले वीरों की प्रशंसा से ये गद्य-काव्य भरे हैं। इनमें स्वदेश का गौरव-गान है, अभाव और दीनता का चित्रण है, अंग्रेजों पर व्यंग्य है, जवाहर-लाल और कमला नेहरू की प्रशस्ति है। सुभाष का यश-गान है। ये गद्य-काव्य बड़े ओजस्वी हैं। इसी शृंखला की कड़ी 'तरलाग्नि' है। इसमें मुगलों के आक्रमण के समय की भारत की अवस्था से लेकर आज तक के भारत के उत्थान-पतन की झाँकी है। यह निराली शैली में लिखी हुई एक खण्ड-काव्य के ढंग की कृति है जो गद्य में आचार्य की लेखनी का स्पर्श पाकर और भी सौन्दर्यमयी हो गई है। इसमें स्वतन्त्रता-संग्राम के तिलक, गांधी, पटेल, जवाहर आदि योद्धाओं, रविबाबू जैसे श्रेष्ठ संस्कृति-अवतार, भगतसिंह जैसे आतंकवादी

आदि का मूल्यांकन किया गया है। एक प्रकार से यह राजनीतिक संग्राम का दासता के युग से स्वतन्त्रता के स्वर्ण विहान तक का सिंहावलोकन है। इस प्रकार 'मरी खाल की हाय' और 'तरलाग्नि' दोनों का सम्बन्ध हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन और उसके इतिहास से है। 'मरी खाल की हाय' के सम्बन्ध में स्वयं लेखक ने लिखा है—"आज भारत के कठिन दिन हैं और यह उद्गार उसकी सामूहिक कठिनाइयों की साँस हैं। इन्हें पढ़कर मेरे देश के युवकों की पलकें यदि आर्द्र हो सकें, उनका हृदय पसीज सके तो मेरा इन पंक्तियों का लिखना सफल हो जाय।"[१] इसी प्रकार 'तरलाग्नि' के सम्बन्ध में उसका कथन है—"इस गद्य-काव्य में भारतीय राजनीतिक विकास का एक रेखाचित्र खींचा गया है। पाठक-पाठिकाएँ इसे पढ़कर इन रेखाओं में भारत के अतीत का चल रूप देख सकेंगे। यह गद्य-काव्य विद्यार्थियों को अतीत भारत की राजनीतिक प्रगति का दिग्दर्शन मनोरंजक रीति पर कराने में बहुत सहायक होगा।"[२]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के भावों-सम्बन्धी गद्य-काव्यों का ऐतिहासिक महत्त्व है। हिन्दी-साहित्य में 'अन्तस्तल' से पहले 'उद्भ्रान्त प्रेम' की विक्षेप-शैली में प्रेम का ही विवेचन हो रहा था। यह बात हम गद्य-काव्य के विषय-विवेचन में देख चुके हैं। वहाँ हमने राजा राधिकारमण प्रसादसिंह के 'नवजीवन' या 'प्रेम लहरी', लक्ष्मीनारायणसिंह के 'सुधांशु' के 'वियोग' और मोहनलाल महतो 'वियोगी' के 'धुँधले चित्र' का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया है। प्रेम की एकांगिता से अन्य भावों के विशद क्षेत्र में गद्य-काव्य के विकसित होने की सम्भावनाओं को मूर्त रूप देना 'अन्तस्तल' का काम है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"पहले तो बंग भाषा के 'उद्भ्रान्त प्रेम' (चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय-कृत) को देख कुछ लोग उसी प्रकार की रचना की ओर झुके, पीछे भावनात्मक गद्य की कई शैलियों की ओर। 'उद्भ्रान्त प्रेम' उस विक्षेप-शैली पर लिखा गया था, जिसमें भावावेश द्योतित करने के लिए भाषा बीच-बीच में असम्बद्ध अर्थात् उखड़ी हुई होती थी। कुछ दिनों तक तो उसी शैली पर प्रेमोद्गार के रूप में पत्रिकाओं में कुछ प्रबन्ध—यदि उन्हें प्रबन्ध कह सकें—निकले, जिनमें भावुकता की झलक यहाँ से वहाँ तक रहती थी। पीछे श्री चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' में प्रेम के अतिरिक्त दूसरे भावों की प्रबल व्यंजना अलग-अलग प्रबन्धों में की गई, जिनमें कुछ दूर तक एक ढंग पर चलती धारा के बीच-बीच में भाव का प्रबल उत्थान दिखाई पड़ता था। इस प्रकार इन प्रबन्धों की भाषा तरंगवती धारा के रूप में चली थी, अर्थात् उसमें 'धारा' और 'तरंग' दोनों का योग था।"[३]

भावों के विश्लेषण में आचार्यजी ने या तो भाव-विशेष की परिस्थिति का चित्र खींचा है या उस भाव की प्रतिक्रिया का वर्णन किया है जिससे उस भाव का स्वरूप हृदयंगम हो सके। पहले प्रकार के वर्णन के लिए लज्जा का यह वर्णन देखिए। इसमें नायिका को प्रियतम के पास भेजने के आग्रह पर नायिका की स्थिति का चित्रण किया गया है और बताया गया है कि लज्जा में क्या दशा होती है। नायिका कहती है—"मेरी अच्छी बीबी!

१. 'मरी खाल की हाय' के तीसरे संस्करण में 'एक बात' में लेखक का निवेदन।
२. 'तरलाग्नि' के 'गूढ़ विवेचन' में लेखक का स्पष्टीकरण।
३. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० ५५६।

बड़ी लाड़ो बीबी ! देखो, भला कहीं ऐसा भी होता है ! राम-राम ! मैं तो लाज से गड़ी जाती हूँ । तुम्हें तो हया न लिहाज ! देखो, हाथ जोड़ूँ धीरे-धीरे तो बोलो—हाय ! धीरे-धीरे ! अरे नहीं, गुदगुदी क्यों करती हो ? नोचो मत जी ! तुम्हें हो क्या गया है ? कोई सुन लेगा ! धकेलो मत, देखो मेरे लग गया, पैर का अँगूठा कुचल गया । हाय मैया ! बड़ी निर्दयी हो, मैं तुम्हें ऐसा न जानती थी । अम्माजी के जाने से तुम्हारी बन आई । अब मालूम हुआ, भोले चेहरे में ये गुन छिपे पड़े हैं । डर क्या है ? दिन निकलने दो । सब समझ लूँगी । आई चलकर धक्का देने वाली ! वाह जी ! हटो—अब मुझे मत छेड़ना ! हाय रे ! मेरा अँगूठा !"[१]

भाव की प्रतिक्रिया का रूप 'गर्व' में देखिए । गर्व में मनुष्य वास्तविक स्थिति को भूलकर बड़बड़ाता है—"लड़ लो चाहे जिस तरह लड़ लो ! धन में, बल में, विद्या में, खर्च में ! चार कौड़ी क्या हुई, सालों के सींग निकल आए । धरती पर पैर नहीं टेकते । कुछ परवा नहीं । ईंट-से-ईंट बजा दूँगा । या मैं नहीं या वह नहीं । मैं हूँ मैं । किसकी मजाल है ? किसकी माँ ने धौंसा खाया है ? किसकी छाती पर बाल हैं ? पेशाब में मूँछ मुड़वा लूँगा । दाढ़ी का बाल उखड़वा लूँगा । वह मैं हूँ । मेरा नाम क्या साले जानते नहीं हैं ! किसने मुझे अब तक नीचा दिखाया ? जो उठा वही खटमल की तरह मसल दिया । दम क्या है ? किस बूते पर उछलते हैं ? साले पतंगे हैं, पतंगे ! बे-मौत मरते हैं । किसी ने सच कहा है—'चिउँटी के जब पर भये, मौत गई नियराय ।' यहाँ तो मेरी चलेगी । मेरी ही मूँछ ऊँची उठेगी । वह सारी सम्पदा मैंने अपने भुज-बल से पैदा की है । कितनों को ऋण देता हूँ ! कितने मेरा टुकड़ा खाते हैं । कितने मेरे हाथ से पलते हैं ।"[२]

ऐसी ही सजीव भाषा में उन्होंने रूप, प्यार, वियोग, अतृप्ति, दुःख, अनुताप, शोक, चिन्ता, लोभ, क्रोध, निराशा, घृणामय, अशान्ति, कर्मयोग, दया, वैराग्य, मृत्यु, रुदन, लालसा आदि का वर्णन किया है । प्रत्येक भाव के लिए उसके अनुरूप घटनाओं की सृष्टि और उपयुक्त वर्णन उनकी विशेषता है । अतृप्ति, दुःख, अनुताप, शोक, चिन्ता आदि में जो अन्तर है, उसे साधारणतः बताना कठिन है, पर उन्होंने अपनी सूक्ष्मदर्शिनी प्रतिभा से उनके सजीव चित्र दिए हैं । इन मनोवेगों का बहुत ही वैज्ञानिक और यथातथ्य वर्णन हुआ है । हिन्दी में ऐसा भाव-चित्रण दूसरा कोई गद्य-काव्य-लेखक नहीं कर सका, यह निर्विवाद सत्य है ।

पत्नी की स्मृति में लिखे गए गद्य-काव्यों में लेखक ने उसके रूप, सौन्दर्य और गुण-गौरव का वर्णन किया है । कैसे प्रथम मिलन के समय वह आई थी, कैसे मिलन हुआ था, कैसे उसे प्राप्त करके वह अपने को भूल गया था, कैसे वह अचानक चली गई, कैसे वह उसके विरह में एकाकी दिवस बिताता है, आदि का वर्णन बड़ी तन्मयता से किया गया है । कभी उसके सुप्त सौन्दर्य का चित्रण किया जाता है, कभी वसन्त आने पर उसका आह्वान किया जाता है, कभी उसे स्वप्न में देखने का वर्णन होता है । कभी उसकी एक मुसकान का प्रभाव ही अंकित होता है, कभी उसकी कल्याण-कामना की जाती है, कभी उसकी

१. 'अन्तस्तल', पृ० ११ ।
२. वही, पृ० ७३ ।

सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न होता है। तात्पर्य यह कि कोई ऐसी बात नहीं बचती जो वियोगी न करता हो।[1] यह गद्य-गीत भावों पर लिखे गए लम्बे गद्य-काव्यों से छोटे हैं। इनमें एक ही भावना व्याप्त है और उसकी सांकेतिक अभिव्यंजना है।

'अन्तस्तल' में माता के ऊपर लिखे गए गद्य-काव्य में यह बताया गया है कि माता का रक्त और शरीर ही शिशु में आ दिखाई देता है, वह स्वयं मृत्यु और जरा लेकर पुत्र को जन्म और यौवन देती है, उसके समक्ष पुत्र सदैव शिशु ही रहता है और उसकी सब जिम्मेदारियाँ स्वयं ले लेती है।[2] स्फुट गद्य-काव्यों में बताया गया है कि प्यार अन्धा होता है। सुख न प्यार में है न ज्ञान में; न यश में; वह तो सन्तोष में है, पागल हज़ारों-लाखों-करोड़ों में निराला है, जो आनन्द और मस्ती में स्नान करता रहता है। मनुष्य कुछ क्षणों को भले ही सुख का अनुभव कर ले, अन्त में उसे सांसारिक चिन्ताओं में ही बसना पड़ता है आदि।[3] ये गद्य-गीत उपदेशात्मक हैं और इनमें जीवन का सत्य भरा हुआ है।

राष्ट्रीय गद्य-काव्यों में उन्होंने स्वदेश के अतीत गौरव का चित्र खींचने की ओर विशेष रुचि दिखाई है। इसके लिए वे कभी स्वदेश को एक वृद्ध तपस्वी का रूप देकर उसकी क्षमाशीलता और आक्रमणकारियों के प्रति उसकी उदार दृष्टि का चित्रण करते हैं।[4] कभी उस पर पड़ी दैवी आपत्तियों और वर्तमान दुर्दशा की याद करते हैं।[5] कभी उसे लूटने वालों की निर्दयता की भर्त्सना करते हैं और स्वयं अशक्त होते हुए भी उसके लिए मर-मिटने को प्रस्तुत होते हैं।[6] कभी उसकी सुहावनी प्राकृतिक सुन्दरता पर मुग्ध हो उठते हैं।[7] 'माँ गंगी' नामक गद्य-काव्य में वाल्मीकि और व्यास के जमाने की गंगा की महिमा की तुलना में आज की गंगा की दरिद्रता का चित्र अंकित करके लेखक ने हमारे पतन की ओर संकेत किया है। गंगा के माध्यम से ही देश का चित्रण हुआ है—"आज न रही तुम्हारी वह आयु, उमंग और मस्ती—न रहे वे दिन। सरस्वती देवलोक सिधारी, कृष्ण के अन्तर्धान होते ही जमुना विधवा होकर वैरागिनी हो गई, एक-एक करके सब सौरभ गया। रह गई एक श्रीहीन छाया, एक धुँधला प्रतिबिम्ब और एक वेदना की सिसकारी!!!"[8] इसी प्रकार 'चित्तौड़ के किले में' वह राजपूती शौर्य की स्मृति में आँसू बहाता है।[9] 'अनूपशहर के घाट पर' में कुत्तों को फेंकी पूरियों के दो-तीन कन्याओं के छीन लेने पर स्त्री-जाति की दुर्दशा पर शोक मनाया गया है।[10] 'माँ रोना मत' में माता स्वरूप-रानी से आग्रह किया गया है कि वह अपने प्रिय पुत्र जवाहरलाल नेहरू की प्रथम जेल-यात्रा

---

१. 'अन्तस्तल', पृ० १०७ से १७५।
२. वही, पृ० १७६ से १८४।
३. वही, पृ० १८७ से १९१।
४. 'मरी खाल की हाय', पृ० २।
५. वही, पृ० ५।
६. वही, पृ० ७।
७. वही, पृ० ९।
८. वही, पृ० १८।
९. वही, पृ० ४५।
१०. वही, पृ० ४९।

पर न रोये। 'भाभी' में कमला नेहरू के स्वर्गवास पर आँसू बहाये गए हैं और 'जवाहर' में कमला नेहरू के रुग्ण होने के समय जेल के सींखचों में बंद जवाहर की प्रशस्ति और तप-त्याग की प्रशंसा है।[१] 'आगरा' गणेशशंकर विद्यार्थी के जेल से लौटने पर लिखा गया है, जिसमें अपनी असमर्थता और कायरता पर तीखा व्यंग्य है।[२] 'अंग्रेज़ प्रभु' में अंग्रेज़ों पर व्यंग है।[३] सुभाष के देरी से गायब होने का चित्र है।[४] 'तरलाग्नि' में राष्ट्रीय विकास दिखाते हुए आन्दोलन के प्रमुख कर्णधारों का सांकेतिक शैली में यश-वर्णन हुआ है। भारत कैसे विलास की नींद सोकर अपनी जातीयता को भूल गया, कैसे उसका नैतिक पतन हुआ, कैसे उसकी फूट से लाभ उठाकर उसे गुलाम बनाया गया और उस पर अनेक जातियों का राज्य हुआ, कैसे तिलक, गांधी ने उसे फिर जगाया, प्रथम महायुद्ध में अंग्रेज़ों ने कैसे वचन-भंग किया और सत्याग्रह छिड़ा, कैसे नर-नारी, बाल-वृद्ध अंग्रेज़ों के विरुद्ध खड़े हुए, तेज-बहादुर सप्रू, मालवीयजी, मोतीलाल, लाजपतराय, चितरंजनदास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सरदार पटेल, राजर्षि टंडन, राजेन्द्र बाबू, मौलाना आज़ाद, जवाहर, भगतसिंह आदि के द्वारा प्रेरणा पाकर देश संगठित हुआ और स्वाधीनता प्राप्त की, इसका बड़ा प्रभावोत्पादक वर्णन है। यह क्रमबद्ध इतिहास है, जो काव्यात्मक शैली में लिखा गया है। वीर-पूजा की भावना इसमें प्रधान है। 'तरलाग्नि' देश-भक्ति को व्यक्त करने वाला शब्द है। इसकी शैली खण्ड-चित्रों की-सी है, जैसे किसी सूचना-विभाग की फ़िल्म की कवित्वपूर्ण व्याख्या हो। जैसे—"असूर्यम्पश्या महिलाएँ और अबोध मुग्धा रोने लगी। सरल-तरल स्नेह की सजीव मूर्तियाँ, सौन्दर्य और सुकुमारिता की वास्तविक प्रतिलिपियाँ, पुरुष-स्तम्भों की आशा-लतिकाएँ, आशा और निराशा की देवियाँ अपने चिर-अभ्यस्त हास्य को खोकर दारुण चीत्कार करने लगीं। वातावरण भयंकर निनाद से गुञ्जायमान हुआ। इन आपद-ग्रस्ताओं को देख-देखकर रणचण्डी सौतिया डाह से अट्टहास कर रही थी। क्षण-भर बाद।"[५] यहाँ एक खण्ड-चित्र समाप्त हो गया। अब दूसरा खण्ड-चित्र जब आरम्भ होगा तब पहले खण्ड-चित्र के अन्तिम वाक्य से ही। जैसे—"क्षण-भर बाद पंजाब के सिंहद्वार पर अमृतसर के अमोघ प्रभाव को विदीर्ण करता हुआ गोविंददास के जागृत पहरे का उप-हास करता हुआ उठा। डायर!"[६] आगे फिर 'डायर' से नया खण्ड-चित्र आरम्भ होगा। इसी प्रकार पूरी पुस्तक समाप्त हो जाती है और पाठक बिना ऊबे पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन और उसकी प्रमुख घटनाओं से परिचित होता चलता है।

भाषा-शैली की दृष्टि से आचार्यजी का अपना अलग स्थान है। वे तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव शब्दों को विशेष महत्त्व देते हैं जिसके कारण उनकी भाषा चिर-परि-चित-सी लगती है। उनकी भाषा बोल-चाल के निकट और व्यावहारिक है, जिसमें अरबी,

---

१. 'मरी खाल की हाय', पृ० १६७।
२. वही, पृ० १७०।
३. वही, पृ० ११३।
४. वही, पृ० ६६।
५. 'अन्तस्तल', पृ० १२५।
६. वही, पृ० १२२।

फारसी के भी शब्द अपने उपयुक्त स्थान पर आते चले जाते हैं। वे आशीर्वाद के स्थान पर 'असीस', उत्साह के स्थान पर 'उछाह', 'लक्षण' के स्थान पर 'लक्खन', उल्लास के स्थान पर 'हुलास' लिखना अधिक पसन्द करते हैं। मयस्सर, सुर्खाब, तौफीक, रिजू-जैसे फारसी-अरबी के शब्द बोल-चाल की भाषा के बीच खूब फबते हैं।

स्थानीय शब्दों और मुहावरों का प्रयोग करने में आचार्यजी को कमाल हासिल है। इस कारण उनकी भाषा में शक्ति और प्रवाह अनायास आ गया है। 'यौवन अलग सोया पड़ा था', 'मैं क्या भिखारी या नदीदा हूँ', 'बड़ी पक्के दीदे की हो', 'घर के पिछवाड़ी', 'घूँसों पड़ते थे', 'लल्लो-पत्तो नहीं तोड़ती थी', 'घड़े के ऊपर ओग बह रहे थे', 'छाती पर पैर रख के ताण्डव-नृत्य करूँगा', 'वाजदावा देता हूँ', 'कितनी साँस भुगतनी है', 'पोटली सँगवाकर बाँध रही थी', आदि प्रयोगों में दिल्ली और मेरठ के बीच के गाँवों में बोली जानेवाली भाषा का स्थानीय रूप है। खड़ी बोली में स्वीकृत मुहावरों और कहावतों के बीच जब यह ग्रामीण प्रयोग आते हैं तब भाषा की शक्ति द्विगुणित हो जाती है।

आचार्यजी रूपक, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण, प्रतीप आदि उपमा अलंकार का विशेष प्रयोग करते हैं। अलंकार स्वाभाविक रूप से आते हैं और उनकी चलती हुई व्यावहारिक भाषा में अपूर्व शक्ति उत्पन्न कर देते हैं। अलंकारों से उन्हें मूर्त-अमूर्त भावों के चित्रांकन में सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए आँसू को सम्बोधित करके वे कहते हैं—"ढरक गए ? हाय ! तुम मेरी स्वर्गीया पत्नी के मृदुल प्यार की स्मृति की तरह प्यारे थे। तुम मेरे अनुत्पन्न पुत्र के छोटे-से होंठों की निर्दोष मुस्कराहट की स्वप्न-वासना की तरह मधुर थे। प्यार की प्रथम चोट की तरह गम्भीर थे और तूफान की तरह जंगली थे।" "उस बात को बड़ी कठिनाई और विवेक से हिन्दुओं की जवान विधवा बेटी की तरह दबोचकर भीतर ही रख छोड़ा है"। (उपमा) "चाँदनी मुझे ऐसी प्रतीत होती है जैसे मुर्दे पर सफेद कफन पड़ा हो।"[१] "इस सबके बीच वर्तमान महाकाव्य का बनाया सफेद महल ऐसा मालूम देता था जैसे गोबर के ढेर में ओला पड़ा हो।"[२] (उत्प्रेक्षा) "उस समय विश्व-विभूतियाँ नग्न नृत्य कर रही थीं और नर-लोक उस प्रकण्ड ताण्डव पर मुग्ध और लीन हो रहा था। मूर्ख न्याय ताल दे रहा था और निर्लज्ज नीति अट्टहास कर रही थी। रूढ़ि सभापति थी। पाखण्ड के हाथ प्रबन्ध था और पाप स्वागत कर रहा था, असत्य के अन्ध दीप जल रहे थे और सत्ता का महदालोक अप्रतिभ चमक रहा था।"[३] (रूपक) 'मरी खाल की हाय' में स्वदेश[४] और माँ गंगी[५] उनकी मानवीकरण की शक्ति को प्रकट करते हैं। हू-ब-हू तुम्हारे उत्फुल्ल हास्यपूरित अधरोष्ठ की भाँति यह गुलाब खिला है। यह फूलभरी डाली तुम्हारे शोभनीय मृदुल गात की भाँति झंझावात में झूम रही है।[६]

---

१. 'अन्तस्तल', पृ० १२७।
२. 'जवाहर', पृ० २०।
३. 'तरलाग्नि', पृ० १।
४. 'मरी खाल की हाय', पृ० १।
५. वही, पृ० ११।
६. 'अन्तस्तल', पृ० १४६।

(प्रतीप) तात्पर्य यह कि अलंकार उनके चित्रण के सहायक हैं।

इनकी शैलियाँ यों तो विषय के अनुरूप बदलती रहती हैं, पर फिर भी इन्हें वार्तालाप-शैली और स्वगत-कथन शैली विशेष प्रिय हैं। वार्तालाप-शैली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'प्यार' में मिलता है। वार्तालाप व्यञ्जना से पूर्ण होने के कारण 'प्यार' में भी एक अरूप वस्तु का सूक्ष्म चित्र अंकित कर दिया गया है। उदाहरणार्थ :

"उसने कहा—'नहीं'
मैंने कहा—'वाह'
उसने कहा—'वाह'
मैंने कहा—'हूँऊँ'
उसने कहा—'ऊँहुक'
मैंने हँस दिया।
उसने भी हँस दिया।"[१]

इस वार्तालाप से आरम्भ करके बीच में प्रकृति का उद्दीपक रूप दिया है और अन्त में फिर इस वार्तालाप को दुहराकर नाटकीय प्रभाव उत्पन्न किया है और पैनी दृष्टि के कलाकार की भाँति थोड़े ही में प्यार का स्वरूप खड़ा कर दिया है। स्वगत-कथन की शैली का रूप 'आशा' नामक गद्य-काव्य में मिलता है—"आशा! आशा!! अरी भलीमानस! जरा ठहर तो सही, सुन तो सही, कितनी दूर है? मंजिल कहाँ है? और छोर किधर है? कहीं कुछ भी तो नहीं दीखता। क्या अन्धेर है? छोड़! मुझे छोड़! इस उच्चाकांक्षा से मैं बाज़ आया। पड़ा रहने दे—मरने दे, अब और दौड़ा नहीं जाता। ना-ना, अब दम नहीं रहा—यह देखो, यह हड्डी टूट गई—पैर चूर-चूर हो गए, साँस रुक गया, दम फूल गया। क्या मार ही डालेगी सत्यानाशिनी! किस सब्ज़ बाग को झाँसा दिया था! किस मृगतृष्णा में ला डाला मायाविनी! छोड़-छोड़! मेरी जान छोड़! मैं वहीं पड़ा रहूँगा।"[२]

वर्णनात्मक शैली 'तरलाग्नि' में और सूक्ष्मात्मक शैली 'अन्तस्तल' के 'पत्नी के प्रति' लिखित गद्य-काव्यों में मिलती है। कहीं-कहीं वर्णनात्मक तथा स्वगत-कथन शैली का मिश्रण भी हो जाता है। जैसे क्रोध,[३] भय,[४] कर्मयोग[५] आदि में। कोई भी शैली हो, वे सजीवता लाने का पूर्ण प्रयास करते हैं और उसमें सफल भी होते हैं। डॉक्टर श्रीकृष्ण-लाल के शब्दों में, "चतुरसेन शास्त्री ने अपनी गद्य-रचना में बातचीत का लय और संगीत स्पष्ट रूप से उतार दिया है। वही बातचीत की बे-तकल्लुफी, वही रुकना, वही तोड़, वही उतार-चढ़ाव और वही मनमोहकता, सभी कुछ पूर्णरूप से मिलती है।"[६]

---

१. 'अन्तस्तल', पृ० ४, ५।
२. वही, पृ० ४२।
३. वही, पृ० ५१।
४. वही, पृ० ६६।
५. वही, पृ० ८१।
६. 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० १६, १६०, १६१।

श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया

श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया का जन्म १६ फरवरी सन् १९१५ को उदयपुर में हुआ। अपने माता-पिता की प्रथम सन्तान होने और पारिवारिक स्थिति काफी अच्छी होने के कारण उन्हें बचपन में लाड़-प्यार खूब मिला। इनके मामा के कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए ये दस वर्ष की अवस्था तक उनके यहाँ रहीं और वहाँ भी इन्हें अशेष प्यार मिला। मारवाड़ी और पुराने विचारों के परिवार में लड़कियों के पढ़ने-पढ़ाने के प्रतिकूल वातावरण था, परन्तु उनकी माता ने सब बातों से ऊपर उठकर उन्हें स्कूल ही नहीं भेजा, बल्कि घर पर भी इनकी पढ़ाई का प्रबन्ध किया।

इनके पिता नागपुर विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के प्रोफेसर थे। ये उदयपुर से उनके पास पहुँच गईं और वहाँ के मिशन स्कूल में भरती हो गईं। लेकिन पिताजी छुट्टियों में उदयपुर चले आते थे, अतः इन्हें तीन साल तक एक ही कक्षा में रहना पड़ा। एक बार इनके पिताजी विलायत जाने को हुए और इनका सारा परिवार उदयपुर आ गया। वहाँ एक मास्टर इनके छोटे भाई को पढ़ाने के लिए आता था। संयोग की बात कि इनका भाई टाइफाइड से बीमार पड़ा और ये भाई की जगह मास्टर साहब से पढ़ने लगीं। परीक्षा के दो महीने और नियमित पढ़ाई केवल तीसरी क्लास तक, पर दुस्साहस करके मैट्रिक में बैठ गईं। परिणाम यह हुआ कि भूगोल और गणित में रह गईं। गणित का ऐसा भय समाया कि फिर सात वर्ष तक परीक्षा नहीं दे सकीं। इसी बीच इन्होंने 'निराशा-आशा' नामक एक गद्य-कृति लिखी, जिसे इनके मास्टर ने गद्य-काव्य नाम दिया। उनके प्रोत्साहन से इन्होंने 'शबनम' और 'मौक्तिक माल' नामक रचनाएँ लिखीं। बीमारी में बिस्तर में पड़े-पड़े भी उस बीच उन्होंने सैकड़ों रचनाएँ लिखीं।

सन् १९३८ में वे नागपुर गईं, जहाँ उन्हें एक सहेली से मालूम हुआ कि अब मैट्रिक में गणित नहीं है। तब भी परीक्षा में दो महीने थे, लेकिन वे ज्यों-त्यों फार्म भरकर परीक्षा में बैठ गईं और मैट्रिक पास कर लिया। चार साल तक कॉलिज में भी गईं, पर पर्दे की आदी होने से स्वच्छन्द जीवन का प्रभाव न पड़ सका। सन् १९४४ में नागपुर विश्वविद्यालय से ही आपने एम० ए० पास किया।

आपकी सर्वप्रथम रचना 'निराशा-आशा' 'त्याग भूमि' में छपी। उन दिनों 'त्याग भूमि' के सम्पादक श्री रामनाथ लाल 'सुमन' थे। उन्होंने प्रोत्साहन दिया तो फिर वर्षों 'माधुरी', 'सुधा' और 'चाँद' में उनकी रचनाएँ निकलती रहीं। प्रोत्साहन देने वालों में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी और श्रीमती महादेवी वर्मा के नाम प्रमुख हैं। द्विवेदीजी ने उन्हें इन्दौर साहित्य-सम्मेलन में गद्य-काव्य-धारा का प्रतिनिधित्व करने के लिए बुलाया था और श्रीमती वर्मा ने उनकी 'शबनम' नामक कृति के प्रकाशन की व्यवस्था की थी। इसके साथ ही उनके पिताजी ने भी इन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। पिताजी तो यहाँ तक करते थे कि उनकी रचनाएँ नकल करके तथा उन्हें संशोधित-परिवर्तित करके छपने भेजते थे। वस्तुतः इन्हें साहित्य-साधिका बनाने में इनके पिता का बड़ा हाथ है।

'शबनम' और 'मौक्तिक माल' के अतिरिक्त 'शारदीया', 'दुपहरिया के फूल',

'वंशीरव', 'उन्मन' और 'स्पन्दन' इनकी अन्य गद्य-काव्य-कृतियाँ हैं। इधर 'उर वाती', 'मनुहार', 'सारंग' और 'परिच्छाया' काव्य-संग्रह भी उनके निकले हैं।

सन् १९४६ में उन्होंने सेठ श्री रामकृष्ण डालमिया से शादी की। वे धार्मिक पूजा-पाठ के स्थान पर मनुष्यता की रक्षा के लिए अधिक बेचैन रहती हैं। व्यक्तिगत जीवन की व्यथा को ही वे व्यक्त करती हैं, पर इस विषय में वे ईमानदारी ही बरतती हैं। गद्य-काव्य की धारा को साहित्यिक महत्त्व नहीं दिया गया, इसका उनको दुःख है। लेकिन यह विश्वास उनका अवश्य है कि कभी-न-कभी इस धारा का महत्त्व स्वीकार होगा और उनकी कृतियाँ आदर की दृष्टि से देखी जाएँगी।

गद्य-काव्य

हिन्दी-गद्य-काव्य-लेखकों में यदि किसी ने सबसे अधिक कृतियाँ दी हैं तो श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया ने। आरम्भ से उन्होंने गद्य-काव्य ही लिखे। पद्य-काव्य या तो पीछे चलकर उन्होंने दिये हैं, जो सफल नहीं हैं। वे हिन्दी में गद्य-काव्य-लेखिका के नाते ही सदैव स्मरण की जाएँगी। उनके गद्य-काव्यों में व्यक्तिगत सुख-दुःख की व्यञ्जना प्रधान है। जन-जीवन को उन्होंने नहीं छुआ। इस सम्बन्ध में उनका कथन है—"सामाजिक जीवन का मेरा अनुभव नहीं है तो मैं कैसे लिखती! बिना अनुभव के कुछ लिखना बेईमानी है। इसलिए सामाजिक जीवन पर लिखने की मेरी इच्छा ही नहीं हुई। मैं तो व्यक्तिगत ही लिखती हूँ और उसी को जग की अभिव्यक्ति समझती हूँ।"[1] व्यक्तिगत से उनका अभिप्राय प्रेम-सम्बन्धी भावनाओं से है।

श्रीमती दिनेशनन्दिनी के गद्य-काव्यों का आरम्भ 'शबनम' के गद्य-गीतों से हुआ है। 'शबनम' के गद्य-गीतों के सम्बन्ध में श्री रामकुमार वर्मा ने लिखा है—"दिनेशनन्दिनी जी का संसार भरम और अन्धकार से बना हुआ है, पर प्रकाश पाने के लिए उसके कण अनन्त गति से भ्रमण कर रहे हैं। उसमें शीत का आतंक होते हुए भी वसन्त की आकांक्षा है।"[2] उसके बाद 'मौक्तिक माल', 'शारदीया', 'दुपहरिया के फूल', 'वंशीरव', 'उन्मन' और 'स्पन्दन' नामक उनकी रचनाओं में सर्वत्र वही भ्रम और अन्धकार का संसार है। 'उन्मन' में गहन दार्शनिकता और गम्भीरता का समावेश हुआ है और यह आशा बँधती है कि भविष्य में लेखिका की बेचैन अनुभूति को स्थिरता प्राप्त होगी, परन्तु 'स्पन्दन' में वह आशा सदा को नष्ट हो जाती है। 'स्पन्दन' लेखिका के जीवन-साथी चुनने के बाद की रचनाओं का संग्रह है, परन्तु उसमें निराशा और विषाद का जो घना वातावरण है उसे बेधकर उल्लास की कोई किरण बाहर आती नहीं दीखती। इस प्रकार लेखिका की आत्मा ने काव्य के जगत् में अपनी यात्रा जहाँ से प्रारम्भ की थी वहीं की धूपछाँही जाली में उसकी उमंगें वैसी रह गई हैं। बीच की रचनाओं में 'दुपहरिया के फूल' में उसकी तड़प और तृष्णा अपनी चरम सीमा पर पहुँची दिखाई देती है और लगता है जैसे कि वह प्रिय के अभाव में जीवन के सुख से ही विरत है; परन्तु 'वंशीरव' में प्राणों की पीड़ा ही उपचार बनने से

१. 'मैं इनसे मिला', भाग २, पृ० १३२।
२. 'शबनम'—'कुछ शब्द', पृ० २।

वह फिर संयत हो गई है। यदि उनकी रचनाओं के उत्कर्ष की दृष्टि से विचार करें तो हमें तीन मोड़ मिलते हैं। एक तो 'शबनम' की किशोर-काल की रचनाएँ हैं, जिनमें प्राणों की पीड़ा का झुलसाने वाला रूप और आत्म-समर्पण की उत्कट लालसा का प्रदर्शन है। 'शबनम' अपने पीछे 'मौक्तिक माल' और 'शारदीया' की रचनाएँ लिये है, जो क्रमशः आशा और हर्ष के आधार पर प्रियतम-प्राप्ति-जनित सन्तोष को व्यक्त करती है। दूसरा मोड़ 'दुपहरिया के फूल' में है, जहाँ एक बार कवयित्री फिर निराश और दुखी दिखाई देती हैं, परन्तु यह निराशा और अज्ञान भावुकता न होकर एक यौवन-सुलभ तीखापन और आत्म-पीड़न है। वह 'वंशीरव' और 'उन्मन' में क्रमशः शान्त और स्थिर हो जाता है और पार्थिवता से प्रताड़ित होकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होने का उपक्रम करता है। लेकिन प्राणों की जो प्रतिदान-भावना असन्तुष्ट रह गई है वह नारीत्व को सार्थक किये बिना रह जाती, यह सम्भव नहीं था; इसलिए उसने किसी को समर्पण किया। जब तक समर्पण नहीं किया था तब तक तो वह अपने मन की पूर्णता के प्रति ललक को लेकर ही रोती-हँसती थी और सोचती थी कि कभी तो पूर्णता मिलेगी और जीवन-भर की खीझ और असन्तोष 'स्पन्दन' के गीतों में समा गया। जैसे किसी उमंग, उल्लास-भरे हृदय पर कोई शिला रख दे, ऐसा अनुभव होता है 'स्पन्दन' पढ़कर। वही पुरानी टीस है। लेखिका के शब्दों में—"स्पन्दन का आश्रय सत्य वही है, जो 'शबनम' अथवा 'उन्मन' का है; पर अभिव्यक्तियाँ (मॉडल्स) बिलकुल भिन्न हैं, जो पाठक की पैनी दृष्टि से सुरक्षित न रहेंगे। जीवन का पार्थिव परिवर्तन अन्तर के शाश्वत क्रम को नहीं उलट सकता।"[१] उसके बाद के गद्य-गीतों में क्या है, यह पता नहीं। परन्तु इधर की उनकी जो कविता-पुस्तकें निकली हैं उनमें गार्हस्थ्य-जीवन की समस्याओं और मातृत्व की स्थितियों के प्रति ही झुकाव अधिक है, जो सम्भवतः परिस्थितियों और समझौते की ओर पद-संचरण है। दूसरा उपाय भी क्या हो सकता था?

अब तनिक यह देखें कि दिनेशनन्दिनी के गद्य-गीतों का प्रतिपाद्य क्या है? जैसा कि हम कह आए हैं, उनके गद्य-गीतों में पार्थिव प्रेम की व्यञ्जना है। उनमें मांसलता अधिक है। उसका रूप क्या है, यह देखने से पहले उनकी इस विषय की मान्यता को जान लेना उचित होगा। वे कहती हैं कि मैं मनुष्य में मानवता देखना चाहती हूँ, देवता नहीं। इसलिए अपनी रचनाओं में मानव के शरीर के माध्यम से ही उसकी आत्मा तक पहुँचने का मेरा प्रयत्न रहा है। इससे भी आगे बढ़कर वे प्रेम, भक्ति और आध्यात्मिकता तीनों को एक ही वस्तु मानती हैं और पार्थिव-अपार्थिव में कोई भेद नहीं करना चाहतीं।[२] अभिप्राय यह है कि उनमें लौकिक प्रेम की व्यञ्जना का प्राधान्य है और वे उसको स्वाभाविक मानती हैं। उनका कहना है कि पार्थिव मानव की विषण्ण आँखों में विश्व की प्रणय की लीला के स्वप्न बिछे हैं, इसीलिए प्रेम के संकीर्ण कूचे की योजना अमर है।[३] वे पुरुष के पुरुषत्व को ही प्यार करती हैं; क्योंकि उसके बिना नारी का जीवन अधूरा

१. 'स्पन्दन' की भूमिका, पृ० ३
२. 'मैं इनसे मिला', पृ० १३४।
३. 'मौक्तिक माल', पृ० ७४।

है।[1] वे पुरुषत्व की प्रेमिका होने के कारण पुरुष की उपेक्षा को चिरन्तन मुरली से भी मीठा मानती हैं और उसके पापों की ओर ध्यान नहीं देतीं; क्योंकि वे उसे प्रकृति और पुरुष से परे प्यार की एक अनहोनी राशि और सौन्दर्य का स्पष्ट उद्गम समझती हैं। यहीं वे बड़े ज़ोरदार शब्दों में शंखनाद करती हैं कि संसार में प्रिय और प्रियतम के अतिरिक्त किसी दूसरे सम्बन्ध की उनको अनुभूति तक नहीं है।[2]

लौकिक प्रेम के प्रति इस तीव्र आकर्षण का कारण उनकी नारी-भावना का ऐश्वर्य के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और भौतिकता के प्रति सहज झुकाव है। अपने को सम्बोधित करके एक स्थान पर वे कहती हैं कि "हे पगली, तेरी बाली उम्र जप-तप, पूजा-पाठ, ध्यान-धारणा का अभ्यास कर स्वर्ग की सड़क पर चलने की नहीं है।"[3] वे फलक के पैमाने में भरी हुई गुलरंग वारुणी को तलछट तक पी जाना चाहती हैं, जिससे वे दर्दे-जिस्म को दूना कर सकें और उसकी सुखद पीड़ा में अपने को भूल सकें।[4] उनका प्रियतम उनके लिए ढाके की मलमल, बनारस के रेशमी दुपट्टे, काश्मीरी शाल, सुवर्ण की कंघियाँ, सप्तरंगी धागे, रत्न-जटित आभूषण; और प्रेम, आकांक्षा और वांछा से भरी मुरली लाता है, जिससे वह उन्हें सजाकर दिव्य छवि देख सके और उनका प्रेम प्राप्त कर सके।[5] कभी उनका प्रियतम रण-विजय होकर लौटता है तो सखी ही रत्नाभरणों से उन्हें सजाती, वेणी गूँथती, मकरन्द-भरे पुष्पों की माला पहनाती और आरती के लिए प्रस्तुत करती है।[6] शृंगार में डूबी हुई उनकी सुषमा के कारण उनका प्रिय उनसे घूँघट का पट खोलने का आग्रह करता है ताकि वह उनके चन्द्र-मुख की सुधा पी सके।[7] वे स्वयं भी दिगम्बर पुराण पुरुष, महाकाल कालेश का शृंगार कर, उसकी आरती उतार, पौढ़ने के लिए रजत पर्यंक डाल, मालती के ढेर सारे पुष्पों से शैया सजा, दक्षिणा में अपना उमंगों से अलसाया अक्षत यौवन देकर उसकी जरा हरना चाहती हैं।[8] वे सोलहों शृंगार किये, मिलन की अभिलाषा लिये, दीपक को हाथ की ओट किए रोमांचित अंगों से स्वागत के लिए खड़ी हैं, क्योंकि उनका प्रियतम आएगा, सुहाग की डिबियों से सिन्दूर निकालकर उनकी माँग भरेगा और वे उसमें लीन हो जाएँगी।[9] भौतिकता की लालसा उन्हें उस सीमा तक ले जाती है जहाँ वह निराकार ब्रह्म भी एक साधारण मानव के रूप में परिवर्तित हो जाता है। सोलहों शृंगारों से सुशोभित होकर जब उन्होंने उस पुरुष-पुरातन अलख-अगोचर को कुमकुम मोतियों से बाँधा और अक्षत यौवन को प्याली में ढालकर उसके अधरों से लगाया तो वह आकण्ठ

१. 'उन्मन', पृ० २३।
२. वही, पृ० ६७; 'स्पन्दन', पृ० १५।
३. 'स्पन्दन', पृ० ९३।
४. 'शबनम', पृ० ३३।
५. वही, पृ० ५२।
६. 'मौक्तिक माल', पृ० ६७।
७. वही, पृ० ८२।
८. 'शारदीया', पृ० २५।
९. 'मौक्तिक माल', पृ० १२।

प्राण उसे पीकर जी उठा।[१]

इस लौकिक प्रेम की व्यञ्जना के मूल में उनके उपेक्षित, वंचित और निराश नारीत्व का हाहाकार है। निष्ठुर प्रियतम से वे कहती हैं कि तुममें ठुकराने की क्षमता भले ही हो, पर मैं बूंद-बूंद पीने के लिए तड़पती हुई बेगानी-सी फिरती हूँ।[२] वे यौवन में डूबी हुई आसव का अक्षत पात्र लिये अचल खड़ी रहने का संकल्प करती हैं।[३] उन्हें बराबर यह पश्चात्ताप है कि पूरा जीवन बीतने पर भी वे अपने प्रेम को तृप्त न कर सकीं।[४] उनके जीवन में ऐश्वर्य के स्थान पर अभावों का समावेश हो गया है।[५] और उनका जीवन क्या है? रत्न-खचित सुराही में भरा हुआ गरल है।[६] वे इसलिए अपने को बार-बार परित्यक्ता और वंचिता कहती हैं।[७] वे इसके लिए कभी अपने भाग्य को कोसती हैं[८] और कभी अपनी कुरूपता को इसके लिए उत्तरदायी ठहराती हैं।[९] उनका जीवन इतना अभिशप्त है कि वे पूर्णता की खोज में आत्मसमर्पण कर देने पर भी अर्थात् जीवन-साथी पा जाने पर भी विवाह-पूर्व के एकाकी जीवन की विडम्बनाओं से मुक्ति नहीं पातीं। एक बार तो उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया कि विवाह करने पर भी परिस्थिति में कोई अन्तर नहीं आया।

लौकिक प्रेम की व्यञ्जना के लिए कृष्ण-भक्तों की पद्धति को भी दिनेशनन्दिनीजी ने अपनाया है। राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला के माध्यम से उन्होंने अपनी भावनाओं का ही व्यक्तीकरण किया है। ऐसे गद्य-गीतों में कृष्ण-भक्ति के कवियों की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। इनमें कभी सन्ध्या-समय गाय दुहते समय राधा-कृष्ण के मिलन का चित्रण हुआ है,[१०] कभी रास में कृष्ण की छवि निरखने और उनके अन्तर्धान होने का।[११] गोपी भाव से उन्होंने कृष्ण से छिपकर मिलने का वर्णन बहुधा किया है।[१२] यमुना-तट पर जल भरने का उल्लेख भी है[१३] और यमुना से धीरे-धीरे बहने की प्रार्थना भी की गई है, क्योंकि यमुना-तट के कुञ्ज में रात का उनींदा माधव सोया हुआ है।[१४] वे कृष्ण को अनंग की रंगशाला में होने वाली चौपड़ का खिलाड़ी कहती हैं, जो द्यूत-क्रीड़ा में प्रवीण है तथा जिसने चितवन के पासे से दाव पर रखा हृदय-मोती जीत लिया है।[१५] कभी कृष्ण से वे ब्रजरानीजू का

१. 'मौक्तिक माल', पृ० ११८।
२. 'वंशीरव', पृ० ४।
३. 'मौक्तिक माल', पृ० ४।
४. वही, पृ० ६३।
५. 'शारदीया', पृ० ४६, ५०, ६२; 'वंशीरव', पृ० ६०; 'मौक्तिक माल', पृ० ५१।
६. 'उन्मन', पृ० ५२।
७. 'मौक्तिक माल', पृ० २०; शारदीया', पृ० ४२-४३।
८. 'वंशीरव', पृ० ५७, ५८।
९. 'स्पन्दन', पृ० ६८।
१०. 'शबनम', पृ० ४८।
११. 'मौक्तिक माल', पृ० ६९-७०; 'शारदीया', पृ० १५०।
१२. 'शबनम', पृ० ८७; 'शारदीया', पृ० ३६।
१३. 'शारदीया', पृ० ८३।
१४. 'दुपहरिया के फूल', पृ० ५।
१५. वही, पृ० ६।

जूड़ा बँधवाती हैं।[१] कभी राधा-कृष्ण के प्रेम से अपनी तुलना करती हैं,[२] कभी वृन्दावन की स्वर्गीय सुषमा पर मुग्ध होती हैं,[३] कभी श्याम के साथ तारों के मण्डप के नीचे विचरती हैं[४] और कभी अपने को साँवरे द्वारा डरा हुआ बताती हैं।[५]

लेकिन क्या दिनेशनन्दिनीजी में केवल लौकिक प्रेम की ही व्यञ्जना है? क्या वे परित्यक्ता, वंचिता, प्रताड़िता के रूप में ही अपने गद्य-गीतों में अभिव्यक्त हैं? क्या राधा-कृष्ण के माध्यम से अथवा प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने अपनी अतृप्ति और वासना का ही चित्रण किया है? ऐसा मानना उनके प्रति अन्याय होगा। उन्होंने आध्यात्मिक भावनाओं को भी समान रूप से स्थान दिया है और अद्वैतवाद, योग-दर्शन, सूफी मत, भक्ति-भावना के भावुकतापूर्ण उद्‌गार व्यक्त किये हैं। जीव-ब्रह्म की एकता अथवा प्रकृति-पुरुष के अभेद को उन्होंने अपने गद्य-गीतों में स्थान दिया है।[६] जीव वस्तुतः उस परब्रह्म का अंश है। वे ब्रह्म को सौन्दर्य और अपने को उसकी धूल तथा ब्रह्म को नीलकमल और अपने को उसकी मलयानिल-ताड़ित छाया कहती हैं।[७] यह आत्मा दीपक के रूप में विश्व में अवतरित होती है और इसमें स्नेह उसी महान् प्रभु का रहता है।[८] संसार तृष्णा का तप्त मरुस्थल[९] और माया का लाक्षागृह है।[१०] वह ब्रह्म पके अथवा कमल-कोष की भाँति है, जो मनुष्य की पहुँच के बाहर है।[११] एक चिरन्तन पथिक की तरह वे उसकी खोज में बराबर चली जा रही हैं।[१२] उसकी प्राप्ति वेद-वेदान्त से नहीं, प्रेम से ही हो सकती है।[१३] सर्वस्व समर्पण की भावना से उन्होंने उसके चरणों पर अपने को निछावर कर दिया है।[१४] हास्य-रुदन से परे लोक है, उसमें वे अपने प्रेमी के साथ विहार करने को लालायित हैं और इसीलिए मेघ-यान पर चढ़कर उस स्वर्ग-लोक की सैर करती हैं।[१५]

आध्यात्मिक कोटि में ही उनके वे गद्य-गीत आते हैं, जिनमें सूफी मत का प्रभाव है। 'शारदीया' और 'दुपहरिया के फूल' में ऐसे गद्य-गीतों की भरमार है। इनमें प्रेम की शराब को लेकर भिन्न प्रकार से हृदय की बात कही गई है। प्रतीक भी सब फारसी

---

१. 'दुपहरिया के फूल', पृ० ४१।
२. वही, पृ० ४४।
३. वही, भाग २, पृ० १६।
४. 'उन्मन', पृ० २०, २२।
५. वही, पृ० ३०।
६. 'शबनम', पृ० ३५; 'शारदीया', पृ० २१।
७. 'मौक्तिक माल', पृ० ३, ४, ६१।
८. वही, पृ० ७६।
९. वही, पृ० ४६।
१०. 'शारदीया', पृ० २०।
११. 'मौक्तिक माल', पृ० ५९।
१२. 'दुपहरिया के फूल', पृ० ३३; 'स्पन्दन', पृ० ४४।
१३. 'मौक्तिक माल', पृ० ७३; 'दुपहरिया के फूल', पृ० ३८।
१४. 'मौक्तिक माल', पृ० २७।
१५. 'शबनम', पृ० ६; 'शारदीया', पृ० २१; 'उन्मन', पृ० ६५, ८५।

शायरी के ही आये हैं।[१] इन गद्य-गीतों में कभी वे प्रिय की उपेक्षा की शिकायत करती हैं, कभी अपनी पीड़ा से उसे पीड़ित न करने का संकल्प करती हैं, कभी मिलने के लिए बेचैन दिखाई देती हैं, कभी अपनी बेबसी का चित्र अंकित करती हैं, कभी विरह के तीव्र दर्शन से चौंक उठती हैं, कभी उसकी मनुहार करती हैं, कभी अकेली रहने देने की विनय करती हैं।[२]

प्रकृति से दिनेशनन्दिनीजी को कम अनुराग है, अतः उसका उपयोग उद्दीपन रूप में ही अधिक किया गया है।[३] चित्रों की दृष्टि से देखें तो सन्ध्या तथा रात्रि के चित्र ही अधिक हैं, जो उनके निराश और दुखी जीवन के प्रतीक हैं। इनमें वे कभी अपनी दशा का प्रकृति से सामञ्जस्य करती हैं और कभी उसके द्वारा संकेत से अपनी व्यथा व्यक्त करती हैं।[४]

वृत्तियों के चित्रण और जीवन के तथ्यों की व्यञ्जना भी दिनेशनन्दिनीजी की कृतियों में हुई है। वृत्तियों में प्रेम का ही विवेचन विशेष रूप से हुआ है। प्रेम की परिभाषा, उसका स्वरूप, उसकी रीति-नीति, उसके जीवन के लिए अनिवार्यता आदि पर उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है।[५] यह उनके जीवन का दर्शन है। वे प्रेम को महान् सत्य, पूर्ण सौन्दर्य और चिरन्तन प्रकाश मानतीं और जीवन की सरलता के लिए उसके अस्तित्व को स्वीकार करती हैं। प्रेम का प्रतिकार प्रेम ही हो सकता है और गुप्त प्रेम ही प्रेम की सबसे ऊँची कोटि है।

जीवन के तथ्यों की व्यञ्जना उन्होंने दो प्रकार से की है—१. सामान्य तथ्य-कथन के रूप में और २. समस्या के रूप में। पहले प्रकार में उन्होंने अपनी सूक्तियाँ दी हैं। जैसे—जहाँ में मृत्यु का चक्र निरन्तर चल रहा है और हम जीवन-तरु की शाखाओं से टूट-टूटकर गिर रहे हैं,[६] रूह आइना है और यह तन उस पर आई हुई रज,[७] दिलवर का हुस्न काजी की आँख से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि लैला को देखने के लिए चाहिए काज़ी की आँख,[८] प्यासे के लिए निर्मल नद हो तो भी, मृग-मरीचिका की ओर ही लम्बी-लम्बी डग भरने में विचित्र आह्लाद है,[९] जीवन का बौद्धिक पहलू अपने उजले दिखने वाले कृष्ण-वारों से यौवन-जड़ित रंगीन अभिलाषाओं को मिटाकर भविष्य के धुँधले पट पर प्रश्न का चिह्न बना देता है।[१०] समस्याओं में एक अनजान भावुक-हृदय व्यक्ति की भाँति

---

१. 'शारदीया', पृ० ४६, ७८; 'दुपहरिया के फूल', पृ० १५।
२. 'मौक्तिक माल', पृ० ८८; 'शारदीया', पृ० ३८; 'वंशीरव', पृ० २; 'स्पन्दन', पृ० ६६-७०; 'दुपहरिया के फूल', पृ० २६, ३४; 'उन्मन'; पृ० ४१, ४४; 'स्पन्दन', पृ० १६।
३. 'शबनम', पृ० ४२; 'मौक्तिक माल', पृ० २२, ३७, ६५; 'शारदीया', पृ० ६२, ६६।
४. 'शबनम', पृ० १३, ५५; 'वंशीरव', पृ० ४२।
५. 'शबनम', पृ० ४७; 'मौक्तिक माल', पृ० १, ७०, १०८; 'शारदीया', पृ० १८, २८, ५१, ६४; 'दुपहरिया के फूल', पृ० ३२, ४५।
६. 'शबनम', पृ० ३२।
७. 'दुपहरिया के फूल', पृ० १५।
८. वही, पृ० २६।
९. 'मौक्तिक माल', पृ० ४६।
१०. 'वंशीरव', पृ० ७।

वे अपनी जिज्ञासा प्रकट करती हैं और जैसे वे एक गद्य-गीत में प्रश्न करती हैं कि यदि मृत्यु कल्याण करती है तो देवता क्यों नहीं मरते, यदि जीवन त्रिताप-पीड़ित है तो फिर देवता क्यों अमर हैं, यदि प्रेम कुछ नहीं है तो देवता क्यों प्रेम में लवलीन हैं, यदि प्रेम ही सर्वस्व है तो प्रेम के अतिरिक्त प्राणि-मात्र को और कुछ करना ही क्यों चाहिए।[1]

दिनेशनन्दिनीजी के गद्य-गीतों में बहुत बड़ा आकर्षण और सौन्दर्य उनकी 'प्रवाही' रंगीन भाषा है और इस सम्बन्ध में उनका कथन है—"गद्य-काव्य के लिए शब्दों का सुचारु चयन बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना वह बिलकुल रसशून्य और सूखा प्रतीत होगा। रंगीन भाषा के अभाव में गद्य-काव्य की रचना असम्भव है।[2] उन्होंने अपनी भाषा को रंगीन बनाने के लिए अरबी, फारसी के शब्दों का सहारा लिया है। दर्दे इश्क, विस्मिल, दर्दे उलफत, साकी, सनम, फलक, तुरबत, हश्र, मजार, किश्ती, बुर्दाफरोश, खिजाँ, सैयाद, नरगिस, निमानी आँखें, नशेमन, सुबहपीरी, मञ्जिले मकसूद, गुले लाला, बेहोशी की शिकन, फिराक, रूहे मुहब्बत, मदहोश, शवाबे शमा, फना, सितम, कयामत, रुतबा, पीरे फुगाँ, अर्शे बलन्दी, सदा-ए-गैब, कौमे कैफियत, रोजे अजल, खार, मगरिब, जल्लाद, ज़ालिम आदि शब्द बराबर आए हैं। कुछ शब्दों में हिन्दी-उर्दू का मेल भी किया गया है और इस प्रकार नये शब्द बनाये गए हैं। स्वप्नों की तरुण वारुणी, हर्षातिरेक की प्याली, जीवन का आसव, मोतिया यौवन, शबनम स्निग्ध, लहू लाल, मृत्यु-अन्धकार, धूम्र-धुँधले-जैसे शब्द इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। कहीं-कहीं कोमलता के लिए रूपरारी आँखें, उबकना, मातलता, बैरिन, निगोड़ा-जैसे शब्दों को भी अपनाया गया है। इन शब्दों ने उनकी भाषा को दर्द और कसक से भर दिया है और उनकी व्यथा मूर्तिमन्त हो गई है। उनके सम्बोधन भी बड़े मस्ती-भरे हैं। अपने प्रियतम को स्वामी या नाथ कहना उन्हें पसन्द नहीं है। पिया, बलमा, सैयाँ, ऐ दिलफेंक, ऐ दिलवर, ऐ स्वच्छन्द, जालिम, पीतम, प्रेमी, क़लाविद, पागल, बुत-जैसे सम्बोधन जब आदि, मध्य या अन्त में आते हैं तो ऐसा अनुभव होता है जैसे सम पर आकर कोई ताल रुक गई हो और पाठक का मन झकझोर गई हो। सम्बोधन ही नहीं, पद्य तुकान्त से आरम्भ होने वाले उनके गीतों की भी अलग छटा है। काहे डोलत फिरे, भूलन हेतु पढ़ो (मौक्तिक माल), मुझसे मत मिल मोद भरे, सैयाँ मुझे तिल-तिल न मारो, मन काहे सोच करे, घनश्याम मैं तो आई गगरी भरन (शारदीया), रिमझिम-रिमझिम बरसे बदरवा (वंशीरव), मधु-श्याम रचो न रास, श्याम तो मथुरा गयो री ? (उन्मन)-जैसी गीत की टेकें हृदय को पकड़ लेती हैं। आत्मा के लिए 'बुलबुल', जीव के लिए 'अन्धा पक्षी', शरीर के लिए 'कोटर', मिलन के लिए 'पुष्प', विरह के लिए 'कमल', निराशा के लिए 'नीला नकाब', संसार के लिए 'मयखाना', मस्ती के लिए 'मये गुलरंग', प्रभु के लिए 'साकी', शराब के लिए 'माधवी' या 'द्राक्षाकुमारी' का प्रतीकात्मक प्रयोग उनकी भाषा की एक दूसरी विशेषता है।

अलंकारों में उन्हें उपमा विशेष प्रिय है। उपमाएँ भी एक-से-एक अनूठी हैं।

१. नवोढ़ा के कलित शयनागार में बिखरे आभूषणों की तरह तारे आकाश में

---

१. 'शारदीया', पृ० ६४।

२. 'शबनम', पृ० ७६।

बिखर पड़ते हैं।[1] २. पके आम की तरह मृत्यु की गोद में टपक पड़ूंगी।[2] ३. सन्ध्या के प्रथम तारे से नवीन, पुलक के स्वप्निल स्पन्दन से मुग्ध, सृष्टि के स्मित हास से मधुर और जीवन की एकाकी आशा से सुन्दर तुम मुझे प्रतीत हुए।[3] अन्य अलंकारों में विरोधाभास,[4] दृष्टान्त,[5] उदाहरण,[6] प्रतीक,[7] विशेष प्रयुक्त हुए हैं। मानवीकरण अमूर्त भावनाओं का अधिक किया गया है।[8] कुछ मौलिक उद्भावनाएँ भी हैं, जो वैसे ही चमत्कृत करती हैं जैसा अलंकार। मेरा तन एक गोलाकार है और दिल उसका नुक्ता है। तुम इस आहों-सनी भरम कोठरी में गैप हो गए,[9] चाँद की चमक में भरी हुई वारुणी किसी असन्तुष्ट ग्रह ने चलते-चलते बादलों की सप्तरंगी पहाड़ियों पर पलट दी है[10] का अपना अलग आकर्षण है।

शैली की दृष्टि से सम्भावना शैली, दृष्टान्त शैली, पद्य-तुकान्त शैली, विरोधाभास शैली और सूक्ति शैली का प्रश्रय विशेष रूप से लिया गया है। वैसे जिस विपुल संख्या में उन्होंने गद्य-गीत लिखे हैं उसमें कौन ऐसी शैली है, जिसका उदाहरण उनमें ढूंढ़े से न मिल जाए। यों वह उर्दू, फारसी की शब्दावली के लिए ममता रखती है, परन्तु संस्कृत की सामासिक पदावली वाली अलंकृत भाषा देखनी हो तो वही उनकी कृतियों में पर्याप्त है।[11] अरबी-फारसी-मिश्रित शैली का चमत्कार 'गुल दुपहरिया के फूल' में चरम सीमा पर पहुँच गया है और कुछ-कुछ अस्वाभाविक-सा भी लगता है। पीछे चलकर 'उन्मन' और 'स्पन्दन' में शैली में गाम्भीर्य आने से भाषा संयत हो गई है। श्री शिवाधार पाण्डेय ने 'मौक्तिक माल' की भूमिका में जो लिखा है वह उनकी गद्य-शैली के लिए समग्र रूप से लागू है। वे लिखते हैं—"यह गद्य सजीव है, सबल-सुन्दर है। उस पर आत्मा की छाप है। दिव्य की छाप है। वह भावों में गोते लगा रहा है, तारों से भाँति-भाँति के स्वर निकाल रहा है, कहीं हिन्दी-उर्दू गले मिलती हैं, कहीं मुल्ला और पण्डित प्रेम से पढ़ते हैं। उसमें विधना रूप बदलता है, मोहन मोहन ही ठहरते हैं। शैली में आँसू हैं, मुसकान है, आँच है। 'संध्या होते ही मैं सरोवर पर जा बैठी। बिना सावन के ही बदरिया झुक आई' यह गद्य की सुरीली बाँसुरी है। 'मनमृग काहे डोलत फिरे' यह पद्य की सरहद पर छाया है। 'चाँद के प्याले में अंगूर का आसव', 'एक ओर पृथ्वी की अनन्त सुषमा और आह्लाद ही मदिरा

---

१. 'मौक्तिक माल,' पृष्ठ ४१।
२. 'मैं इनसे मिला' (भाग २), पृष्ठ १३६।
३. 'वंशीरव', पृ० ६।
४. 'शारदीया', पृ० ४४-४५; 'दुपहरिया के फूल', पृ० ३८।
५. 'मौक्तिक माल', पृ० ४८-४६, ७४; 'शारदीया', पृ० ८१; वंशीरव', पृ० २०।
६. 'शबनम', पृ० ८०; 'मौक्तिक माल', पृ० ८४; 'शारदीया', पृ० २६; वंशीरव', पृ० ६२; 'दुपहरिया के फूल', पृ० १६; 'उन्मन', पृ० ४८; 'स्पन्दन,' पृ० ६५।
७. 'शबनम', पृ० ६२; 'मौक्तिक माल', पृष्ठ १३, ५०।
८. 'शारदीया', पृ० १११; 'उन्मन', पृ० १०-११।
९. 'दुपहरिया के फूल', पृ० १५।
१०. 'मौक्तिक माल', पृ० ६१।
११. 'शारदीया', पृ० २४, ४८; उन्मन', पृ० १४, २१; 'वंशीरव', पृ० ६।

होगी' दूसरी ओर 'तरल तारिकाकान्त किरीटेन्दु और तेजोमय तमाल' इधर, 'और फिर, मैं ढूँढे भी न मिलूँगी, उधर यह मौला ही की करतूत है।' शब्दों के लाड़ले कहीं कमरों में सँवारे जाते हैं, कहीं आप ही आँगन में छगन-मगन हैं। छोटे-छोटे गीत बड़े-बड़ों से बाजी मार ले गए हैं। राजहंस कहीं उड़ान ले रहे हैं, कहीं छीर ही छान रहे हैं। यहाँ ईरानी वारुणी है तो वहाँ भारतीय पंचामृत या गोलोक का गंगा-जल।" [१]

श्री माखनलाल चतुर्वेदी

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म सन् १८८८ में मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के बाबई ग्राम में हुआ। यद्यपि आर्थिक संकट के कारण आप उच्च शिक्षा न प्राप्त कर सके, तथापि आपने घर पर ही संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती, उर्दू और अंग्रेज़ी में प्रशंसनीय योग्यता प्राप्त कर ली। आपने पहले मसनगाँव में अध्यापकी की और बाद में खण्डवा में। खण्डवा आपकी कर्मभूमि है।

आपके पूर्वज जयपुर के रहने वाले थे। आपके पिता पं० नन्दलाल चतुर्वेदी परम वैष्णव और सूर तथा तुलसी के पदों के प्रेमी थे, अतः पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी पर भी इसका पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा। आप आठ-नौ वर्ष की अवस्था से ही काव्य-रचना करने लगे थे। आपकी पहली रचना ब्रजभाषा में थी, जो 'रसिक मित्र' में प्रकाशित हुई।

साहित्य-क्षेत्र में आपका प्रवेश एक पत्रकार के रूप में सन् १९१३ में तब हुआ, जब श्री कालूराम गँगराड़े के सम्पादकत्व में 'प्रभा' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ और चतुर्वेदीजी उसके सम्पादकीय विभाग में आ गए। पत्रकार-कला में आपका आदर्श पूना का 'केसरी' था। 'प्रताप' का भी आपने सम्पादन किया और श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की दीक्षा ली। १९१९ में पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल और पण्डित माधवराव सप्रे के आग्रह से 'कर्मवीर' का प्रकाशन हुआ। चतुर्वेदीजी उसके सम्पादक बने। 'कर्मवीर' के सम्पादक बनने के साथ ही आप राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगे और १९२१ में महात्मा गांधी द्वारा संचालित राष्ट्रीय आन्दोलन में आप जेल गये। गांधीजी के राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल जाने वाले आप मध्यप्रान्त के सर्वप्रथम व्यक्ति थे। उनके इस वीरतापूर्ण कार्य का प्रान्त में व्यापक प्रभाव पड़ा और कारावास की कठोरताओं को चुनौती देने वाली बाल-सेना तैयार हो गई।

आपने जहाँ क्रियात्मक राजनीति में भाग लिया वहाँ अपनी राष्ट्रीय कविताओं द्वारा नव-चेतना जाग्रत करने की चेष्टा की। 'कर्मवीर' द्वारा उन्होंने जनता के अधिकारों की रक्षा और ब्रिटिश सरकार के प्रति द्रोह दोनों का समर्थन किया। राजनीति के मामलों में 'कर्मवीर' के इस यशस्वी सम्पादक ने कभी पराजय का मुख नहीं देखा, सदा विजयी होकर अपनी कीर्ति-कौमुदी का विस्तार किया। रतौना के कसाईखाने को हटाने के लिए जो आन्दोलन इन्होंने चलाया उसमें ब्रिटिश सरकार झुकी। देशी राज्यों की राजनीति के संचालन में राजाओं के कोप-भाजन बनने पर भी आप कभी आदर्श से विचलित नहीं हुए। सन् १९२३ में नागपुर के झण्डा-सत्याग्रह में सरकार को उन्होंने करारी मात दी।

१. 'मौक्तिक माल', पृ० २।

क्रांतिकारियों के साथ उनका सदैव घनिष्ठ सम्पर्क रहा और रासबिहारी बोस-जैसे महान् क्रान्तिकारी तक ने उनके यहाँ आश्रय पाया।

राजनीतिक आन्दोलन की भाँति साहित्यिक आन्दोलनों का भी आपने नेतृत्व किया। सन् १९२९ में आप भरतपुर के सम्पादक-सम्मेलन के अध्यक्ष बने। सन् १९३० में रायपुर तथा १९३५ में कटनी में होने वाले मध्यप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति बनाये गए। सन् १९३८ में बनारस में होने वाली अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार परिषद् के सभापति हुए। सन् १९४३ में हरिद्वार के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए और चाँदी के सिक्के से आपका तुला-दान हुआ।

राजनीति और साहित्य के अतिरिक्त शिक्षा के क्षेत्र में भी आपकी सेवाएँ सराहनीय हैं। खण्डवा के ईश्वरदास वल्लभदास हाई स्कूल और नीलकण्ठेश्वर कॉलेज के निर्माण और संचालन में आपका बहुत बड़ा हाथ है। अनेक निर्धन और असहाय छात्रों की आपने आर्थिक सहायता की है। छात्रों को न केवल स्कूलीय शिक्षा वरन् साहित्य-निर्माण की दिशा में भी प्रेरणा प्रदान की है। मध्यप्रान्त का बड़े-से-बड़ा साहित्यकार उनका ऋणी है। तरुणाई के आकर्षण केन्द्र इस साधक ने माँ का हृदय पाया है, अतः अपनी मृदुता और कोमलता से मध्यप्रान्त के बाहर के तरुणों के भी आप 'दादा' हैं।

आपकी कृतियों में 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक, 'हिम-किरीटिनी', 'हिम-तरंगिनी' और 'माता' कविता-संग्रह, तथा 'साहित्य-देवता' गद्य-काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं। 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक हिन्दी का सफल अभिनेय नाटक है। कविता के क्षेत्र में राष्ट्रीयता और भक्ति के समन्वय से छायावादी सांकेतिकता को अपनाकर आपने नई ही शैली को जन्म दिया है। कविता के क्षेत्र में राष्ट्रीयता सभी यथार्थ परिस्थितियों से उद्भूत है, पर अनुभूति की गहराई और भावना की ऊँचाई से वे उच्चस्तरीय साहित्यिक निधि बन गई हैं। 'साहित्य देवता' के सम्बन्ध में तो गुजराती के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री के० एम० मुन्शी का यहाँ तक कहना है कि उसकी गणना संसार की सर्वश्रेष्ठ सात कृतियों में की जा सकती है।

स्वभाव आपका बालकों-जैसा सरल है और रहन-सहन में संन्यासी-जैसी सादगी है। अध्ययन आपकी हॉबी है और साहित्य की भाँति संगीत-कला तथा चित्र-कला के प्रति भी पर्याप्त प्रेम है। उनकी रचनाओं में इन सभी की स्पष्ट छाप मिलती है। श्री शारदा-प्रसाद वर्मा ने उनके साहित्य के सम्बन्ध में लिखा है—"आपके साहित्य पर आपके पूज्य पिताजी की परम वैष्णवता, सैयद अमीर अली 'मीर' का हास्य और व्यंग्य-सम्मिलित पुट, स्वामी रामतीर्थ का मस्तानापन, अल्हड़पन, भावुकता और भावावेश, सरदार पूर्णसिंह की अभिव्यंजना-शक्ति और लाक्षणिकता, पं० माधवराव सप्रे की दार्शनिकता और विचार-शालता, लोकमान्य तिलक के 'केसरी' की सम्पादकीय निर्भीकता, विचार-स्वातन्त्र्य और पैनापन, इन सबका सम्मिलित प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।"[1] इसमें विनोबा की जीवन-दृष्टि और गणेशशंकर विद्यार्थी की बाल-भावना और मिल जाए तो चतुर्वेदी का समग्र व्यक्तित्व मुखर हो उठता है।

स्वाभिमान और सात्विकता आपके जीवन की विशेषताओं में प्रमुख हैं। झुकना

१. 'युगारम्भ' (मासिक) का 'माखनलाल अभिनन्दन अंक', पृ० १।

आपने कभी सीखा ही नहीं। भारतीय संस्कृति के आप परम उपासक हैं। अब भी 'राम-चरितमानस' का पाठ चलता है। शिशु उनके लिए खेलने के साधन हैं और कोई उन्हें मारे-पीटे, यह उनके लिए असह्य है। सरस्वती की साधना के लिए चाहे जितने कष्ट उठाने पड़े हों, आपने लक्ष्मी की दासता स्वीकार नहीं की। आप यद्यपि राष्ट्रीय कवि के नाते ही विख्यात हैं, तथापि आप अभिनव गद्य-शैलीकार, नाटककार, कथाकार, पत्रकार, आलोचक और विचारक हैं और इससे भी अधिक नई पीढ़ी के निर्माताओं में शीर्ष स्थान को सुशोभित करने की क्षमता रखने वाले दिव्य व्यक्तित्वशाली महान् साधक हैं।

गद्य-काव्य

श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' की गद्य-काव्य की एक ही कृति 'साहित्य देवता' प्रकाशित है। यों उनके अनेक सम्पादकीय लेख, कहानियाँ और भाषण यदि छापे जाएँ तो गद्य-काव्य के कितने ही उत्कृष्ट ग्रन्थ बन सकते हैं। 'रंगों की बोली' नामक उनकी रचना 'हिमालय'[1] में प्रकाशित हुई है, वह भी उनकी प्रौढ़ गद्य-काव्यात्मक कृति होगी। यहाँ हम 'साहित्य देवता' का ही विश्लेषण करेंगे।

श्री विनयमोहन शर्मा ने 'साहित्य देवता' की रचनाओं के तीन भाग किये हैं— (१) गद्य-काव्य, (२) गद्य-गीत और (३) काव्यमय गद्य। प्रथम भाग की रचनाओं में 'मुक्ति भरत जहँ पानी', 'साहित्य देवता', 'साहित्य की वेदी', 'असहाय नाश', 'अमर निर्माण', 'गिरधर गीत है', 'मीरा मुरली है', 'लहर चीर विजया मना' आदि उद्गार आते हैं। द्वितीय भाग की रचनाओं में 'आशिक', 'असहाय श्याम घन', 'तुम आने वाले हो', 'मुरलीधर', 'गृह-कलह', 'इसी पार', 'मोहन', 'दूर की निकटता'— '...के साथी से' आदि की गणना होगी। तृतीय भाग में 'जोगी', 'जब रसवन्ती बोल उठें', 'महत्त्वाकांक्षा की राख', 'जनता', 'अँगुलियों की गिनती की पीढ़ी', 'शस्त्र क्रिया', 'नीलाम', 'बैठे-बैठे का पागलपन', 'जीवन का प्रश्न-चिह्न स्त्री' आदि रचनाएँ ली जाएँगी।

इन तीनों प्रकार की रचनाओं में सबसे प्रमुख विचार-धारा राष्ट्रीयता की है। उनकी राष्ट्रीयता की कल्पना बड़ी महान् है। 'साहित्य देवता' में उन्होंने राष्ट्र का जो स्वरूप खड़ा किया है, उसमें नगाधिराज का उसका मुकुट है, गंगा-यमुना का उसका हार है, नर्मदा-ताप्ती की उसकी करधनी है, कृष्णा और कावेरी की कोर वाला उसका पीताम्बर है, सह्याद्रि और अरावली उसके सेनानी हैं। पेशावर और भूटान को चीरकर उसकी चिर-कल्याणमयी वाणी विश्व में व्याप्त होती है। हिन्द महासागर उसके चरण धोता है।[2] ऐसे देश की प्रकृति कलाकार की आत्मा को गुदगुदाकर उससे अद्भुत कृतियाँ लिखवाती है।[3] प्राचीन भारतीय गौरव और समृद्धि को स्मरण करके वे भावावेश में आ जाते हैं और कहते हैं कि यह वही भूमि है, जहाँ व्यास, वाल्मीकि, कपिल, कणाद, राम, परशुराम, बुद्ध, महावीर, रघु, दिलीप, कृष्ण, विदुर, नारद, सरस्वती, सीता, द्रौपदी, प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल,

---

१. 'युगारम्भ' (मासिक) का 'माखनलाल अभिनन्दन अंक', पृ० ३७, ४१।

२. 'साहित्य देवता', पृ० १०-११।

३. वही, पृ० ११।

अकबर, कबीर, मीरा, सूर, चैतन्य, रामतीर्थ, तुकाराम, रामदास आदि ने जन्म लिया था।[1] देश-प्रेम की बात करते समय प्रान्त और जाति की सीमाओं की संकीर्णता उन्हें छू भी नहीं पाती। वे सदैव अपने देश की विराटता को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। एक स्थान पर साहित्य को दुर्गा के रूप में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने राष्ट्र की विराटता का ही परिचय दिया है।[2] नदी-सरोवर, टीले-टेकड़ी और खेत-खलिहान वाला समस्त राष्ट्र उसका सिंहासन है, संस्कृति गहना है, उथल-पुथल राज-दण्ड, मुकुट पहनकर किसी जाति के संकल्प और गरीबी फूलों के हार उसके जूड़े की शोभा और समस्त राष्ट्र के निवासियों की आत्मा ही उसका वस्त्र है। जब कभी वे राष्ट्र का उल्लेख करने का अवसर पाते हैं तब उनकी दृष्टि विशाल भारत-भूमि पर ही रहती है।

राष्ट्रीयता की इस विशाल दृष्टि के साथ दूसरी बात है वर्तमान अधोगति की ओर संकेत करते हुए उससे ऊपर उठने और उसके लिए बलिदान करने की प्रेरणा देना। इस नन्दन को, जिसे वे नन्दन वन से भी अधिक प्यार करते हैं, पतन के गर्त में पड़े देखकर खीझ उठते हैं। देश के तरुणों से अपने अस्तित्व की रक्षा का अनुरोध करते हैं। यूरोप की जातियों द्वारा प्राप्त प्रकृति पर विजय और वैज्ञानिक उन्नति का महत्त्व अपने देशवासियों को समझाते हुए वे ब्राह्मणों से समुद्र पूजने, क्षत्रियों से लहर काटने, वैश्यों से समुद्र पर से लक्ष्मी को लौटा लाने, शूद्रों से समस्त शरणागतों की रक्षा करने आदि की आशा रखते हैं; और कहते हैं उन दिनों को अर्थात् उस समृद्धि को पुनः लाओ जिसे अफीमची चीनी, अमानुल्लाह और कमालपाशा ढूंढ़ लाए।[3] रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठाते हुए वे अन्य देशों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाना चाहते हैं और भारत तथा उसके निवासियों को गौरव के उच्च शिखर पर आसीन देखना चाहते हैं।[4] तभी तो इस बाग (भारत) की रसा को सरस बनाने के लिए वे अपनी हड्डियों का खाद और इसके दाड़िम में दर्द का-सा स्वाद पैदा करने के लिए युग की अरुणिमा तक की खाद देने की प्रतिज्ञा करते हैं।[5] बलिदान की भावना उनमें इतनी तीव्र है कि हजारों तरुण-कलियों को सूली की सुई से बेधकर बलि देवी की प्रसन्नता के लिए माला बनाने में उन्हें प्रसन्नता का अनुभव होता है। यही कारण है कि उनके लिए कला प्रलय का खिलवाड़ अथवा विद्रोह है।[6]

एक बात और। श्री चतुर्वेदीजी ऐसे साहित्य को भी पसन्द नहीं करते जिसमें राष्ट्र, उसकी तरुणाई, उसके बलिदान और जनता की विजय का उल्लेख न हो। इतिहास की इस भूल की ओर संकेत करते हुए कि वहाँ राजाओं और सरदारों का तो नाम है, योद्धाओं और सैनिकों का नहीं; राज-परिवारों और नवाबी ऐयाशियों का उल्लेख तो है, गरीबों की वेदना और बलिदान का नहीं; वे कालिदास, माघ और बाण भट्ट तक को कला और

१. 'साहित्य देवता', पृ० ३५।
२. वही, पृ० ६७।
३. वही, पृ० १३१-१३२।
४. वही, पृ० ६३।
५. वही, पृ० ३७।
६. वही, पृ० ५४।

लालित्य के नाम पर तेग और प्रताप के पेट में छुरा भोंकने वाला कहते हैं।[१] नये युग, नई पीढ़ी और नए जीवन-मान के लिए वे निरन्तर क्रांति और विद्रोह का समर्थन करते हैं। मरण-त्योहार मनाकर अमरता प्राप्त करना उनके जीवन का चरम लक्ष्य है।[२]

दूसरी विचार-धारा उनके गद्य-काव्यों में भक्ति-प्रेम की है, लेकिन भक्ति-प्रेम की विचार-धारा भी बलिदान की भावना से युक्त है। भक्ति का आदर्श उनका क्या है यह देखिए—"मिलन-सुख की माँग वह करे, जो वियोग के मूल धन को स्वीकृत करे। मुक्ति माँगना भक्तों का बाना नहीं, वे तो बाहर के वियोग को हठकर न्योतने जाते हैं, उसके बिना अन्तर की एकरसता का उनमें ज्वर ही नहीं चढ़ता, ज्वार ही नहीं बढ़ता। अन्तर में 'राणाजी' से 'एक हो जाना', मीरा के गिरधर का प्यार है, तुलसी के रघुनाथ की घुँघराली लटों की लटकन है, तुकोबाराय (तुकाराम) के विसोबा के पदों की आहट है, सूर की अपने गोपाल को बेबसी के वैभव से भरी फटकार है।"[३] उनके आराध्य राधा-कृष्ण हैं—"वृन्दावन के राजा हैं दोउ श्याम राधिका रानी। चारि पदारथ करत मजूरी मुक्ति भरत जहँ पानी।"[४]

प्रेम कबीर की भाँति उनके लिए सिर का सौदा है। प्रेम और सुख में घोर विरोध है—"प्रेम और सुख! यदि तुम दुश्मन हो तो सगे, यदि तुम युग्म हो तो बड़े कलहप्रिय, यदि तुम मित्र हो तो बड़े षड्यन्त्रकारी, यदि तुम कमजोरी हो तो बड़ी भयंकर, यदि तुम बल हो तो बड़े निर्दय और यदि तुम अस्तित्व हो तो बड़े आकर्षक, मधुर मोहक!"[५] रोजाना एक के प्रति ईमानदार होकर दूसरे को ढूंढ़ते रहना प्रेम की परिभाषा नहीं है[६] और न रूप पर अवलम्बित रहने वाली भावना ही प्रेम है,[७] प्रेम तो साहित्य-जगत् में रस की हृदय को छू लेने वाली मीठी किन्तु पुरुषार्थमयी सुकोमलता का नाम है।[८] यही नहीं, यदि भक्ति सचमुच कोई (श्री विवेकानन्द के शब्दों में) योग हो तो उसे भावों के इस दीवाने प्रेम के द्वारा मजदूरिन बनकर रहना पड़ेगा। और मुक्ति-जैसी खुली हुई, स्वच्छन्द वस्तु को गरुड़ बनकर अपने पंखों पर इस दीवाने देवता की प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिए और यदि कोई प्रभु रहता हो तो इस अतिरेक के बीमार से दूर वह कहाँ रहेगा? किस आशा से?[९] अब तो यह स्थिति है कि प्रेम शब्द अब युग-परिवर्तन की यमुना की लहरों में भीगता जा रहा है और मौलिक विचारों की स्फूर्तियाँ उसे छू-छूकर नक्षत्रों की ऊँचाई से लड़ाई ठानने वाला बना रही हैं; अतः वह मच्छर-भरे तालाबों में भैंसों के साथ नहीं लोट सकेगा। वह कृष्ण की सौगन्धों की कीमत पर भी बाँसुरी की धुन में 'कच', 'कुच', 'कटाक्ष'

१. 'साहित्य देवता', पृ० ६१।
२. वही, पृ० ६३-६४।
३. वही, पृ० १८।
४. वही, पृ० १३।
५. वही, पृ० १५१।
६. वही, पृ० १४६।
७. वही, पृ० १४९।
८. वही, पृ० ९२।
९. वही, पृ० ९४।

गाता खड़ा न रह सकेगा। वह गीत ही गाएगा, किन्तु वे ज़माने का भाग्य लिखेंगे।[१] प्रेम की इस पावनता और युगानुकूलता में विश्वास रखने के कारण ही वे अपने आराध्य से 'इसी पार' रहने की विनय करते हैं, छायावादी कवियों की भाँति कल्पना-लोक में पलायन की नहीं।[२] यों कभी-कभी प्रकृति में उल्लास देकर उन्हें प्रियतम के आगमन का आभास भी होता है।[३] और कभी वे अपने मुरलीधर में अपने व्यक्तित्व का लय करते भी जान पड़ते हैं।[४] जब तक वे दूर रहते हैं तभी तक प्रिय के गुणों का गान रहता है, अन्यथा निकट होने पर दोनों एक हो जाते हैं।[५]

चतुर्वेदीजी साहित्य और कला के यथार्थ रूप के उपासक हैं, इसीलिए उनके गद्य-काव्यों में स्थान-स्थान पर साहित्य और साहित्यकार, कला और कलाकार के कर्तव्य, उनके महत्त्व, उनके वास्तविक स्वरूप पर विचार व्यक्त किये गए हैं। राजनीति में क्रियात्मक योग देकर भी वे उसके दास नहीं बने। 'आशिक' शीर्षक गद्य-काव्य में 'साहित्य और राजनीति' के स्वरूप की सांकेतिक व्यंजना करके उन्होंने राजनीति को साहित्य के चरणों में नत कर दिया है।[६] साहित्य उनके लिए सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु है। साहित्य ही वह शक्ति है, जिसने मनुष्य को पशुता से मुक्त किया। वे कहते हैं—"हे अनन्त पुरुष! (साहित्य) यदि तुम विश्व की कालिमा का बोझ सँभालते मेरे घर न आते तो ऊपर आकाश भी होता और नीचे ज़मीन भी, नदियाँ बहतीं और सरोवर भी लहरते; परन्तु मैं और चिड़ियाँ दोनों, और छोटे-मोटे जीव-जन्तु स्वाभाविक लता-पत्रों और अन्न-कणों से अपना पेट भरते होते। मैं भर-वैसाख में भी वृक्षों पर शाखामृग बना होता। चीते-सा गुर्राता, मोर-सा कूकता और कोयल-सा गा भी देता। परन्तु मेरा और विश्व के हरियालेपन का उतना ही सम्बन्ध होता जितना नर्मदा के तट पर हरसिंगार की वृक्ष-राजि में लगे हुए टेलीग्राफ के खम्भों का नर्मदा के खंभे से कोई संबंध हो।"[७] बलिदान से पूर्ण साहित्य का स्वरूप अंकित करने में देश ही स्वयं मूर्तिमान हो उठता है और देश और साहित्य पर्यायवाची हो उठते हैं।[८] कला का कार्य भूत और भविष्य का एकीकरण है।[९] ऐसी कला का वाहन कलाकार का विज्ञापन चिपकाए रहने वाला शरीर नहीं है, न उसका वाहन विलास है, न उल्लास; न सिसक न मुसुक। उसका वाहन तो वह प्रेरणा है, जिस पर वह अपने सम्पूर्ण इरादों और स्वप्नों को लेकर बैठ जाती है और तिस पर भी समय की दौड़ से आगे बढ़ जाया करती है। समय के साथ रहने पर तो सूरज और चाँद अपने प्रकाश से उसे हराकर बड़े बन जाने के अधिकारी हो जाते हैं; इसीलिए कलाकार, राहगीर का समय काटने की वस्तु-मात्र

१. 'साहित्य देवता', पृ० ६५।
२. वही, पृ० १२२।
३. वही, पृ० ११७-११८।
४. वही, पृ० ११६।
५. वही, पृ० १३८।
६. वही, पृ० ११३।
७. वही, पृ० ६।
८. वही, पृ० ११।
९. वही, पृ० २२-२३।

नहीं होता, वह समय का पथ-प्रदर्शक राहगीर होता है। कारण, कलाकार अपने युग की स्फूर्ति के प्रकाश के रंग में डूबी भगवान् की प्राणवान् प्रेरक और कल्पक कूची है।[1] इसीलिए साहित्यकार या कलाकार का मार्ग वेदना का मार्ग है।[2] वे साहित्यकार को अपने ज़माने की उथल-पुथल का सन्देशवाहक बना हुआ देखना चाहते हैं।[3] कविता और तरुणाई उनके लिए एक ही वस्तु के दो नाम हैं।[4] कवि के विभिन्न रूपों का दर्शन उनके शब्दों में करिए—"रेवा का कल-कल, कली की चटख, पैंजन की रुम-झुम, बाँसुरी की तान, मृदंग की घुमक, वीणा की मिठास और गम्भीर बादलों की तरह बिजली के तार के साथ बादल की प्रलय-हुंकार और उसके पश्चात् आँसुओं की तरह बेकार, असहाय, रिमझिम-रिमझिम गिरकर, पुनः अपनी मातृभूमि की गोद में गिर पड़ना, यह एक ही कवि के अनेक अवतार हैं।"[5]

गांधी और विनोबा के आदर्शों को आत्मसात् करने के कारण पतनोन्मुख शृंगारी कविता और बुद्धिवादी कुतूहलपरक रचनाओं को वे पसन्द नहीं करते। शृंगारी कविता पर उन्होंने करारा व्यंग्य किया है।[6] सच्चे कवियों का अभाव भी उन्हें अखरा है—"तुकी-बेतुकी तितलियाँ बहुत हैं, प्रभु बोझीले, नभ-विच्छेदी गरुड़ का पता नहीं।" उन्हें अपने साहित्य के खोखलेपन पर बराबर खीझ और आत्म-ग्लानि का अनुभव होता है। वे कहते हैं —"हमने जो-कुछ अपनी कृति से निर्माण किया वह देश की पराधीनता और साहित्य के दिवालिएपन के रूप में हमारे सामने है। यदि हम पतन के खिलाफ विद्रोह न कर सकें तो हमें आज अपने खिलाफ विद्रोह स्वीकृत करना चाहिए। फ्रैंच और जर्मन, रूसी और इंगलिश —इनके साहित्यों का आदान-प्रदान है। भाईचारे की भेंट की तरह एक भाषा दूसरी भाषा से यदि कुछ लेती है तो कुछ देती भी है। किन्तु हमारे साहित्य में तो हम भिखमंगों की तरह लेते ही हैं। देने को हमारे पास क्या है? जब हम अपने देश की भाषाओं से ही आदान-प्रदान या सम्बन्ध स्थापित नहीं करते तब पश्चिम की उन्नत भाषाओं से तो भाईचारा क्या स्थापित करेंगे।"[7] वे मस्तानी तरुणाई के आगे बढ़े हुए पैरों को रूढ़ियों और परम्पराओं से बाँधना उपयुक्त नहीं समझते।[8] परन्तु वैज्ञानिक विकास को हृदयवान् मानव का नाश कहते हैं।[9] और मशीनों का विरोध करते हैं।[10] वे साहित्य को सर्वोपरि मानकर कहते हैं—"आज के साहित्यिक चिन्तक पर ज़िम्मेवारी है कि वह पुरुषार्थ को दोनों हाथों में लेकर जीने का खतरा और मरने का स्वाद अपनी पीढ़ी में बोये।

१. 'साहित्य देवता', पृ० २६।
२. वही, पृ० ६६।
३. वही, पृ० ७१।
४. वही, पृ० ७१।
५. वही, पृ० ७३।
६. वही, पृ० ३७, ६२
७. वही, पृ० ५६।
८. वही, पृ० १०२।
९. वही, पृ० १०२।
१०. वही, पृ० ७८।

यह पुरुषार्थ शास्त्रधारी से नहीं हो सकता। यह तो कलम के धनियों के ही करने का काम है। वे ही इसे करें।"[१] उनकी आत्मा के लिए सौन्दर्य क्या है यह देखने पर साहित्यकार का उनका आदर्श समझा जा सकता है। वे कहते हैं—"पर्वत की एक गहरी दरी हो, उसमें कँटीले झाड़ हों। नज़दीक ही एक बाघिन अपने बच्चे को सहला रही हो। थोड़ी दूर पर एक साँप बाहर की हवा ले रहा हो और उसके पास ही उस झाड़ी के निकट खिला हो एक गुलाब—तो वह गुलाब का फूल हमें इतना सुन्दर मालूम होगा जितना सुन्दर हमने विश्व में कभी कुछ न देखा हो। ऐसे ही सौन्दर्य के सम्मुख कवि-कुल-गुरु कालिदास का, क्षण-क्षण में नवीन सौन्दर्य बीमार दीख पड़ता है। सौन्दर्य वह जो खतरों की गोद में अछूता सुन्दर, अडिग सुन्दर और अनोखा सुन्दर रह सके।"[२]

भाषा-शैली की दृष्टि से चतुर्वेदीजी हिन्दी-गद्य-काव्य-लेखकों में सबसे भिन्न पथ के अनुयायी हैं। न वे अलंकारों से अपनी भाषा को सजाते हैं, न क्लिष्ट शब्दों और सामासिक पदावली से उसे प्रभावोत्पादक बनाते हैं। वे अपने भावों और विचारों की प्रकृति के अनुकूल भाषा का निर्माण करते हैं और अपनी मनोगत भावनाओं को व्यक्त करने के लिए शब्द-निर्माण और वाक्य-गठन में जितनी स्वतन्त्रता वे बरतते हैं उतना हिन्दी का दूसरा गद्य-काव्य-लेखक नहीं। वे एक तो नये ढंग से विशेषण बनाते हैं और दूसरे विशिष्ट प्रकार की भाववाचक संज्ञा का प्रयोग करते हैं। विशेषणों में, 'दूबीले, सरसीले, बोझीले, दरदीले' आदि के ढंग के बनाते हैं और भाववाचक संज्ञाओं में 'तरलाई, तरुणाई, सरलाई, और पुन्याई' जैसे रूप मिलते हैं। 'उज्ज्वल उदासीनता' और 'उदार कंजूसी' जैसे शब्दों में भाववाचक संज्ञा के लिए विरोधी विशेषण लगाकर चमत्कार पैदा करते हैं। विरोधाभास से युक्त व्यंग्य लिखने में तो उनकी जोड़ का कोई व्यक्ति है ही नहीं—

१. उस समय उसकी खुली आँखें मुँदे जगत् की गुत्थियाँ सुलझाया करती हैं और मुँदी आँखें खुले जगत् में विश्व के परम सत्य का रंग भरती हैं।

२. उसके स्वरों में रंग होते हैं, उसके रंगों में स्वर होते हैं।[३]

३. वे चाहे कल्पकता के साथ हों, पर कलाकार के लिए वे सत्य की कल्पकता हैं।[४]

४. पहले मानवों द्वारा विचार बनते थे, अब विचारों की ज़मीन पर विधाता अपने मानव ढालने को बाध्य हो गया है।[५]

५. मेरा तो विचार है कि जो लोग बोलने का काम किया करते हैं वे काम का बोलना बहुत कम बोल पाते हैं।[६]

६. समय को श्रम मत बनाओ, श्रम को समय बनाओ।[७]

---

१. 'साहित्य देवता', पृ० १०५।
२. 'युगारम्भ', 'माखनलाल-अभिनन्दन-अंक', पृ० ८।
३. 'साहित्य देवता', पृ० २६।
४. वही, पृ० २६।
५. वही, पृ० ५४।
६. वही, पृ० ६६।
७. वही, पृ० ११७।

७. वह एक वाणी है जो लोक-हृदय को सोचकर चिल्ला रही है और चिल्ला-चिल्लाकर सोच रही है।[1]

कभी-कभी एक ही शब्द का प्रयोग वे कितने ही प्रकार से करते हैं जो उनके गहरे चिन्तन का परिचायक होता है—

१. फुरसत की घड़ियाँ कुछ लोगों की सनक की घड़ियाँ हैं, कुछ लोगों की लाचारी की घड़ियाँ, कुछ लोगों की काहिली की घड़ियाँ हैं। और कुछ लोगों के नाश की घड़ियाँ हैं। फुरसत की घड़ियाँ और वैसी ही फुरसत की घड़ियाँ कला के अस्तित्व की घड़ियाँ हैं। यहाँ कला पुरुषार्थवती होती है और पुरुषार्थ कला के चित्रों का रंग बन जाता है।[2]

२. वह लोक-जीवन के लिए प्रताड़ना सहता है। लोक-जीवन की भी प्रताड़ना सहता है और उसका जीवन पतनोन्मुख लोक-जीवन की रुकावट के लिए स्वयं प्रताड़ना बन जाता है, क्योंकि वह लोक-जीवन को प्यार करता है।[3]

३. निर्माण जिसका बचपन हो, निर्माण जिसका अध्ययन, निर्माण जिसका चिन्तन हो, निर्माण जिसकी कमाई और निर्माण ही जिसका औदासीन्य और आनन्द हो, विषाद और विनोद हो, तब निर्माण ही उसकी चिर-समाधि क्यों न हो। उसे निर्माण की समाधि न कहेंगे, वह तो पंचत्व को प्राप्त होकर भी समाधि के द्वारा, पीढ़ियों में, प्रेरणा के रूप में जीवित रहने वाला निर्माण ही कहा जाएगा।[4]

सूक्तियाँ तो उनकी शैली की जान हैं। वे पग-पग पर बिखरती चलती हैं और उनकी शैली को ताजगी देती चलती हैं—

१. स्वप्नों को पकड़ने का पथ तो अन्तरतर के स्वप्न-देश ही में से है।[5]

२. प्रेम साहित्य-जगत् में, रस की हृदय को छू लेने वाली मीठी किन्तु पुरुषार्थ-मयी सुकोमलता का नाम है।[6]

३. मनोभावों की कविता का छन्द हृदय है, आँखों की कविता का छन्द पुतलियाँ हैं।[7]

४. हानि-रहित और आनन्दोत्पादक उथल-पुथल को ही तो विनोद कहेंगे।[8]

५. कवि, सेनानी और सन्त बनने के लिए तो अस्तित्व की तलवार पर अपने अन्तर का ही पानी चढ़ाना होता है।

नई-नई सूझें और उपमा तथा रूपक-अलंकार उनकी शैली की दूसरी विशेषता हैं—

---

१. 'साहित्य देवता', पृ० १२६।
२. वही, पृ० २४।
३. वही, पृ० १२७।
४. वही, पृ० २३।
५. वही, पृ० २२।
६. वही, पृ० ६२।
७. वही, पृ० १३४।
८. वही, पृ० ८१।

१. विचारों के उत्थान-पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन को मार्ग-दर्शक बना तुम्हीं न कपास के तन्तुओं से झीने तार खींचकर विचार ही की तरह, आचार के जग में कल्याणी पांचाली वाणी की लाज बचा रहे हो।[1]

२. राज-द्रोह की सज़ा पाये हुए 'ए' क्लास के कैदी की तरह ये तूल तरुवर अकेले रह गए। हरियास-भरी आँखों ने कोसा—निष्ठुर सारी हरियास बिगाड़ दी।[2]

३. शक्ति वृन्दावन की गाय है, और मेरी प्रजनन-भावना यशोदा ग्वालिन है। एक दुही ही जाएगी, दूसरी दुहती ही जाएगी।[3]

४. हृदय तो वह स्टेशन है, जिस पर अस्तित्व अपना लगेज लेकर नहीं आ-जा जा सकता।[4]

५. प्रतिभा की नववधू स्याही से सास-जैसा और कागज़ से ससुर-जैसा भय मानकर पद-निक्षेप किया करती है, किंतु वाणी की स्वच्छन्दता में जितना कठोर मरण है, स्याही और कागज़ के भय में अनन्त काल को बेध सकने वाली उतनी ही महान् अमरता है।[5]

६. 'अ' को अक्षर-ब्रह्म कहा है और काल तथा कला में केवल 'अ' कारमात्र अपना स्थान बदल लेता है। कला तो समझ के काल का माप है।[6]

७. हम तो रेल के डिब्बे में दाई द्वारा पैदा कराये गए हैं। किसान की-सी विस्तृत, मल्लाह की-सी गम्भीर, वायुयान की-सी ऊँची नजर हममें आई कहाँ से ? तिस पर भी हम हैं साहित्य के आचार्य ही।[7]

जीवन को 'साँसों का हाज़िरी का रजिस्टर',[8] साहित्य को 'स्याही का शृंगार',[9] मनुष्य को 'साँस लेता मिट्टी का घड़ा',[10] युवकों को 'नई रेखों और बे-मूँछों की दुनिया',[11] आदि में उनकी मौलिक सूझ और अद्‌भुत चिन्तन-शक्ति का परिचय मिलता है।

किसी भी चीज़ को वक्रोक्ति के ढंग से प्रस्तुत करना चतुर्वेदीजी की विशेषता है। उनकी सूक्तियाँ, उनके विरोधाभास, उनकी फ़ारसी और संस्कृत-युक्त भाषा, उनकी मौलिक कल्पनाएँ और सूझें उनकी विधायक प्रतिभा की ऊँचाई के प्रमाण हैं और इस दृष्टि से वे हिन्दी-गद्य-काव्यकारों में बहुत ही ऊँचे स्थान के अधिकारी हैं।

---

१. 'साहित्य देवता', पृ० ७२।
२. वही, पृ० ४।
३. वही, पृ० ३४।
४. वही, पृ० ५८।
५. वही, पृ० ६८।
६. वही, पृ० ७१।
७. वही, पृ० ७६।
८. वही, पृ० ५३।
९. वही, पृ० ५।
१०. वही, पृ० ६६।
११. वही, पृ० ६४।

महाराज कुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह

महाराज कुमार रघुबीरसिंह का जन्म २३ फरवरी, सन् १६०८ ई० को सीता-मऊ (मालवा) के राजघराने में हुआ। आप सीतामऊ के महाराज सर श्री रामसिंहजी के सबसे बड़े पुत्र हैं। आपकी शिक्षा का प्रारम्भ घर ही हुआ और आपने सन् १६२४ में बड़ौदा से बम्बई यूनिवर्सिटी की मैट्रिक परीक्षा पास की। इण्टरमीजियेट भी सन् १६२६ में और बी० ए० सन् १६२८ में प्राइवेट ही पास किये। होल्कर कालिज इन्दौर से आपने एल-एल० बी० पास किया और एम० ए० फिर प्राइवेट किया। सन् १६३६ में आपको आगरा यूनिवर्सिटी से 'मालवा में युगान्तर' नामक अनुसन्धानपूर्ण ग्रन्थ पर डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की गई। आगरा यूनिवर्सिटी से किसी अनुसन्धानपूर्ण ग्रन्थ पर डी० लिट्० की उपाधि इनसे पहले किसी अन्य को नहीं मिली थी।

सन् १६३० से आपने राज्य के शासन-कार्य में हाथ बँटाना आरम्भ किया। १६३४ तक आपने वहाँ के महकमा खास में कार्य किया। १६३२ से १६४६ तक हाईकोर्ट के प्रबन्धक भी आप ही रहे। राज्य की पुलिस, रेवेन्यू, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि की व्यवस्था में भी आपने पूरा-पूरा सहयोग दिया। सन् १६३६ से आपको राज्य का पूरा उत्तरदायित्व सौंप दिया गया। इस प्रकार एक शासक की दृष्टि से कोई ऐसा विभाग शेष नहीं रहा जिसमें उन्होंने कार्य न किया हो।

राज्य के शासन की योग्यता ही नहीं, आपने सन् १६४०-४१ से सन् १६४५ तक फ़ौज में भी मेजर तक के पद पर कार्य करके युद्ध का अनुभव प्राप्त किया। देशी रजवाड़ों की समस्याओं का जितना ज्ञान महाराज कुमार को है, उतना कम व्यक्तियों को होगा। वे राजनीति और विधान दोनों विषयों में अभिरुचि रखने वाले विद्वान् शासक रहे हैं, अतः उन्होंने भारतीय वैधानिक विकास के साथ देशी रजवाड़ों की समस्याओं का गम्भीरता से अध्ययन किया। उन्होंने इस विषय पर एक प्रामाणिक पुस्तक 'भारतीय रजवाड़े और नया शासन' नाम की लिखी, जो विभिन्न विश्वविद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक रह चुकी है।

एक साहित्यिक के रूप में महाराज कुमार ने सन् १६२७ से ही पत्र-पत्रिकाओं में साहित्यिक और ऐतिहासिक निबन्ध लिखने आरम्भ कर दिए थे। उनकी ऐतिहासिक पुस्तकों में 'पूर्वमध्यकालीन भारत' नामक पुस्तक सन् १६३२ में छपी थी। अन्य ऐतिहासिक कृतियों में 'मालवा में युगान्तर' के अतिरिक्त 'रतलाम का प्रथम राज्य', 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इतिहास-सम्बन्धी पुस्तकों और बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थों से पूर्ण 'रघुबीर लाइब्रेरी' अनुसन्धान-कार्य करने वालों के लिए पवित्र तीर्थ की भाँति है।

हिन्दी की साहित्यिक कृतियों में 'सप्त दीप', 'जीवन-कण', 'जीवन-धूलि' और 'शेष स्मृतियाँ' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम दो पुस्तकें विभिन्न विषयों पर लिखे निबन्धों के संग्रह के रूप में हैं और अन्तिम दो गद्य-काव्य-सम्बन्धी पुस्तकें हैं। 'शेष-स्मृतियाँ' का गुजराती में भी अनुवाद हो चुका है। इसके अतिरिक्त आपने अंग्रेज़ी में अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'इण्डियन स्टेटस एण्ड न्यू रेजीम' और 'पूना प्रेसीडेंसी

'रिकार्ड सीरीज़' के अन्तर्गत सम्पादित कई बहुमूल्य ग्रन्थ बड़े महत्त्व के हैं। अपनी लाइब्रेरी की ऐतिहासिक पाण्डुलिपियों की जो सूची आपने तैयार की है उसकी भूमिका भारत के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री जदुनाथ सरकार ने लिखी है और इनके श्रम की प्रशंसा की है। राजवंश में जन्म लेकर भी आपमें विद्या के प्रति अटूट प्रेम है। कला और शिल्प के अतिरिक्त आपका चित्रकारी से भी विशेष अनुराग है। आप बड़े ही निरभिमानी और सरल स्वभाव के व्यक्ति हैं। उनमें एक सच्चे साहित्यकार की प्रतिभा और लगन है।

गद्य-काव्य

महाराज कुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह के परिचय में हम देख चुके हैं कि वे इतिहास के विद्वान् और अनुसन्धानकर्त्ता हैं। उनकी गद्य-काव्यात्मक कृतियों में भी इतिहास को ही आधार बनाया गया है। उनकी 'शेष स्मृतियाँ' ऐतिहासिक गद्य-काव्यों की पुस्तक है। ऐतिहासिक गद्य-काव्य लिखने वाले ये हिन्दी के एक-मात्र लेखक हैं। 'शेष स्मृतियाँ' में पाँच भावात्मक निबन्ध हैं, जिनका आधार ताजमहल, फ़तहपुर सीकरी, आगरा का किला, लाहौर की तीन (जहाँगीर, नूरजहाँ और अनारकली की) कब्रें और दिल्ली का लाल किला हैं। अपने इन निबन्धों में राजकुमार ने अकबर के समय से लेकर बहादुरशाह 'ज़फ़र' के समय तक के मुग़लकालीन इतिहास पर विचार किया है।

मुग़ल साम्राज्य के वैभव को उन्होंने एक स्वप्न कहा है। वह स्वप्न-लोक था, जिसमें स्वर्गीय जीवन की रंगीनियाँ थीं। वह स्वप्न टूट गया तो उसकी स्मृति ने हृदय को दबा लिया। स्मृति के कारण एक बार उस स्वप्न का फिर साक्षात्कार करना पड़ा। उस स्वप्न की स्मृति का कारण है मुग़ल बादशाहों की महत्त्वाकांक्षा को मूर्त्त रूप देने वाले किसी समय के रत्नों और बहुमूल्य ऐश्वर्य-सामग्री से जगमगाते भवनों के खण्डहर। महाराज कुमार लिखते हैं—"उन भग्न खण्डहरों में घूमते-घूमते दिल में तूफ़ान उठता है, दो आहें निकल पड़ती हैं, उसाँसें भर जाती हैं, आँसू ढुलक पड़ते हैं और···उफ़! इन खण्डहरों में भी जादू भरा है। समय को भुलावा देकर अब वे मनुष्य को भुलावा देने का प्रयत्न करते हैं। भग्न स्वप्न-लोक के, टूटे हृदय के, उजड़े स्वर्ग के उन खण्डहरों ने भी एक मानवीय कल्पना-लोक की सृष्टि की। हृदय तड़पता है, मस्तिष्क पर बेहोशी छा जाती है। स्मृतियों का बवण्डर उठता है, भावों का प्रवाह उमड़ पड़ता है, आँखें डबडबाकर अन्धी हो जाती हैं और अब विस्मृति की वह मादक मदिरा पीकर···नहीं समझ पड़ रहा है किधर बहा जा रहा हूँ।"[1] इन करुण स्मृतियों के मस्ताने दिनों, उनके उत्थान और पतन के चित्रों को लेकर महाराज कुमार ने एक भूलकाल की सरस झाँकी प्रस्तुत की है। क्यों की है? यह उनकी विवशता है। जो एक बार उस स्वप्न-लोक में विचरण कर लेगा वह बिना उसकी उजड़ी शोभा पर अश्रु बहाये और उसके भूत को याद किये, रह ही नहीं सकता—"आह, स्वप्न में भी स्वर्ग चिरस्थायी नहीं होता। स्वप्न-लोक में भी वही रोना। मानवीय आकांक्षाएँ भग्न होती हैं, निराशाएँ मुँह बाए उनका सामना करती हैं, कठोर निर्जीव जीवन उस स्वर्ग को तोड़-फोड़ डालता है तथापि स्वप्न देखने की यह लत! इतने कठोर

१. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ५१।

सत्यों का अनुभव कर उन करुणाजनक दृश्यों को देखकर भी पुनः उन सुखपूर्ण दिनों की याद करना, स्वप्न-लोक में विचरने का वह प्रलोभन तथा मस्ती लाने वाली विस्मृति मदिरा को एक बार मुँह से लगाकर ठुकरा देना—इतनी कठोरता—दिल नहीं कर सकता है ऐसी निष्ठुरता !"[१] इसीलिए उनका कथन है—"स्वप्न में भी उस भौतिक स्वर्ग को उजड़ते देखा, उसके खण्डहरों का करुणापूर्ण रुदन सुना, उसकी वे मर्माहत निश्वासें सुनीं और उनके साथ ही मैं भी रो पड़ा।"[२]

महाराज कुमार ने इतिहास की भाँति सम्राटों के तेज, प्रताप और प्रभुत्व को सूचित करने वाली घटनाओं को चित्रित नहीं किया है। उन्होंने तो अपनी कल्पना द्वारा उनके विलास और ऐश्वर्य का चित्र खींचा है। तेज, प्रताप और प्रभुत्व को तो सभी जानते हैं पर उनकी मानवीय आशा-आकांक्षाओं और पीड़ा-वेदनाओं के चित्र कहीं नहीं मिलते। महाराजकुमार ने उन्हीं को देने का प्रयत्न किया है और मानवीय आशा-आकांक्षाओं और पीड़ा-वेदनाओं के साक्षात्कार का एक-मात्र साधन है भोग-पक्ष का चित्रण करना, उसका पतनकालीन समय से वैषम्य दिखाना। महाराजकुमार ने इसके लिए बड़ी रुचि से विलास के चित्र दिये हैं, पर उसकी दृष्टि उनके पतन पर ही रही है और इस प्रकार एक विरोध (कण्ट्रास्ट) उपस्थित करके अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। पतन का चित्रण करते समय समवेदना का गहरा पुट उनकी अभिव्यक्ति को मार्मिकता दे देता है। 'ताज' के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"शाहजहाँ का वह विस्तृत साम्राज्य, उसका वह अमूल्य तख्त-ताऊस, उसका वह अतीव महान् घराना, शाही ज़माने का चकाचौंध कर देने वाला वह वैभव, आज सब-कुछ विलीन हो गया—समय के कठोर झोंकों में पड़कर वे सब आज विनष्ट हो चुके हैं। ताजमहल का भी वह वैभव, उसमें जड़े हुए वे अमूल्य रत्न भी न जाने कहाँ चले गए, किन्तु आज भी ताजमहल अपनी सुन्दरता से समय को लुभाकर भुलावा दे रहा है, मनुष्य को क्षुब्ध करके उसे रुला रहा है और यों मानव-जीवन की इस करुण-कथा को चिरस्थायी बनाये हुए है।"[३]

इसी प्रकार दिल्ली के लाल किले में 'नहर-ए-बहिश्त' सुगन्धित हमाम, जल-क्रीड़ा और रंगीन फव्वारों का वर्णन करते हुए विलास का चित्र देते हुए वे लिखते हैं—"सुरा, सुन्दरी और संगीत के साथ-ही-साथ जब सौरभ, सौन्दर्य और स्वर्गीय सुख भी बिखर-बिखरकर बढ़ जाते थे, तब बूढ़ों तक का गया यौवन भुलावे में पड़कर लौट पड़ता था, अशक्तों की असमर्थता उन्हें छोड़कर चल देती थी और दुखियों का दुःख भी उस जल में बह जाता था। उफ़! बहुत देख चुका उस स्वर्ग का वह उन्मादक दृश्य···जिसके कर अबाध गति से सब दूर पहुँच जाते हैं, वह सूरज भी वहाँ के दृश्यों को देखने के लिए तरसता था और अनेक बार प्रयत्न करने पर बरसों की ताक-झाँक के बाद ही कहीं उसकी कोई एकाध किरण उन बड़े-बड़े रंग-विरंगे परदों में होती हुई वहाँ तक पहुँच पाती थी।"[४] ऐसे पुञ्जीभूत विलास के केन्द्र-स्थल दिल्ली के लाल किले में मस्ती और सौन्दर्य का तीव्रालोक

१-२. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ५४।
३. वही, पृ० ७०।
४. वही, पृ० १३८-१३९।

झिलमिलाता था, बारहों मास, छहों ऋतुओं का समा बँधता था,[1] परन्तु जब उसका अन्तिम हमदर्द बहादुरशाह वहाँ से गया तो उसकी यह दशा थी कि रो-रोकर आसमान ने सर्वत्र आँसुओं के ओस-कण बिखेरे थे और इस कठोरहृदया पृथ्वी को भी आहों के कुहरे में राह नहीं सूझती थी।"[2]

महाराजकुमार ने खण्डहरों को और उनके पत्थरों को सजीवता प्रदान की है। जहाँ कहीं उनका हृदय भावावेग से पूर्ण हुआ है, पत्थरों को उन्होंने रुलाया है, या प्राचीन वैभव की याद में बावला बनाया है—"आज भी उन सफेद पत्थरों से आवाज़ आती है—'मैं भूला नहीं हूँ।' आज भी उन पत्थरों में न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रतिवर्ष उस सुन्दर साम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर मनुष्य की करुण-कथा के इस दुःखान्त को देखकर पिघल जाती है और उन पत्थरों में से अनजाने एक आँसू ढलक पड़ता है।"[3] यही नहीं "वैभव से विहीन सीकरी के वे सुन्दर आश्चर्यजनक खण्डहर मनुष्य की विलास-वासना और वैभव-लिप्सा को देखकर आज भी बीभत्स अट्टहास कर उठते हैं।"[4] और ये खण्डहर हैं क्या? ये वैभव के राजकुमार के दिल के टुकड़े ही तो हैं, जो पथरा गए हैं—"सीकरी के लाल-लाल खण्डहर अकबर के उस विशाल हृदय के रक्त से सने हुए टुकड़े हैं। टुकड़े-टुकड़े होकर अकबर का हृदय निर्जीव हो गया। जिस हृदय ने अपना यौवन देखा था, अपने वैभवपूर्ण दिन देखे थे, जो ऐश्वर्य में लोटता था, स्नेह-सागर में जो डुबकियाँ लगाता था, राज्यश्री की गोद में जिसने वर्षों विश्राम किया, मद से उन्मत्त जो बरसों स्वप्न-संसार के उस सुन्दर लोक में विचरा, वही भग्न, जीर्ण-शीर्ण, पथराया हुआ, शताब्दियों से खड़ा सरदी, गरमी, पानी और पत्थर की मार खाकर भी चुप है।"[5]

मुगल वैभव के इन खण्डहरों में घूमते हुए महाराजकुमार ने जीवन के उतार-चढ़ाव की आलोचना करते हुए इतने तथ्यों का समावेश कर दिया है कि वे मिलकर मनुष्य के लिए जीवन-पथ का सम्बल बन जाते हैं। वे कभी किसी सम्राट् की कब्र पर खड़े होकर जीवन की नश्वरता की ओर संकेत करते हैं, कभी विलास-वर्णन करते हुए मानवी इच्छाओं की निरन्तर बढ़ती हुई परिधि का, कभी संघर्ष में पड़े मनुष्य की स्थिति का चित्र देते हैं, कभी संसार से उपेक्षित व्यक्ति की करुणा का। इस प्रकार अनेक सूक्तियाँ और दार्शनिक विचार बीच-बीच में अँगूठी में नगीने की तरह जड़े हुए हैं, जो एक ओर निबन्धों में गम्भीरता लाते हैं तो दूसरी ओर उनकी चिन्तन-शक्ति को प्रकट करते हैं। इन विचारों का अपना अलग ही सौन्दर्य और महत्त्व है और वे पाठक को अपने में लीन कर लेते हैं—विशेष रूप से तब जब जीवन के उत्थान या पतन के चित्र को तन्मयता से देखते हुए पाठक को ये झकझोरकर यथार्थ से परिचित कराते हैं। शाहजहाँ की वियोग-व्यथा की शान्ति के लिए दार्शनिकों के ये शब्द कि "जीवन एक बुद्बुद है, भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने

१. 'शेष स्मृतियाँ', पृष्ठ १४०-१४१।
२. वही, पृ० १५५।
३. वही, पृ० ७०।
४. वही, पृ० ६३।
५. वही, पृ० ६४।

के लिए धर्मशाला है और संयोग-वियोग प्रवाह में बहते काष्ठ-खण्डों का मिलना और अलग होना है।"[1] अनुभव की बात तो यह है कि इस भौतिक संसार में आकर वह स्वप्न-लोक सांसारिक जीवन की भीषण चोटें न सहकर चूर-चूर हो जाता है और मनुष्य का छोटा-सा हृदय उन भग्नावशेषों पर रोता है और उसी दुःख से विदीर्ण होकर टूक-टूक हो जाता है।[2] लेकिन फिर भी कल्पना-लोक में विचरने तथा स्वप्न देखने की लत एक बार पड़ी हुई किसी की छूटी है। यह वह मदिरा है, जिसका प्याला एक बार मुँह से लगने पर कभी अलग नहीं होता, कभी भी खाली रहने नहीं पाता।[3] यह संसार है। यहाँ मानव-हृदय एक कौतूहलोत्पादक वस्तु है। उसे तड़पते देखकर संसार हँसता है, उसके दर्द को देखकर उसे आनन्द आता है और यदि संसार को मानव-हृदय से भी अधिक आकर्षक कोई दूसरी वस्तु मिल जाए तो वह उसे भुला देगा।[4] वह इसलिए कि यहाँ सब अपनी-अपनी आपत्तियों और निराशाओं का भार उठाए प्रत्येक मनुष्य चला जाता है, अपनी ही करुण कहानी को याद कर वह रोता है, कहाँ है उसके पास आँसुओं का वह अक्षय सागर कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन्हें बहावे।[5]

लेकिन महाराजकुमार वैभव-विलास और उसके पतन के चित्र देने अथवा तज्ज-नित दार्शनिक उद्‌गारों के प्रकट करने में ही लीन नहीं रहे हैं। उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान दिया है कि साम्राज्य का वैभव लाखों-करोड़ों गरीबों के रक्त-मांस की नींव पर आधारित रहता है :—

१. "वैभव से विहीन सीकरी के वे सुन्दर आश्चर्यजनक खण्डहर मनुष्य की विलास-वासना और वैभव-लिप्सा को देखकर आज भी बीभत्स अट्टहास करते हैं। अपनी दशा को देखकर सुध आती है उन्हें उन करोड़ों मनुष्यों की, जिनका हृदय, जिनकी भावनाएँ, शासकों, धनिकों तथा विलासियों की कामनाएँ पूर्ण करने के लिए निर्दयता के साथ कुचली गई थीं। आज भी उन भग्न खण्डहरों में उन पीड़ितों का रुदन सुनाई पड़ता है।"[6]

२. "यौवन, ऐश्वर्य और राज-मद से उन्मत्त सम्राटों को अपने खेल के लिए मानव-हृदय से अधिक आकर्षक वस्तु न मिली। अपने विनोद के लिए अपना दिल बहलाने के हेतु उन्होंने अनेकों हृदय चकनाचूर कर डाले।"[7]

३. "विलास और सुख की सामग्री एकत्र करने में जो-जो पाप तथा सहस्रों दरिद्रों और पीड़ितों के हृदयों को कुचलकर जो-जो अत्याचार किए गए थे उन्हीं सबका प्रायश्चित्त आगरा के भग्नावशेष कर रहे हैं।"[8]

१. 'शेष स्मृतियाँ', पृष्ठ ५।
२. वही, पृ० ८६।
३. वही, पृ० ९०।
४. वही, पृ० ११५।
५. वही, पृ० ११६।
६. वही, पृ० ९३।
७. वही, पृ० १०४।
८. वही, पृ० १०८।

सम्भावना और अनुमान के आधार पर जब वे भावुकतापूर्ण वर्णन करते हैं तो एक विचित्र करुणा और विषाद की सृष्टि हो जाती है। ऐसा करते समय वे अतीतकालीन राग-रंग और विलास-क्रीड़ा को मूर्तिमान कर देते हैं।

१. "मकबरे को देखकर शाहजहाँ की आँखों के सम्मुख उसका सारा जीवन, जब मुमताज के साथ वह सुखपूर्वक रहता था, सिनेमा की फिल्म के समान दिखाई दिया होगा। प्रियतमा मुमताज की स्मृति पर पुनः आँसू ढलके होंगे, पुनः सुप्त स्मृतियाँ जाग उठी होंगी और चोट खाए हुए हृदय के वे पुराने घाव फिर हरे हो गए होंगे।"[१]

२. "संसार का सबसे बड़ा विजय-तोरण वह बुलन्द दरवाजा, छाती निकाले दक्षिण की ओर देख रहा है। इसने उन मुगल योद्धाओं को देखा होगा जो सर्वप्रथम मुगल-साम्राज्य के विस्तार के लिए दक्षिण की ओर बढ़े थे। उसने विद्रोही औरंगजेब की उमड़ती हुई सेना को घूरा होगा और पास ही पराजित दारा के स्वरूप में अकबर के आदर्शों का पतन भी उसे दीख पड़ा होगा। अन्तिम मुगलों की सेनाएँ भी इसी के सामने होकर निकली होंगी—वे सेनाएँ जिनमें वेश्याएँ, नर्तकियाँ और स्त्रियाँ भी रण-क्षेत्र में जाती थीं। यदि आज यह दरवाजा अपने संस्मरण कहने लगे, पत्थरों का यह ढेर बोलने लगे तो भारत के न जाने कितने अज्ञात इतिहास का पता लग जाए और न जाने कितनी ऐतिहासिक त्रुटियाँ ठीक की जा सकें।"[२]

भाषा-शैली की दृष्टि से 'शेष स्मृतियाँ' हिन्दी की बहुमूल्य कृति है। हमारी सम्मति में श्री माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य देवता' के बाद भावात्मक निबन्ध-शैली के गद्य-काव्य की प्रौढ कृतियों में इसका ही नाम लिया जा सकता है। लम्बे-लम्बे भावात्मक और कल्पनात्मक निबन्धों में महाराजकुमार ने करुणा और विषाद को मूर्तिमान कर दिया है। महाराजकुमार ने पतन के चित्र दिए हैं, अतः उनके निबन्धों में शोक की सरिता प्रवाहित है; जबकि चतुर्वेदीजी में बलिदान और राष्ट्रीयता के कारण ओज है। महाराजकुमार का गद्य-फुलवारी के सहज प्रस्फुटित पुष्प गुच्छ-जैसा है, जबकि चतुर्वेदीजी का गद्य वन्य-प्रदेश के स्वाभाविक सौन्दर्य को आत्मसात् करने वाली उपत्यका की भाँति है। महाराजकुमार में अलंकारों की चमक-दमक अधिक है जबकि चतुर्वेदीजी में कथन की भंगिमा ही ऐसी है कि अलंकार उनके लिए अनावश्यक हो गए हैं।

महाराजकुमार को रूपक, मानवीकरण और उत्प्रेक्षा तीन अलंकार विशेष प्रिय हैं। सीकरी को वृक्ष का रूपक देकर वे कहते हैं—"सीकरी का सीकर सूख गया, उसके साथ ही मुस्लिम-साम्राज्य का विशाल वृक्ष भी भीतर-ही-भीतर खोखला होने लगा, करोड़ों पीड़ितों के तपतपाए आँसुओं से सींचे जाकर उस विशाल वृक्ष की जड़ें मुर्दा होकर ढीली हो गई थीं; अतः जब अराजकता, विद्रोह तथा आक्रमण की भीषण आँधियाँ चलने लगीं, युद्ध की चमचमाती हुई चपला चमकी, पराजय-रूपी वज्रपात होने लगे तब तो यह साम्राज्य-रूपी वृक्ष उखड़कर गिर पड़ा, टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया और उसके अवशेष विलास और ऐश्वर्य का वह भव्य ईंधन, असहायों के निःश्वासों तथा शहीदों की भीषण

१. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ६८।
२. वही, पृ० ८३।

पुकारों से जलकर भस्म हो गए।"[1] (रूपक) मानवीकरण में राज्यश्री का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है—"अनन्त-यौवना राज्यश्री अपने नये प्रेमी अकबर पर प्रसन्न हुई। अपने उपयुक्त प्रेमी को पाकर उसके हृदय में नई-नई उमंगें उठने लगीं। उसके चिरयुवा हृदय में पुनः जागृति हुई। नई भावनाओं का उसके हृदय-रंगमंच पर नृत्य होने लगा। अपने पुराने प्रेमियों के दिये हुए आभूषण-शृंगारों से उसने मुँह फेर लिया। उसे नया शृंगार करने की सूझी, नवीन रत्नों के लिए उसने नये प्रेमी की ओर आग्रहपूर्ण दृष्टि डाली और अकबर··· वह तो अपनी प्रेयसी की आँखों के दृश्यों पर नाच रहा था।"[2] 'तीन कब्रों' में साम्राज्य का[3] और 'उजड़े स्वर्ग' में दिल्ली नगरी का,[4] मानवीकरण तो अत्यन्त ही सुन्दर है। उत्प्रेक्षाओं की तो भरमार ही है, क्योंकि उनके वर्णन का आधार ही सम्भावना है। उस निर्जन स्थान में एकाध व्यक्ति को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि उन दिनों यहाँ आने वाले व्यक्तियों में से किसी की आत्मा अपनी पुरानी स्मृतियों के बन्धन में पड़कर खिंची चली आई है।[5] अतिशयोक्ति,[6] अर्थान्तरन्यास,[7] उपमा[8] आदि अलंकार भी कहीं-कहीं आए हैं।

लेकिन अलंकारों से भी अधिक महाराजकुमार की भाषा-शैली का आकर्षण उनकी वर्णन-शैली है, जिसमें एक दर्द और कराह का स्वर झंकृत है। विलासपूर्ण भवनों का तथा उसके शासकों की मानसिक स्थिति का सजीव चित्र अंकित करने में उनकी वर्णन-शैली का चमत्कार स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है। यद्यपि उनकी शैली विक्षेप-शैली है तथापि लययुक्त प्रवाही भाषा की उनमें कमी नहीं है—"अगर कुछ बाकी बचा है तो वह केवल सुनसान भवन रंगमंच, जहाँ दिव्य स्वप्न आया था, जहाँ जीवन का अद्भुत रूपक खेला गया था, जहाँ कुछ काल के लिए समस्त संसार को भूलकर अकबर ऐश्वर्य-सागर में गोते लगाने के लिए कूद पड़ा था।"[9] या "भग्न-हृदय में आशा का संचार हो सकता है, मनुष्य की पुरानी स्मृतियाँ कुछ काल के लिए भुलाई जा सकती हैं, उसका वह मस्ताना यौवन उसके स्वप्न-लोक में पुनः लौट सकता है; किन्तु कहाँ है वह मरहम, जिससे वे व्रण, नियति की गहरी चोटों के वे चिह्न सर्वदा के लिए मिट सकेंगे; कहाँ है वह अथाह सागर, जिसमें मनुष्य अपने भूतकाल को चिरकाल के लिए डुबो दे; कहाँ है वह जादूभरा पानी, जिससे मनुष्य अपने हृदय-पटल पर अंकित स्मृतियों को सर्वदा के लिए धो डाले, तथा कहाँ है वह जादूभरी लकड़ी, जिससे मनुष्य का सुख-स्वप्न एक चिरस्थायी सत्य हो जाए।"[10] कहीं-

---

१. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ९१।
२. वही, पृ० ७५-७६
३. वही, पृ० १११।
४. वही, पृ० १२३।
५. वही, पृ० १०१।
६. वही, पृ० ६६।
७. वही, पृ० ६४।
८. वही, पृ० ९३, १२३, १२४।
९. वही, पृ० ९२।
१०. वही, पृ० ११८।

कहीं भाषा में कथन के ढंग ने ही सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है—"उसके उमड़ते हुए यौवन के वे अवशेष, खिलती हुई कली की वह तड़प, आते हुए वसन्त की वह सुखदायक समीर, सुमधुर संगीत की वह प्रथम तान, अतीत ही में विलीन होकर ये चिरकालीन प्रकृति में धीरे-धीरे प्रस्फुटित हुए।"[१] या "लोहा बजाकर दिल्ली पर अधिकार करने वाले लोहा खड़खड़ाते हुए दिल्ली से निकले, लोहा लेकर वे आए थे, लोहा पहने वहाँ से गए।"[२]

विक्षेप-शैली के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—"पत्थर, पत्थर···अरे ! उस भौतिक स्वर्ग के पत्थरों तक में यौवन छलक रहा था, उन तक में इतनी मस्ती थी तब वह स्वर्ग···और उसके वे निवासी···उनको भी मस्त कर देने वाली, उन्मत्त बना देने वाली मदिरा···आठों पहर मस्ती में झूमने वाले स्वर्ग-निवासियों के उन स्वर्गीय शासकों को भी मदोन्मत्त कर सकने वाली मदिरा···उसका खयाल-मात्र ही मस्त कर देने वाला है, तब उसका एक घूँट, एक मदभरा प्याला···।"[३]

उनकी भाषा में अरबी, फारसी, संस्कृत आदि के शब्दों का ऐसा मेल है कि कहीं से उनकी भाषा शिथिल और गतिहीन नहीं जान पड़ती। एक-सा प्रवाह चला जाता है। पौराणिक संकेतों द्वारा भाषा में वे और भी चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं—"समुद्र-मंथन के समय कालकूट विष के बाद श्वेत वस्त्र पहने, हाथ में अमृत का कमण्डल लिये ज्योंही धन्वन्तरि निकले त्योंही साम्राज्य-स्थापना में मोह तथा उद्दाम वासनाओं के भीषण अन्धड़ के बाद निकला वह प्रेमामृत, वह धवल प्रेम-स्मारक और उसे संसार को प्रदान किया उस श्वेत वसन वाले वृद्ध शाहजहाँ ने।"[४] 'तीन कब्रें' और 'उजड़ा स्वर्ग' के बहुत-से अंश ऐसे भी हैं जहाँ मुगल बादशाहों के इतिवृत्त से अपरिचित व्यक्ति के पल्ले कुछ नहीं पड़ता, लेकिन इसमें लेखक का कोई दोष नहीं; उनका रस ग्रहण करने के लिए पाठक को इतिहास का ज्ञान होना चाहिए।

'जीवन धूलि' नामक उनका एक और गद्य-काव्य संग्रह है, जिसमें १८ गद्य-गीत हैं। इन गद्य-गीतों में 'यौवन की देहली पर', 'जीवन के द्वार पर' और 'यौवन की खुमारी' में जीवन की तीनों अवस्थाओं—बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था के चित्र हैं। 'कब का खड़ा पंथ निहारूँ !' में प्रकृति में प्रभु की रहस्यात्मक अनुभूति है, 'आदेश' और 'क्या पुनः गीता का सन्देश न सुनाओगे' महाभारत और गीता के कृष्ण के कर्मयोगी स्वरूप से सम्बन्ध रखते हैं। 'वह सौन्दर्य', 'उसका कारण', 'बिखरे फूल', 'अतीत स्मृति', 'दो बातें', 'दुराशा', क्रमशः माली, पुष्प, दीपक और समुद्र पर अन्योक्ति हैं। 'वह प्रवाह' में गंगा को सम्बोधित कर उसकी महत्ता को उद्घाटित किया है और अन्तिम तीन गीत पथिक से सम्बन्ध रखते हैं। ये गद्य-गीत आकार में छोटे हैं, अन्यथा भावना और अभि-व्यक्ति का ढंग वही है। एक ओर आरम्भ के गद्य-गीतों में जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के चित्र हैं तो दूसरी ओर पीछे की अन्योक्तियों में जीवन के सत्य का उद्घाटन है। भाषा-

---

१. 'शेष स्मृतियाँ', पृ० ११४।
२. वही, पृ० १५७।
३. वही, पृ० १३०।
४. वही, पृ० १२०।

शैली वही है जो 'शेष स्मृतियाँ' की है। हाँ, यहाँ उनका विचारक का रूप अधिक निखरा है, जो स्वाभाविक ही है; क्योंकि उत्तरोत्तर भावुकता की परिणति चिन्तनशीलता में ही होती है।

अन्य लेखक

पहले हम गद्य-काव्य के उन लेखकों के ऊपर विस्तार से विचार कर चुके हैं, जिन्होंने गद्य-काव्य की पृथक्-पृथक् शैलियों का प्रतिनिधित्व किया है। इन लेखकों के अतिरिक्त अन्य कितने ही लेखक हैं, जिन्होंने साहित्य की इस धारा की विशेष रूप से श्री-वृद्धि की है और अपनी मौलिक प्रतिभा से इसे स्थायित्व प्रदान किया है। उन लेखकों की प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए यहाँ उनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख किया जाता है।

श्री भँवरमल सिंघी—सिंघीजी की 'वेदना' हिन्दी-गद्य-काव्य की अद्वितीय कृति है। यह बड़ी प्रौढ़ रचना है। इसमें परमप्रिय के प्रति लेखक के हृदय के विरहोद्गारों का वर्णन है। स्वयं लेखक ने 'वेदना' के निवेदन में लिखा है—"यह कविता नहीं वेदना की वह डलिया है, जिसमें मैंने उसी का दान सिमटाकर रखा है, उसी की दी हुई मधुकरियाँ भरी हैं।"[1] बिना वेदना के न तो कविता की साधना हो सकती है और न परम प्रभु का साक्षात्कार; इस सिद्धान्त को आधार बनाकर लेखक चला है; इसलिए उसकी अभिव्यक्ति रहस्यवादी हो गई है। उसकी दृष्टि में समस्त सृष्टि रहस्यमयी है और किसी अज्ञात की कहानी कहती है। वह अज्ञात रूप-रंगहीन है। उसी ने प्रेम करना सिखाया है। उसके प्रेम के कारण यह चेतना उत्पन्न हुई है कि यह जीवन जड़ता-ग्रस्त रहने के लिए नहीं है। इस चेतना के उत्पन्न होने से वे उस अनन्त सागर में अपनी जीवन-सरिता को पहुँचाने के लिए लालायित हैं। इस अनुभव के साथ उन्हें दूसरा अनुभव यह होता है कि जीव और ब्रह्म कभी एक थे, पर जब बिछुड़ गए तो ऐसे बिछुड़े कि युग-युग से मिलने का प्रयत्न कर रहे हैं, पर मिल नहीं पाते। इस अनुभव द्वारा वे इस आशा में हैं कि उनका प्रिय उन्हें अपने रंग में रँग ले और वे सदा उससे अभिन्न रहें। प्रेम को उन्होंने ज्ञान और उपासना से श्रेष्ठ माना है; इसलिए वियोग उनके जीवन का आधार है। सम्भवतः यही कारण है कि पपीहे से वे वियोग की साधना सीखना चाहते हैं। इस प्रकार प्रियतम के साथ एकाकार होने की तीव्र अभिलाषा तथा उससे विरह में प्रतिक्षण व्याकुल रहने की स्थिति का चित्रण 'वेदना' का प्रतिपाद्य है।

भाषा-शैली की दृष्टि से 'वेदना' का विशेष महत्त्व है। राय कृष्णदास की रहस्यानुभूति, वियोगी हरि की भक्ति-भावना और दिनेशनन्दिनी की लौकिक प्रेम-व्यञ्जना को मिलाकर जो रूप होगा, वही 'वेदना' के गद्य-गीतों का रूप है। राय कृष्णदास की भाँति कुछ स्थानीय अथवा निजी प्रयोग उनकी भाषा को मार्मिक बनाते हैं। जैसे 'मातल-थपेड़े', 'क्षुद्रूमता', 'आग ज़हूर उठी' आदि। दिनेशनन्दिनी की भाँति 'तिलमिलाता समर्पण', 'जीवन की ढकती उघड़ती तह', 'मदकचीं कलियाँ' 'बहुविसर्जित सपने' आदि वेदना की

१. 'वेदना', पृ० १।

की तीव्रता को व्यक्त करने वाले शब्द भी उन्होंने बनाए हैं और वियोगी हरि की दार्शनिक शब्दावली की भाँति 'मसृण', 'प्रोल्वण कामना' जैसे क्लिष्ट शब्दों का भी प्रयोग किया है। पुनरुक्ति के प्रति उनका आग्रह कहीं-कहीं सीमोल्लंघन अवश्य कर गया है। जैसे—"जब मेरी स्मृतियों के दीपक रच-रच, जल-जल स्वयं प्रकाशित होते हैं, जब प्रकाश भर-भर, चमक-चमककर आत्मा के उस पथ पर गिरता है।" इस प्रकार के कुछ स्थानों को छोड़कर उनकी भाषा सर्वत्र अनुभूति की तीव्रता और गहराई को व्यक्त करने वाली है। उनकी शैली में आलंकारिक साज-सज्जा न होकर सांकेतिकता और नाटकीय प्रभाव विशेष है। गीतों में तारतम्य और एकतथ्यता की रक्षा होने से उनमें कहीं भी अपूर्णता और अस्पष्टता नहीं है। यही उनका सबसे बड़ा आकर्षण है।

श्री ब्रह्मदेव—श्री ब्रह्मदेवजी के गद्य-गीतों के दो संग्रह हैं—एक 'निशीथ' और दूसरा 'आँसू भरी धरती'। 'निशीथ' के गीतों के सम्बन्ध में श्री विश्वम्भर 'मानव' ने लिखा है—"ये गीत अर्चना के गीत हैं—उस परम पुरुष को समर्पित हैं। लेखक उसे कभी प्रभु, कभी स्वामी, कभी पिता, कभी बन्धु, कभी प्रिय और कभी अन्तर्यामी कहकर सम्बोधित करता है।"[1] इन गीतों में लेखक अपने को इस संसार का निवासी नहीं मानता, वरन् उस दूर के नीहार प्रदेश का अधिवासी मानता है और उस पार पहुँचने के लिए व्यग्र है। वहाँ पहुँचकर उसकी आत्मा जड़ता के बन्धन से छूट जाएगी और वह अनन्त में मिल जायगा। वह सरिता या सागर-रूपी जगत् के एक किनारे पर प्रतीक्षारत है कि कब उस पार पहुँचे। उसका प्रिय पर्वत की चोटी से और आकाश से निर्जन रात्रि में और सूनी सन्ध्या में, वासन्ती सुषमा में और गरजते बादलों में उसका आह्वान करता है और वह उसके संकेत पर सब-कुछ भूलकर उसकी ओर बढ़ता चला जाता है। वह एक चिरन्तन पथिक है, जो असीम की ओर प्रतिक्षण बढ़ता चला जाता है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि प्रभु की ओर से उसे जो धरोहर मिली थी वह खो गई है और उसके बिना उसकी स्थिति मणिहीन सर्प-जैसी है। विश्व में वह जितने समय तक है उतने समय तक उस प्रिय की शीतल करुण छाया का अनुभव करता है, अन्यथा दूर, अज्ञात और असीम पथ के उस यात्री के 'नीड़ की डाली' यहाँ नहीं है। एक बात और है; और वह यह कि स्वयं तो वह प्रभु के ध्यान में लीन और नाम-जप में मग्न है ही, समस्त प्रकृति को भी उसके प्रति समर्पित और उसी के लिए उल्लसित दिखाया है। इन गद्य-गीतों में वह प्रकृति के साथ तन्मय हो गया है।

'आँसू भरी धरती' पूज्य बापू तथा गुरुदेव की स्मृति में समर्पित है। इसके दो भाग हैं—'आँसू भरी धरती' और 'नृत्य भैरव'। 'आँसू भरी धरती' वाले भाग की रचनाओं में भारत-भूमि की प्रशंसा, गांधी और रविबाबू के महाप्रयाण, पंजाब का हत्या-काण्ड, शरणार्थी आदि विषयों पर लेखक ने मार्मिक रचनाएँ दी हैं। भारतवर्ष को 'देव' और 'भारत-भूमि' को 'माँ' कहकर सम्बोधित किया गया है। 'भगवान् बुद्ध का देश' भारत ही विश्व-व्यापी नर-संहार और अनाचार के अन्धकार को दूर करके शान्ति का प्रकाश फैला सकता है, यह लेखक का दृढ़-विश्वास है। गांधी के मानस में बैठकर विश्व की हिंसा पर उनकी विषादपूर्ण मुद्रा का, नोआखाली की महत्त्वपूर्ण यात्रा का और वध वाली अभागिनी

१. 'सम्मेलन पत्रिका', भाग १६, संख्या १-२, कार्तिक-पौष, २००५।

सन्ध्या का करुणाजनक वर्णन है। उनकी समाधि पर कई गीत हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति का महत्त्व बताया गया है तथा स्वतन्त्र देश के किसान-मजदूरों को नव-निर्माण की प्रेरणा दी गई है। रविबाबू से सम्बन्धित गीतों में उनकी कला तथा साहित्य की देन का व्यंजना से वर्णन किया गया है। 'नृत्य भैरव' में चीन, जापान और हिरोशिमा की युद्ध-जनित स्थिति का उल्लेख है। युद्ध रोकने और शान्ति अपनाने का अनुरोध इन कविताओं का प्राण है। 'फुटपाथ' और 'कला अर्चा' में कलकत्ता नगरी में भिखमंगों और निम्न वर्ग की यथार्थ स्थिति का दिग्दर्शन है। करुणा इसका केन्द्रीय भाव है। एक वाक्य में सहृदय पाठक के हृदय को भारी और आँखों को सजल बनाने वाली करुणा के साथ विश्व-कल्याण की कामना लिए यह कृति युग की सजीव प्रतिकृति है।

इन गीतों में संगीत और नाद के समावेश के साथ गीत की टेक के साथ आरम्भ और अन्त होने से अद्‌भुत सौंदर्य आ गया है। भाषा में संस्कृति की तत्सम शब्दावली का प्राचुर्य है। कल्पना उनकी बड़ी प्रखर है। शैली की दृष्टि से 'निशीथ' में आत्म-निवेदन शैली है तो 'आँसू भरी धरती' में सम्बोधन-शैली, वर्णन-शैली। पहली में यदि आध्यात्मिक गद्य-काव्यों के सूक्ष्म संकेतों का आकर्षण है तो दूसरी में यथार्थ जीवन का पूर्ण चित्र। गम्भीर व्यथा का प्रकाशन समान रूप से हुआ है। किस प्रकार दोनों रचनाओं में भाषा-शैली का रूप बदलता है यह देखिए—"यह मधुर वरदान, जिसे तुमने प्रेम कहकर दिया था, मैंने खो दिया है। वह मेरे जीवन के उत्तप्त पथ पर छाया बनता। क्या वह मुझे मिल सकता है।"[१] "हमें कहाँ अवसर है जो फूल-सा नकुल, प्यार-सा सहदेव, पराक्रम-सा भीम, विजय-सा अर्जुन और प्राण-सी द्रौपदी छूट गई हैं, उन्हें मुड़कर देखें।"[२]

श्री रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी'—रावीजी के गद्य-गीतों के दो संग्रह हमारे सामने हैं। पहला 'पूजा' और दूसरा 'शुभ्रा'। पहले संग्रह के गद्य-गीतों का सम्बन्ध आध्यात्मिक अनुभूति से है और दूसरे का नारी के पवित्र प्रेम से। रावीजी राधास्वामी सम्प्रदाय में दीक्षित हैं और थियोसाफिकल सोसायटी से सम्बद्ध। इसलिए एक ओर उनके आध्यात्मिक गीतों में कबीर आदि सन्त कवियों की भाँति उस निर्गुण निराकार के प्रति अपना प्रेम-निवेदन है तो दूसरी ओर विश्व-कल्याण की कामना का व्यक्तीकरण। राधास्वामी सम्प्रदाय में भी सन्तों की ही बानियों का विशेष महत्त्व है। उन्होंने उस प्रभु को प्रियतम, प्यारे, जीवन-नौका के कर्णधार, जीवन के समुद्र, जीवन-धन, मोहन, सखे, सर्वस्व, साधनाओं के सर्वस्व कहकर आत्म-निवेदन किया है। जब कभी उपालम्भ देने की सोची है तो बधिक, वंचक और निर्मम कहकर सम्बोधित किया है। सम्बोधनों में प्रियतम ही सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है। लेखक सदैव उस असीम के साथ आलिंगित रहने की कामना करता है। कबीर और मीरा की भाँति प्रियतम का पथ उसे भी दूर और कठिन जान पड़ता है। वह किसी दूर देश का देवकुमार है, जो इस संसार की बाड़ी में फँस गया है। प्रकृति मानो रूप का आवरण है, जिसे प्रभु ने डाल रखा है। उसको एक स्वप्न-लोक ने लुभा रखा है। वह स्वप्न-लोक इस संसार और इसके सामान्य स्वप्न-लोक से भी बहुत आगे है। यह

---

१. 'निशीथ', पृ० २०।
२. 'आँसू भरी धरती', पृ० ३२।

रहस्यवादियों की-सी अनुभूति है। वियोग की पीड़ा और प्रतीक्षा का वर्णन बार-बार किया गया है। लेकिन केवल रहस्यात्मक अनुभूति का ही चित्रण नहीं है, भक्त की भाँति प्रभु के समीप रहने की और सर्वस्व समर्पण की स्थिति का भी चित्रण है। साथ ही प्रभु के दया-दाक्षिण्य, उसकी भक्तवत्सलता तथा उसकी महत्ता और दीनता, विकलता तथा असमर्थता का भी वर्णन है।

'शुभ्रा' लेखक ने मानव-सहचरी मानवी को लक्ष्य करके लिखी है। 'शुभ्रा की बात' में लेखक ने बताया है कि शुभ्रा उसकी कल्पना भी है और संसार में अपना अस्तित्व रखने वाली भी है। अभिप्राय यह है कि 'शुभ्रा' द्वारा नारी के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं का उल्लेख करना ही उसका उद्देश्य रहा है। इन गीतों की नारी सर्वथा मानसिक प्रेयसी है, जिससे स्वप्न और कल्पना के सहारे लेखक बराबर मिलता रहता है। लेखक की मान्यता है कि प्यार यदि शारीरिकता तक सीमित नहीं है तो एक स्त्री कई पुरुषों से और कई पुरुष एक स्त्री से प्यार कर सकते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार हम चाहे जिसको, चाहे जब अपना प्रेम-पात्र बना सकते हैं। इसीलिए 'शुभ्रा' की अपरिचित नारी लेखक के लिए परिचित और प्रेम की पात्री है। लोक-लाज और सांसारिकता का उपहास भी इसीलिए किया गया है। मृत्यु को लेखक ने अभिन्न आत्मीय कहा है, जो जीवन को विस्तृत बनाता है। नारी को उसका चित्र उपहार में देकर वह जीवन के अन्तिम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति का संकेत करता है। नारी जीवन-संघर्ष में सहायक और प्रेरक-शक्ति है और उससे यही कार्य लेना चाहिए; क्योंकि मनुष्य की खोज का देवता दूसरा है। यह भाव उसने कई गीतों में व्यक्त किया है।

भाषा-शैली की दृष्टि से इन गीतों की विशेषता उनकी सादगी है। कहीं भी कोई क्लिष्ट शब्द नहीं है। सर्वत्र सरल और बोधगम्य भाषा है। हाँ, लेखक की नवीन दार्शनिक अभिव्यक्ति को समझने में अवश्य कठिनाई होती है। गीतों में कहीं भी विह्वलता या अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नहीं है। ये गीत पवित्र और सात्त्विक प्रेम की व्यंजना का उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करते हैं और इनमें व्यक्त भावनाएँ लेखक के चिन्तक और दार्शनिक रूप को व्यक्त करती हैं।

अज्ञेय—अज्ञेयजी के गद्य-गीत पहले-पहल 'भग्नदूत' कविता-संग्रह में प्रकाशित हुए थे। ये संख्या में २१ हैं, जिनकी प्रेरणा का स्रोत प्रेम-भावना है। इसमें पहला गीत 'इन्दु के प्रति' है। नारी के प्रति लेखक की सम्मान-भावना का पता इस गीत से चलता है, क्योंकि इसमें लेखक ने अपने इस निश्चय की सूचना दी है कि वह उसके कलंक से लाभ उठाकर उसे प्राप्त नहीं करना चाहता। प्रेमिका के प्रति पूजा-भाव से ये गीत सुवासित हैं। 'प्रेम के लिए प्रेम' के सिद्धान्त में विश्वास होने के कारण कहीं भी वासना उभरकर नहीं आई। भाव की अपेक्षा इन गीतों में विचार की प्रधानता है। प्रेम, नियति, संसार-सुख आदि पर लेखक ने अपने विचार दिए हैं। अन्योक्ति-पद्धति द्वारा जीवन के सत्य की व्यंजना भी हुई है; जैसे—'फूल' और 'सलिले' गद्य-गीतों में। अंग्रेजों के प्रति घृणा और बन्दी-जीवन के चित्र भी हैं, जो अज्ञेयजी के आतंकवादी जीवन के ऊपर प्रकाश डालते हैं। 'मूक प्रार्थना' में ईश्वर से लेखक ने अपना दुःख दूर करने की अपेक्षा गरीबों के दुःख दूर

करने की प्रार्थना की है। निवृत्ति-पथ की अपेक्षा प्रवृत्ति-पथ अपनाने की ओर लेखक का झुकाव है, जिससे पता चलता है कि वह जीवन के यथार्थ को अपनी साधना का लक्ष्य बनाना चाहता है।

'चिन्ता' में भी गद्य-गीत हैं और वे भी कविताओं के साथ। लेकिन यहाँ दोनों चीजें एक ही विचारधारा के आश्रित हैं और वे भी पुस्तक के दो भागों में हैं—'विश्वप्रिया' और 'एकायन'। लेखक के ही शब्दों में "पुस्तक के दो खण्डों में क्रमश: पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण से मानवीय प्रेम के उद्भव, उत्थान, विकास, अन्तर्द्वन्द्व, ह्रास, अन्तर्मन्थन, पुनरुत्थान और चरम सन्तुलन की कहानी कहने का यत्न किया गया है। कहानी वर्ण्य-विषय की भाँति ही अनगढ़ है और जैसे प्रेम-जीवन के प्रसंग गद्य-पद्यमय होते हैं, वैसे ही यह कहानी गद्य-पद्यमय है। दोनों खण्डों के नामों में संकेत रूप से पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण का निर्देश है।"[1] पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में उसका कहना है—"पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध पति और पत्नी का नहीं, चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन स्त्री का सम्बन्ध—अनिवार्यत: एक गतिशील (डाईनामिक) सम्बन्ध है। गति उसके किसी एक क्षण में हो या न हो, गतिशीलता—गति पा सकने की आन्तरिक सामर्थ्य—उसके स्वभाव में निहित है। पुरुष और स्त्री की परस्पर अवस्थिति एक कर्षण की अवस्था है।···यही मूल संघर्ष 'चिन्ता' का विषय है।"[2]

नारी को अपनी इसी मान्यता के अनुसार उन्होंने सम-सुख-दु:खिनी, संगिनी और प्राणभार्या माना है और उससे कहा है—

१. "हमारा-तुम्हारा प्रणय इस जीवन की सीमाओं से बँधा नहीं है।"[3]

२. "हम एक हैं। हमारा प्रथम मिलन बहुत पहले हो चुका—इतना पहले कि हम अनुमान नहीं लगा सकते। हम जन्म-जन्मान्तर के प्रणयी हैं।"[4]

३. "तुम्हारे प्रति मैं जो-कुछ प्रणय-व्यवहार करता हूँ, वह सब पहले हो चुका है।"[5]

इस मान्यता के कारण उनके जीवन में मिलने से एक तीव्र-वेदना-भरी अनुभूति होती है, आनन्द की प्राप्ति नहीं। उनके लिए मिलन नीरस और आकर्षणहीन वस्तु है। इसीलिए वे तृष्णा को ही जीवन मानते हैं और अप्राप्ति की पीड़ा को उसका ध्येय। बात यह है कि प्रणय की चरम सीमा में दो व्यक्तित्व लय होकर एक हो जाते हैं और अज्ञेयजी अस्तित्व की रक्षा के साथ प्रेम करने के पक्ष में हैं। ऐसी स्थिति तृष्णा और अप्राप्ति की पीड़ा ही अभीष्ट हो सकती है। ऐसा व्यक्ति कितनी ज्वालाओं का पुंज अपने भीतर छिपाए रहेगा और कितना रहस्यमय होगा, यह कल्पना करना भी कठिन है। नारी से इसीलिए अज्ञेयजी ने कहा है कि सौ वर्ष तक देखती रहने पर भी वह उन्हें न समझ पाएगी। यद्यपि एक स्थान पर उन्होंने यह कहा है कि जिस प्रेम के आसव ने दूसरों को उन्मत्त किया है

---

१. 'चिन्ता' की भूमिका', पृ० ५-६।
२. वही, पृ० ५।
३. वही, पृ० ३३।
४. वही, पृ० ५५।
५. वही, पृ० ५६।

उसकी मिठास को व्यक्त करना मेरा काम है।[1] परन्तु उनका स्वयं का व्यक्तित्व स्थान-स्थान पर प्रकट हो गया। पुरुष का दर्प और अहं 'विश्वप्रिया' के गद्य-गीतों का प्रतिपाद्य है 'एकायन' में नारी द्वारा पुरुष के प्रति व्यक्त किए गए उद्गार हैं। उनमें—"पुरुष आराध्य चित्रित किया गया है, नारी उपासिका; पुरुष विजयी घोषित किया गया है, नारी विजित; पुरुष दानी माना गया है, नारी दान स्वीकार करने वाली; पुरुष उपेक्षा के लिए बना है, नारी उपेक्षित होने के लिए। पुरुष की स्वाभाविक वृत्ति अभिमान स्वीकार की गई है और नारी की समर्पण।"[2] 'विश्वप्रिया' के गीतों में भी उसने नारी को तितली, घृणामयी, प्रतिमा, छलना, पंक की जन्तु, प्रकाण्ड निर्लज्जता कहा है। यों दोनों प्रकार से नारी को हेय ठहराया है। पुरुष नारी से ऊँचा, यह भावना युग के अनुकूल नहीं है। पुरुष की स्वच्छन्दता और नारी की विवशता का समर्थन अज्ञेयजी ने किया है। उन-जैसे उच्च-कोटि के कलाकार से ऐसा क्यों हुआ, यह समझ में नहीं आता। अपने समर्पण में ही गर्वित नारी को उन्हें इतना हेय न बनकर सम्मान देना चाहिए था, यह ललक बराबर बनी रहती है।

जहाँ तक भाषा-शैली का सम्बन्ध है, संस्कृत की ओर झुकी हुई होने पर भी मनोवैज्ञानिक शब्दावली के कारण उनकी भाषा का नावीन्य पाठक को अपनी ओर खींचता है। 'रहःशील', 'उत्सर्ग चेष्टा', 'मंगल वस्त्र', 'अटल मनोनियोग', 'इच्छाकाल', 'निरर्थक तुमुल', 'निरपेक्ष दानशीलता'-जैसे शब्द बनाए हैं। जिनसे विचारों के यथा-तथ्य रूप में प्रकट होने में सहायता मिलती है। चमत्कर-प्रदर्शन की अपेक्षा सीधी-सादी बात कहना लेखक को प्रिय है। हाँ, "क्षेत्र-विशेष में मानव के अन्तर्भावों को यथासम्भव स्वाभाविक और निराडम्बर प्रतिचित्रण" करने की चेष्टा उसने अवश्य की है, इसलिए उसके गद्य-गीतों से सहज ही रस ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसके लिए बौद्धिकता की कुछ ऊँची भूमि अपेक्षित है। बात को कहने का ढंग ही उनका अनूठा है। जैसे—"पीठिका में शिव-प्रतिमा की भाँति मेरे हृदय की परिधि में तुम्हारा अटल आसन है। मैं स्वयं निरर्थक आकार हूँ किन्तु तुम्हारे स्पर्श से पूज्य हो जाती हूँ; क्योंकि तुम्हारे चरणों का अमृत मेरे शरीर में संचरित होता है।"

श्री शान्तिप्रसाद वर्मा—आपके गद्य-काव्यों का संग्रह 'चित्रपट' नाम से प्रकाशित हुआ है। श्री रामनाथ 'सुमन' ने 'दो बातें' में इसको हिन्दी के उत्कृष्ट गद्य-काव्यों का तीसरा या चौथा संग्रह माना है। ये गद्य-काव्य उस असीम चिर सुन्दर को सम्बोधित करके लिखे गए हैं। उससे मिलन का साधन हमारे पास इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि हम उसके यदा-कदा अनुभव होने वाले स्पर्श के आनन्द को शब्दों में बाँध दें—"जीवन में अनेक बार तू हृदय को स्पर्श करता है। तेरे प्रेम-कोमल स्पर्श में न जाने कितने भाव और कितने तूफान उठते हैं। कुछ चले जाते हैं, कुछ रह जाते हैं। जो रह जाते हैं उनमें तेरे हल्के स्पर्श को कलाविद् बाँधना चाहता है। उसके पास तेरे मिलन का यही साधन है।" वर्माजी ने इन हल्के स्पर्शों को शब्दों द्वारा बाँधा है और अपने आराध्य के समक्ष आत्मा की निधियाँ

१. 'चिन्ता' की भूमिका पृ० ८०।
२. 'सम्मेलन पत्रिका', भाग ३४; संख्या १-२, कार्तिक-पौष, २००५, पृ० ३६।

खोल दी हैं। वे उस महा-संगीत की स्वर-लहरी सुनने को व्याकुल हैं। आध्यात्मिकता का गहरा पुट उनके गद्य-गीतों में होने के साथ ही प्रकृति में प्रभु-दर्शन भी उन्होंने किया है। बादलों की गड़गड़ाहट और नदियों की कल-कल तथा झरनों की झरझर में भी उसी का सौन्दर्य देखते हैं। कुछ गीतों में रवीन्द्र तथा रायकृष्णदास के भाव तथा भाषा-शैली की स्पष्ट छाया है।[२] यों तो इनके गद्य-गीत एक अन्वेषक का ही चित्र रखते हैं, परन्तु कई सूक्त्यात्मक गद्य-गीत भी हैं, जो कभी अपनी आलंकारिता में और कभी अपनी वैधानिकता में खिल उठते हैं। इन गीतों में उनके कवित्व और चिन्तन का रूप है। 'तर्क', 'लोभ', 'लाभ', 'प्रकाश' की 'लालसा' और 'कौन' ऐसे ही गद्य-गीत हैं।

भाषा-शैली सर्वत्र एक-सी है। आत्म-निवेदन के ढंग पर ही विचार और भाव व्यक्त हुए हैं। 'प्रियतम' तथा 'सुन्दर' का सम्बोधन कहीं-कहीं मिलता है। अरबी, फारसी के शब्दों की ओर झुकाव नहीं है और भाषा परिष्कृत तथा प्रांजल हिन्दी है। उनकी भाषा-शैली का संयत रूप यह है—"वसंत अधखिली कलियों की माला लेकर मेरे द्वार पर आया है, परन्तु अभी पतझड़ समाप्त नहीं हुआ। नव जीवनयुक्त वृक्षों पर पीले पत्ते लदे हैं। मानो प्रभात ने रजनी का अंचल पकड़ रखा है। मानो हमारे होनहार प्राचीनता के सड़े-गले विचारों को छोड़ने में संकोच कर रहे हैं।" प्रतीकात्मकता और चित्रोपमता में 'साधना' की शैली अपनाई गई है।

श्री रामकुमार वर्मा—'हिम हास' नामक आपका गद्य-काव्यों का संग्रह है। इसमें उनकी काश्मीर-यात्रा के प्रभाव से लिखे गद्य-गीत हैं। काश्मीर के सौन्दर्य को देखकर उनके हृदय में जो भावनाएँ और कल्पनाएँ उठी हैं उन्हीं को उन्होंने इन गद्य-खण्डों में बाँध दिया है। आरम्भ के १६ गद्य-गीत बड़े हैं और शेष ७ गद्य-गीतों में 'निर्झर', 'बादल', 'पुष्पराजि', 'वृक्षराजि', 'शैल शृंग', 'हिम हास' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकृति की इन वस्तुओं को अनेक प्रकार से देखा गया है। बड़े गद्य-गीतों में वे प्रकृति-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसका वर्णन करते हैं और अन्त में आध्यात्मिक या नैतिक पुट देखकर नाटकीय प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं, जो बड़ी देर तक हृदय में गूँजता रहता है। काश्मीर के पुष्पों को देखकर उन्हें लगता है कि विराट्-पूजा के लिए ही ये पुष्प प्रकृति ने विकसित किए हैं, जल-प्रपात से उन्हें समय के प्रवाह का बोध होता है, जो शिलाओं की भाँति जीवन को काटता जा रहा है, माता के समान पहाड़ी के नीचे बसे हुए शिशु के समान पहलगाम के अनन्त सौन्दर्य के समान शैशव को देखकर वे अपने यौवन की अनन्तता का वरदान माँगने लगते हैं। मुरझाए पुष्प को देखकर जीवन का अन्त भी मुरझाता जान पड़ता है। काश्मीर की झीलों में कमलों की पंक्ति प्रेयसी के केसर-रँगे गौर वर्ण हाथों की, मछलियाँ घूँघट में लजाते नयनों की, सिंघाड़ों की बेलें हरे उत्तरीय की और सेवार कुन्तल-राशि का भान कराती हैं। छोटी-छोटी कल्पनाओं-भावनाओं में आलंकारिक उक्तियों की अद्भुत छटा है। अधिकांश भाव-खण्ड प्रेयसी को सम्बोधित करके लिखे गए हैं। प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना इनकी विशेषता है। बादल कवि के हृदय का प्रेम है तो निर्झर उसकी कविता, वृक्ष यदि समय की भाँति विस्तृत है तो कवि उनसे पल्लव की भाँति जुड़ा है। पर्वत पर बर्फ प्रियतमा का श्वेत उत्तरीय है तो शैल-शृंग प्रेम की समाधि। इन उक्तियों

के बीच पर्वत, नदी, निर्झर, बादल, बिजली आदि के बीच वार्तालाप भी कराया है, जिसके द्वारा जीवन-सत्य की व्यंजना हुई है। वस्तुतः 'हिम हास' अपने ढंग की अकेली रचना है, जो प्रकृति के आधार पर रहस्यात्मक अनुभूति तथा जीवन-व्यापी सत्यों की व्यंजना करती है।

श्री तेजनारायण काक—श्री तेजनारयण काक 'क्रान्ति' ने हिन्दी-गद्य-काव्य को दो कृतियाँ दी हैं—एक 'मदिरा' तथा दूसरी 'निर्झर और पाषाण'। 'मदिरा' में 'गीतांजलि' का प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति-प्रणाली अनूठी है। राय कृष्णदासजी की 'साधना' के बाद इतनी सुन्दरता से 'गीतांजलि' के भावों के आधार पर किसी दूसरे लेखक ने कोई रचना नहीं दी। 'मदिरा' के गद्य-गीतों की विशेषता यह है कि वे कहीं-कहीं दो-दो तीन-तीन पंक्तियों में ही समाप्त हो जाते हैं। लेकिन ऐसे गद्य-गीतों में प्रधानता भाव की ही रहती है, उक्ति-चमत्कार की नहीं। जैसे, "हे श्याम घन ! मेरे इस छोटे-से मृत्तिका-पात्र में अपने प्रेम का स्वच्छ जल भर दो ताकि स्वयं तुम्हारा सुन्दर स्वरूप ही इसमें प्रतिबिम्बित हो उठे।" अनुभूति की प्रखरताओं और गहराई के भी अनेक गीतों में दर्शन होते हैं। भाषा परिष्कृत, प्रांजल और संस्कृतगर्भित हिन्दी है। सूफी प्रभाव से ये गद्य-गीत कुछ अधिक मस्ती से भर गए हैं। श्री रामप्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है—"उनके विचारों, भावों और कल्पनाओं में प्रांजलता, कोमलता, लालित्य और सरसता है। उनमें सरल हृदय की चंचलता, व्याकुलता, सुन्दरता, सहानुभूति और अनिर्वचनीय तृष्णा का प्रकाश और विकास छलकता है। जिस प्रकार बालक रंग-बिरंगे बादलों से प्रसन्न और आश्चर्यान्वित होता है उसी प्रकार सरल हृदय और कलाप्रेमी भावों और अनुभूतियों के साथ क्रीड़ा करते हुए प्रतीत होते हैं।"[1]

'निर्झर और पाषाण' भिन्न शैली की रचना है। इसमें लेखक विचारक के रूप में सम्मुख आया है। खलील जिब्रान की दृष्टान्त शैली का सफल प्रयोग पहली बार यहाँ हुआ है। लेखक का संवेदनशील हृदय पशु-पक्षियों से विशेष रूप से प्रेरणा प्राप्त करता है। चाबुक, चींटे, नमदा, मिट्टी का ढेला-जैसी वस्तुएँ भी लेखक की दृष्टि से नहीं बच पाईं। अभिव्यक्ति बड़ी ही सूक्ष्म और सांकेतिक है। छोटे-छोटे गद्य-गीत हृदय में विचार की झंकार उत्पन्न कर देते हैं। शैली वार्तालाप की ही अधिक अपनाई गई है। जीवन के सत्य की व्यंजना किस प्रकार इन गीतों में हुई है यह 'चाबुक' शीर्षक गीत में देखिए। प्रश्न होता है—'चाबुक ! जब तू सड़क से किसी की पीठ पर पड़ता है तो क्या तुझे स्वयं पीड़ा नहीं होती ?' उत्तर मिलता है—'दूसरे को पीड़ा पहुँचाने के आनन्द में मैं अपनी पीड़ा भूल जाता हूँ।' 'निर्झर और पाषाण' हिन्दी-गद्य-काव्यों में सर्वथा नई शैली की रचना है। इसी का विकास आगे चलकर ब्योहार राजेन्द्रसिंह के 'मौन के स्वर' में हुआ है।

राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश'—रजनीशजी की 'आराधना' का महत्त्व इसलिए है कि उसके द्वारा प्रेयसी को प्रभु का पद दिया गया है। श्री अज्ञेय की 'चिन्ता' की नारी जहाँ पुरुष के समक्ष दीन और नत है, रजनीशजी का पुरुष नारी के समक्ष दीन और नत है। उन्होंने अपनी प्रेयसी की रूप-गुण-सम्पन्नता और प्रेरणा-प्रोत्साहन प्रदायिनी

१. 'मदिरा' की भूमिका, पृ० १।

शक्तिमत्ता का यश-गान किया है। यौवन के आरम्भ में उसका सम्पर्क जीवन में नया ही स्वर फूँक गया है और उसकी समस्त वासनाएँ और इच्छाएँ उनके चरणों में निछावर हैं। उसके सौन्दर्य को छोड़कर लेखक को कुछ अच्छा नहीं लगता। वह उसकी प्रेमाग्नि से दग्ध होने के कारण अपने अस्तित्व को भूल गया। और उसे पृथ्वी, आकाश, वृक्ष और पुष्पों में उसी की झलक दिखाई देती है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ उसी की आराधना में लीन हैं। उनकी पूजा में वह भगवान् की पूजा का आनन्द पा लेता है। एक स्थान पर वह कहता है—"जिस प्रकार तुम्हारे और प्रभु के बीच मेरे लिए कोई विशेष अन्तर नहीं है उसी प्रकार तुम्हारे और उनके कामों में भी अधिक अन्तर नहीं है। रवि और चन्द्र अपनी किरणों द्वारा तुम्हारे नाम की रेखाएँ सदैव खींचते रहेंगे। उन दो अक्षरों से झरती ज्योति मेरी हृदय-भूमि का अन्धकार सदा नष्ट करती रहेगी।"[1] यही नहीं उसे प्रवृत्ति और प्रेयसी में भी कुछ अन्तर नहीं जान पड़ता। स्नान कर, पीठ पर पड़े काले केशों को सँवार कुछ मुस्कराकर जूड़ा गूँथे और उसमें प्रिय द्वारा अर्पित पुष्प लगा वह ऐसी जान पड़ती है मानो मध्याह्न-भर वर्षा में स्नान करके प्रकृति-वेदी सन्ध्या को श्रृंगार कर, काली मेघ-राशि से चन्द्रमुख की ज्योत्स्ना फैला, पवन-रूपी कंघे से एकत्र कर जूड़ा बाँध, तारकों के पुष्प धारण करती हो। उसकी मुस्कान के प्रभाव का वर्णन लेखक ने स्थान-स्थान पर किया है। उसे मोहिनी, जादूगरनी और मायाविनी कहकर उसकी आकर्षण-शक्ति का परिचय भी दिया गया है। बार-बार वह उसे जीवनेश्वरी, हृदयेश्वरी कहकर पुकारता है और उसका दास बने रहने का संकल्प करता है। उसके लिए वह सर्वस्व समर्पण को प्रस्तुत है। वह उसे सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी इसलिए मानता है कि उसके सौन्दर्य ने उसे वासना-रहित बना दिया है। पवित्रता के कारण ही वह उसे नित्य नवीन लगती है—चन्द्र, सूर्य, सन्ध्या और प्रभात की तरह। ऐसी आराध्या जब समाज और संसार के बन्धनों के कारण छिन जाए तो वियोग-व्यथा का क्या रूप होगा, यह अकल्पनीय है। वह दूसरे की हो जाती है और वह हृदय पर पत्थर रखकर उसे विदा कर देता है और वियोग में न मर सकने के कारण वियोग के दुर्दिन बिताने को जीवित है। उसे अब निरन्तर उसकी स्मृति सताती है। उसके जीवन-देश में विरह ऋतु आ गई है। अब उसे विलाप के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं, पर उसके प्रेम और समर्पण में अब भी कमी नहीं। कहीं-कहीं वासना की छाया भी है, पर वह न कुछ के बराबर। इन गीतों की भाषा-शैली और भावों के सम्बन्ध में लेखक के अपनी प्रेयसी से कहे ये शब्द पर्याप्त हैं—"प्रिये! ये गीत उस गंगा-जल के समान हैं जो मिट्टी के स्वच्छ पात्र में संचित है। मुझसे भाषा-रूपी सुन्दर पात्र की रचना नहीं हो पाई और उस पर उपमा का रंग न चढ़ा सका। भावों से ही उसकी गहराई का अनुमान लगा लेना। जीवन में विषाद ने उसमें कुछ खारापन उत्पन्न कर दिया है। तुम्हारे प्रेम ने उसमें पवित्रता भर दी है और तुम्हारे गुणों ने उसे सुवासित कर दिया है।"[2]

बालकृष्ण बलदुवा—बलदुवाजी के गद्य-गीतों के 'मन के गीत' और 'अपने गीत'

१. 'आराधना', पृ० ६।
२. वही, पृ० ६६।

ये दो संग्रह हैं। ये गीत निराश और व्यथित हृदय के उद्‌गारों से पूर्ण हैं। लेखक के हृदय में भावनाएँ उठती हैं और वे गद्य-गीत के रूप में चित्रित हो जाती हैं। ये भावनाएँ जीवन की सामान्य घटनाओं से जन्म लेती हैं और बलदुवाजी ने जीवन के पर्याप्त उतार-चढ़ाव देखे हैं, अच्छे-बुरे व्यक्तियों के सम्पर्क में वे आए हैं, अपने-परायों की उपेक्षा और अवहेलना पाई है, जीवन-जगत् के विषय में चिन्तन और मनन किया है, अतः उनके गीतों में विभिन्न स्वर मिलते हैं। उन्होंने स्वयं 'अपने गीत' की भूमिका में लिखा है—"मेरे गीतों में कभी भावी की अनिश्चित चिन्तना रहती है तो कभी तिरस्कृत होकर उबल पड़ने वाली भावना का आवेशमय चित्रण। कभी वे निराशा की चपेटों से क्षत-विक्षत होते हैं तो कभी आशा के मन्द मलयानिल-स्पर्श से नवविकसित पुष्प से प्रफुल्लित। कभी-कभी वे ऐसे हो जाते हैं जब उनमें सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रकाश-अन्धकार आदि विरोधी तत्त्वों का मिश्रण हो जाता है।"

बलदुवाजी के गद्य-गीतों में लम्बे गीत कम हैं। आवेश में लिखे गए गीत जितनी दूर तक भाव को व्यक्त कर पाते हैं उतनी ही दूर तक चलते हैं। कभी-कभी तो वे एक ही पंक्ति के रह जाते हैं। ऐसे गीतों में वे जीवन के अनुभवों के आधार पर सिद्धान्तवाक्य बताते हैं। जैसे—"मैं जितना ही अधिक प्यार करता हूँ, उसके सम्बन्ध में उतनी ही कम बातें करता हूँ।"[1] "यह इतना नाटक! यह सब किस लिए, मेरे मालिक? किस लिए?"[2] जीवन की विषम परिस्थिति के लिए विधाता और भाग्य को कोसने वाले गीत उन्होंने बहुत लिखे हैं। दूसरी प्रकार के उन गीतों की संख्या अधिक है जिनमें उनको गलत समझने वाले मित्रों और सम्बन्धियों को उन्होंने अपनी स्थिति बताई है। तीसरी प्रकार के गीतों में प्रेमी के प्रति आत्म-निवेदन है। इन गीतों में विवशता का चित्रण विशेष रूप से हुआ है। व्यथा और वेदना सर्वत्र अवश्य है। पर जीवन के संघर्ष में एक बलवान योद्धा की भाँति अपने गीतों में उन्होंने सत्य और आदर्श का समर्थन किया है। गीतों की शैली स्वगत-कथन की है जिनकी भाषा सरल और सुबोध है।

गद्य-काव्य की ऊपर से देखने में सीमित लगने वाली यह धारा गहराई में जाने पर विस्तृत लगती है। गद्य-काव्य लिखने वालों की संख्या कम नहीं है जिनका उल्लेख प्रमुख लेखकों अथवा श्रीवृद्धि करने वाले लेखकों में हुआ है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक बच रहते हैं। इनमें कुछ तो ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ पुस्तकाकार आ गई हैं, और कुछ ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ या तो अप्रकाशित हैं या पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों में बिखरी पड़ी हैं। जिनकी रचनाएँ प्रकाश में आई हैं उनमें सर्वश्री विश्वम्भर 'मानव', शिवचन्द्र नागर, केदार, चन्द्रशेखर सन्तोषी, द्वारिकाधीश मिहिर, नारायणदत्त बहुगुणा, रामेश्वरी गोयल, वृन्दावनलाल वर्मा, नोखेलाल शर्मा, जगदीश झा 'विमल', विद्या भार्गव, शकुन्तला कुमारी 'रेणु', स्नेहलता शर्मा, देवदूत विद्यार्थी, कनकमल अग्रवाल 'मधुकर', दीनदयाल दुबे, हरिभाऊ उपाध्याय, देव शर्मा अभय, आनन्द भिक्षु सरस्वती, रामनारायण सिंह, रघुवर नारायण सिंह, महावीर प्रसाद दाधीचि, महावीर शरण अग्रवाल, मोहनलाल महतो

१. 'मन के गीत,' पृ० ५७।

२. वही, पृ० ६१।

'वियोगी', ब्योहार राजेन्द्रसिंह, तथा हरिमोहनलाल वर्मा आदि का नाम लिया जा सकता है। श्री विश्वम्भर 'मानव' की रचनाएँ पहले 'पतझर' नाम से छपी थीं, अब 'अभाव' के नाम से द्वितीय संस्करण में आई हैं। नारी के प्रति इनकी भावना वही है, जो रजनीशजी की है। बड़ी श्रद्धा और भक्ति-भावना से ये नारी के प्रति आत्म-निवेदन करते हैं। कला की दृष्टि से इनके गद्य-गीत बड़े सुन्दर हैं। अन्तिम पंक्ति में जब रहस्य खुलता है तो पूरा गीत चमक उठता है। प्रकृति का भी पूरा योग है। कहीं-कहीं शैली मुक्त-छन्द के निकट पहुँच गई है। श्री शिवचन्द्र नागर का 'प्रणय-गीत' लघु आकार वाले गद्य-गीतों का संग्रह है। प्रेयसी को प्राप्त करने में असमर्थ यह लेखक उसके विरह में अश्रुपात करता है। इन गीतों में आवेश बहुत है। लेखक ने अपनी प्रेयसी के नग्न-सौन्दर्य को देखने तथा यौवन शतदल को छूने की अभिलाषा प्रकट की है। दूसरी ओर का प्रेम भी व्यक्त हुआ है। केदार के 'अधखिले फूल' में भक्ति-भावना के उद्गार हैं। कहीं-कहीं मानवी के प्रति प्रेम की व्यंजना भी हुई है। चन्द्रशेखर 'सन्तोषी' की 'विप्लव-इच्छा' भी इसी कोटि की रचना है। विरह-व्यथा और प्रतीक्षा के चित्र अधिक हैं। एकाध गीत में निर्धनों के प्रति सहानुभूति भी है। द्वारिकाधीश मिहिर के 'चरणामृत' का स्वर भक्ति-भावना का है। सभी गीत प्रार्थना-शैली में लिखे गए हैं। नारायण दत्त बहुगुणा की 'विभावरी' में प्रकृति के माध्यम से परमात्मा तक पहुँचने का प्रयत्न है। कुछ स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण के गीत भी हैं। शैली राय कृष्णदास जी की है। रामेश्वरी गोयल ने अपने 'जीवन का सपना' में कविताओं के साथ गद्य-गीत दिये हैं। विषाद इन गीतों का प्राण है। ये एक ऐसी प्रतीक्षा-रत नारी के उद्गार हैं जिसका मन एक ही क्षण में किसी का हो गया और जिसको फिर वह न पा सकी। और विवशतावश जिसने सुदूर लोक की यात्रा का संकल्प कर लिया। ये गीत व्यंजना-प्रधान हैं। नोखेलाल शर्मा की 'मणिमाला' में कहीं भक्ति है, कहीं वैराग्य; कहीं उन्माद है, कहीं पुलक; कहीं केवल अपनी अनुभूतियों का चित्रण। भावों का वैचित्र्य बड़ा आनन्ददायी है।। अभिव्यक्ति बड़ी स्पष्ट और कहीं-कहीं हृदयग्राही है। जगदीश झा 'विमल' की 'तरंगिणी' में भी ये ही भाव और विचार हैं। विद्या भार्गव की 'श्रद्धांजलि' में गद्य-गीत की टेकनिक का चरम विकास है। छोटे-छोटे गीतों में गम्भीर भाव भरे पड़े हैं। दिनेशनन्दिनी ने जो चमत्कार अरबी-फारसी के शब्दों द्वारा उत्पन्न किया है वह उसने संस्कृत-शब्दावली से उत्पन्न किया है। इसका कारण है उसके गीतों में पवित्र आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना। सूक्त्यात्मक शैली में ऐसे गद्य-गीत कम ही लिखे गए हैं। शकुन्तलाकुमारी 'रेणु' की 'उन्मुक्ति' में आध्यात्मिक प्रेम के उद्गार व्यक्त हुए हैं। बड़ी पवित्र और उच्च अनुभूति से ये गीत रंजित हैं। शैली पर दिनेशनन्दिनी की पूरी-पूरी छाया है। स्नेहलता शर्मा का 'विषाद' किशोर-प्रेम की भावनाओं से पूर्ण है। सहसा मिलकर बिछुड़ जाने वाले और समाज की मर्यादा के कारण न मिल सकने वाले प्रेमी के प्रति व्यक्त किए गए ये उद्गार करुण तो हैं ही, बड़े स्वाभाविक और कसक-भरे भी हैं। देवदूत 'विद्यार्थी' के 'तूणीर' और 'कुमार हृदय का उच्छ्वास' में प्रेम, सेवा और त्याग की भावनाएँ हैं। वियोगी हरि की विचार-धारा और शैली को आत्मसात् करके चलने वाले ये एकमात्र लेखक हैं। राष्ट्र-प्रेम और विश्व-बन्धुत्व इनके गीतों का लक्ष्य है। कनकमल अग्रवाल के 'उद्गार' समाज

और राष्ट्र की अधोगति का चित्रण करते हैं और उनमें विद्रोह की आग है। देवीदयालु दुबे के 'जागृत स्वप्न' में युग की राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण है। बलिदान और उत्साह इन गीतों का प्राण है। हरिभाऊ उपाध्याय के 'बुदबुद' और 'मनन' में गांधीजी की विचार-धारा का अनुकरण है और आध्यात्मिक चिन्तन की प्रधानता है। नैतिक जीवन के लिए उनके विचार निस्सन्देह उपयोगी हैं। देवशर्मा 'अभय' का 'तरंगित हृदय' भी इसी कोटि का है। गांधीजी की राष्ट्रीयता के साथ उनमें गम्भीर दार्शनिकता और आध्यात्मिकता का पुट है। विचारों में मौलिकता है। भाव-गाम्भीर्य की दृष्टि से इनकी रचना बहुत ऊँची है। समाज और राष्ट्र की अधोगति तथा मनुष्य की क्षुद्रता पर करारे व्यंग्य भी हैं। आनन्द भिक्षु सरस्वती का 'सपना' अपनी सती-साध्वी पत्नी के स्वर्गवास पर लिखा गया है, जिसमें आर्य महिला के सभी गुण हैं। २५-२६ वर्ष तक साथ रहने वाली पत्नी के वियोग में लेखक का हृदय टूक-टूक हो गया है। दाम्पत्य-प्रेम का महत्त्व प्रतिपादन करने के साथ ही देश और धर्म की चिन्ता तथा समाज की बुराई के उन्मूलन की ओर भी लेखक का ध्यान है। यद्यपि विषय 'उद्‌भ्रान्त-प्रेम' की शैली वाला है, पर लेखक की जागरूकता ने उसे प्रलाप होने से बचा लिया है। वृन्दावनलाल वर्मा की 'हृदय की हिलोर' आचार्य चतुरसेन शास्त्री की वार्तालाप और स्वगत-कथन की शैली में लिखी प्रेम-भावना-पूर्ण पुस्तक है, जिसमें मिलन-विछोह की अनेक दशाओं के चित्र हैं। रामनारायणसिंह ने 'मिलन पथ पर' में कोकिला, चकोरी, मयूरी, सरिता, ऊषा, चिन्ता, ज्वाला, छाया, माया आदि को सम्बोधित करके उनकी गतिविधि का चित्रांकन किया है और अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ की हैं। सभी स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होने वाली वस्तुएँ ली गई हैं और इसीलिए पुस्तक का नाम 'मिलन पथ पर' रखा गया है। रघुवर नारायणसिंह की 'हृदय तरंग' में ब्रह्म-जीव, प्रेम-विरह, आशा-निराशा, जीवन-मृत्यु आदि पर विचार-परक रचनाएँ हैं, जिनमें मुक्त छन्द की शैली अपनाई गई है। महावीर प्रसाद दाधीचि की 'यौवन तरंग' में नारी के सौन्दर्य और आकर्षण के प्रति कवि के उद्‌गार हैं। सौन्दर्य और यौवन की वृत्ति का विश्लेषण भी अच्छा हुआ है। कहीं-कहीं शृंगार का आभास हो गया है और कहीं-कहीं जीवन-जगत् की समस्या पर विचार किया गया है। महावीर शरण अग्रवाल के 'गुरुदेव' में रवीन्द्र की शैली पर अरविन्द की विचार-धारा से प्रभावित रचनाएँ हैं। मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने 'बन्दनवार' में विभिन्न विषयों पर विचार-प्रधान गद्य-काव्य लिखे हैं, जिनमें मानवीय संवेदनाओं पर विशेष दृष्टि रखी गई है। ब्योहार राजेन्द्रसिंह के 'मौन के स्वर' में जड़-चेतन के भेद को मिटाकर लेखक ने वार्तालाप शैली के छोटे-छोटे गीतों में गम्भीर सत्यों की व्यञ्जना की है। यह हिन्दी में एकदम नया प्रयोग है और खलील जिब्रान से इसकी प्रेरणा मिली है। जैसे शीर्षक है 'लक्ष्य की सिद्धि' और गद्य-गीत है—"बाण ने धनुष से कहा—'तुम इतनी निर्दयता से हमें दूर क्यों फेंक देते हो?' धनुष ने कहा—'जिससे तुम अपने लक्ष्य तक पहुँच जाओ।'" श्री हरिमोहन लाल वर्मा की 'भारत-भक्ति' में स्वतंत्र भारत की स्थिति, राष्ट्रीय पर्व और राष्ट्र-निर्माता गांधी, सुभाष, पटेल आदि पर राष्ट्र-प्रेममय उद्‌गार हैं।

जिन लेखकों की रचनाएँ अप्रकाशित हैं उनमें श्री वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा की 'ऊँचे-

नीचे' पुस्तक, तेजनारायण काक के 'निर्झर और पाषाण' तथा ब्योहार राजेन्द्रसिंह के 'मौन के स्वर' की कोटि की है, जिसमें अन्योक्ति के आधार पर वार्तालाप-शैली पर जीवनोपयोगी बातें कही गई हैं। श्रीमती कान्ति त्रिपाठी की 'जीवन दीप' रचना में पुरुष के प्रति वैसे उद्गार व्यक्त हुए हैं जैसे श्री विश्वम्भर 'मानव', रजनीश और शिवचन्द्र नागर की रचनाओं में नारी के प्रति हुए हैं। भाव-भंगी भी वही। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं में श्री देवीलाल सामर और श्रीमती दिनेशनन्दिनी के उच्चकोटि के गद्य-गीत विशेष रूप से मिलते हैं। इन दोनों में अनुभूति की तीव्रता, कल्पना की उड़ान और कला की पूर्णता मिलती है। 'हंस' की फ़ाइलों में इनके अनेक गीत हैं। 'वीणा', 'सुधा' तथा 'कर्मवीर' की सन् १९३० से सन् १९३५-३६ तक की फ़ाइलें देखने पर कितने ही ऐसे लेखकों द्वारा लिखे गद्य-गीत भी मिलते हैं, जिन्होंने पीछे चलकर इस धारा को बिलकुल छोड़ दिया। उदाहरण के लिए सर्वश्री विनोदशंकर व्यास, प्रभाकर माचवे, कालीप्रसाद 'विरही', निर्मला मित्रा, जनार्दन राय नागर, सत्यवती मल्लिक, सूर्यनाथ तकरू, विष्णु प्रभाकर, जैनेन्द्र कुमार, विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला, सुन्दरलाल शर्मा, रामसिंह, सिद्धराज ढड्डा, शीला भल्ला, गिरधारीलाल डागर, मुन्शीराम शर्मा 'सोम', कुँवर जितेन्द्रसिंह, मुरलीधर दीक्षित, गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन आदि के गद्य-काव्य इन पत्रों में मिलेंगे। वह युग ही जैसे गद्य-काव्य का था।

परिशिष्ट—२

कुछ पत्र[1]

प्रिय श्री कमलेशजी,

आपका ३१-७-५१ का पत्र मिला। आपने जो प्रश्न मुझसे पूछे उनके उत्तर, थोड़ा समय निकालकर, संक्षेप में नीचे देता हूँ—

१. गद्य-काव्य लिखने की स्वयं भाव-स्फूर्ति हुई। जब पहला गद्य-काव्य 'तरंगिणी' नाम का लिखा था, तब रवीन्द्र की 'गीताञ्जलि' का नाम भी मैंने नहीं सुना था। न बंगला से परिचय था; और न तब 'गीताञ्जलि' का हिन्दी-अनुवाद ही हुआ था।

२. मुझे ठीक स्मरण नहीं कि 'तरंगिणी' लिखने के पूर्व गद्य-काव्य की और क्या रचनाएँ थीं। इतना ही याद आता है कि द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति पं० गोविन्द नारायण मिश्र के भाषण का एक अंश मैंने पढ़ा था, जिसकी शैली 'कादम्बरी' की शैली से मिलती थी। उसका अनुकरण अवश्य मैंने 'तरंगिणी' में किया था। शायद उसी समय अथवा उससे कुछ पीछे श्री चतुरसेन शास्त्री की एक पुस्तक, सम्भवतः 'अन्तस्तल', निकली थी। मुझे रायकृष्णदास गद्य-काव्यकारों में सबसे अधिक प्रिय हैं।

३. गद्य-काव्य की परिभाषा मेरी दृष्टि में वही है, जो पद्य-काव्य की है। मैं दोनों में कोई अन्तर नहीं देखता हूँ। छन्द में रसात्मक भावों को बाँधा जाए या स्वच्छन्द रहने दिया जाए, कोई अन्तर नहीं पड़ता। हाँ, संगीत अपने स्वरूप में दोनों ही प्रकारों में रहना चाहिए।

गद्य-काव्य लिखते समय मैंने स्वभावतः रसानुभव किया।

पद्य में मैं उन भावों को उतने अधिक विकसित रूप में कदाचित् नहीं रख सकता था।

४. 'अन्तर्नाद' और 'श्रद्धा कण' के अतिरिक्त मैंने 'तरंगिणी', 'भावना' और 'प्रार्थना' नाम की पुस्तकें लिखी हैं।

आशा है, आपको इन संक्षिप्त उत्तरों से सन्तोष हो जाएगा।

आपका
वियोगी हरि
८ अगस्त '५१

हरिजन निवास
किंग्सवे, दिल्ली-९

१. कुछ प्रतिष्ठित लेखकों के इन पत्रों से गद्य-काव्य-विषयक विभिन्न समस्याओं पर व्यापक प्रकाश पड़ता है।

प्रियवर कमलेशजी,

गाँव से आज ही लौटा हूँ, इसलिए उत्तर कुछ विलम्ब से दे रहा हूँ।

मैं बंगला नाम-मात्र की जानता हूँ। जिन दिनों वे लेख लिखे थे, बिलकुल नहीं जानता था। वे लेख सन् १९२१ से १९२९ तक लिखे गए थे। मन में एक उमंग उठी— या खब्त कहिए, और मैंने उन्हें लिखा।

मुझसे पहले बनारस के रायकृष्णदास ने 'साधना' लिखी थी। उनके पहले और किसी ने लिखा था या नहीं, मुझे नहीं मालूम। राय साहब बहुत करके टैगोर की 'गीताञ्जलि' से प्रभावित हुए थे। मेरी सम्मति में गद्य-काव्य या पद्य-काव्य वही है जिसमें काव्य हो—कवित्व।

पद्य-काव्य गाया या गुनगुनाया भी जा सकता है, गद्य-काव्य हृदय को उल्लसित करने और कल्पना-जगत् में पर उड़ाने की बात है। और कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। उन्हीं दिनों श्री माखनलालजी चतुर्वेदी ने गद्य-काव्यात्मक कई निबन्ध लिखे। वे सब पढ़ने, मनन करने और आनन्दानुभूति की पात्रता रखते हैं। उनको अवश्य पढ़िये। मेरी समझ में गद्य-काव्य के रचयिताओं में वे सर्वश्रेष्ठ हैं।

मेरे वे लेख इस समय मेरे सामने नहीं हैं, 'हृदय की हिलोर' नाम की एक पुस्तक में २०-२२ वर्ष हुए वहीं से छपे थे। मिलने पर भिजवा दूँगा।

झाँसी
दिनांक ३१-३-१९५२

स्नेही
वृन्दावनलाल वर्मा

प्रिय कमलेशजी,

कृपा-पत्र मिला। देरी के लिए क्षमा कीजिएगा। 'भ्रमित पथिक' का दूसरा संस्करण लाला रामनारायणलाल बुकसेलर, इलाहाबाद के यहाँ से अभी निकला है। आप उसे अवश्य पढ़िए। मेरे पास अभी उसकी प्रति नहीं है, अन्यथा मैं अवश्य भेज देता। परन्तु उसका नवीन संस्करण पढ़िएगा। आपके प्रश्नों का उत्तर निम्न प्रकार से है—

१. हिन्दी-गद्य-काव्य-धारा बँगला पर भी आश्रित है और संस्कृत पर भी। जो गद्य-काव्य स्वानुभूति-निरूपक हैं वे अधिकतर रवि बाबू के अनुसार लिखे गए हैं।

२. हिन्दी-गद्य-काव्य के सर्वप्रथम लेखक का मुझे पता नहीं, परन्तु पं० माखनलाल चतुर्वेदी पुराने और प्रौढ़ लेखकों में हैं। कदाचित् उन्होंने ही पहले-पहल लिखा हो।

३. पद्य में छन्दों का बड़ा झंझट है इसलिए लोग गद्य-काव्य लिखते हैं। मैंने भी इसीलिए गद्य-काव्य लिखा है।

४. मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि मुझे गद्य-काव्य लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली।

५. परिभाषा देना सरल नहीं है। मेरी समझ में कल्पना-प्रधान आलेख, जिसमें राग-तत्त्व मिश्रित हो और बुद्धि-तत्त्व नितान्त अप्रधान हो उसे गद्य-काव्य कहेंगे।

६. 'भ्रमित पथिक' का संकेत ऊपर दिया जा चुका है। अन्य कृतियाँ अभी पुस्तक के रूप में नहीं छपी हैं।

विनीत

बी० एन० एस० डी० कॉलेज,
कानपुर

सद्गुरुशरण 'अवस्थी'

ता० २६ दिसम्बर, १९५१

प्रिय कमलेशजी,

७-९-५१ का आपका पत्र मुझे यहाँ दिल्ली से लौटने पर मिला। आपके प्रश्नों का उत्तर क्रमबद्ध रूप से नीचे दे रहा हूँ—

१. गद्य-काव्य का लिखना बाल्य-काल से ही प्रारम्भ हुआ। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इसकी प्रेरणा मुझे पूर्व जन्म के संस्कारों से मिली। गद्य-काव्य से अधिक मैंने कविताएँ लिखी थीं।

२. जहाँ तक मेरे जीवन से सम्बन्ध है, मैं इसका विकास स्वतन्त्र मानता हूँ। हिन्दी-लेखन तथा सम्पादन में काफ़ी परिष्कृत हो जाने पर मैंने 'गीतांजलि' का अंग्रेज़ी अनुवाद पढ़ा था, कारण मैं बँगला अभी तक नहीं पढ़ सका हूँ।

३. मेरे गद्य-काव्य जहाँ-तहाँ पत्रों में प्रकाशित हैं। वे १५-२० से अधिक न होंगे। लगभग पाँच सौ गद्य-काव्य और एक हज़ार कविताओं को मैंने एक दिन अनायास ही जला दिया। मन की मौज ऐसी ही थी।

४. ....

५. मुझे स्मरण नहीं, मुझे कौन-कौन और किस-किसके गद्य-काव्य पसन्द आए, पर जीवन के तारुण्य में श्री चतुरसेनजी के कुछ गद्य-गीत पसन्द आए थे। यह १९२० के लगभग की बात है।

६. जहाँ तक मुझे स्मरण है चतुरसेनजी ने इसका प्रारम्भ किया था। सम्भवतः रायकृष्णदासजी भी उस समय लिख रहे थे। कम-से-कम इन दोनों के गद्य-गीत प्रकाशित होते थे। मैं भी उन दिनों लिखता था, पर अपने गद्य-गीतों के प्रकाशन से मुझे बड़ी घृणा थी और इसलिए वे अप्रकाशित ही रहे।

....

पटना
१८-९-५१

आपका
नन्दकिशोर तिवारी

प्रिय कमलेशजी,

आपका कृपापत्र मिला। मराठी-गद्य-काव्य की परम्परा रविबाबू की 'गीतांजलि' के प्रकाशन से प्रारम्भ होती है, यह मैं आपको लिख चुका हूँ। मराठी साहित्य के इतिहासकार कोरान्ने की 'प्रिया विरह' में भी गद्य-काव्य की झलक पाते हैं। इसका प्रकाशन सन् १९१२ में हुआ था, पर 'प्रिया विरह' ने मराठी साहित्य-जगत् पर कोई छाप नहीं डाली। मैंने मराठी के पण्डितों से जब 'प्रिया विरह' की चर्चा की और उसकी एक प्रति माँगी तो उन्हें अचरज ही हुआ। वे इस लेखक को जानते भी नहीं। अतएव रविबाबू की 'गीतांजलि' जब प्रकाशित हुई तभी उसके अनुकरण पर कुछ गद्य-काव्य लिखे गए। विदर्भ के श्री बलवन्त गणेश खापर्डे ने 'सर्वस्वाचीं गद्य-गाणी' नामक गद्य-काव्य-कृति सन् १९२५ में प्रकाशित की। इसे मराठी की प्रथम गद्य-काव्य-रचना कहा जा सकता है। इन्दौर के श्यामसुन्दर की 'भावना-तरंग' (१९३४), श्री शंकर साठे की 'पदती' (१९३४), कोल्हापुर के कांदलगाँवकर की 'लहर' (१९३५) और 'हृदय-भाव', औंध के 'शशांक' की 'मरीचिका' (१९३६) और 'वर्तिका' (१९३८) तथा नागपुर के क्रान्तिकुमार बुधे की 'हिससेक' (१९५०) मराठी की गद्य-काव्य की रचनाएँ हैं। मराठी साहित्य में गद्य-काव्य का अधिक प्रचलन नहीं है। मुक्त छन्द की कविता तथा भाव-कथा की ओर अधिक सम्मान होने से गद्य-काव्य पनप नहीं सका। जिसमें गद्य-काव्य लिखने की प्रतिभा है वह मुक्त छन्द में कविता लिखता है या भाव-कथा। 'शशांक' के ही गद्य-काव्यों का थोड़ा-बहुत सम्मान है। हिन्दी में गद्य-काव्य की धारा बहुत पुष्ट और मधुर है। दिनेशनन्दिनी डालमिया के 'मौक्तिक माल' का मराठी में अनुवाद हो चुका है। आशा है, इस टिप्पणी से आपका काम चल जाएगा। मराठी में गद्य-काव्य का आशाजनक भविष्य नहीं है।

योग्य कार्य लिखते रहें।

आपका
विनयमोहन शर्मा
नागपुर यूनिवर्सिटी

धर्मपेठ, नागपुर
ता० ६-९-१९५१

प्रिय कमलेशजी,

आपका पत्र मिला। मैं उत्तर देने में बड़ा आलसी हूँ, फिर भी आपकी 'थीसिस' का खयाल करके उत्तर देना ही पड़ा।

विशेष १९१९ ई० से १९२६ ई० तक मैं कविता और गद्य-काव्य ही लिखता था। 'चाँद', 'सुधा', 'माधुरी', 'सरोज' और 'मतवाला' में मेरे गद्य-काव्य प्रकाशित हुए थे—२६ ई० से २८ ई० तक की फ़ाइलों में मिलेंगे।

मैंने न तो व्याकरण का अध्ययन किया और न कोई 'ऐकेडिमिक' शिक्षा ही प्राप्त कर सका। लिखने की प्रेरणा मिली और लिखता रहा। १७ वर्ष की अवस्था से लिखना आरम्भ किया था। इस समय ४९ वर्ष का हूँ। मैंने अपनी रचनाओं में कभी किसी नियम का पालन नहीं किया। बँगला भाषा मैं नहीं जानता, इसलिए उसका कोई भी प्रभाव मेरी रचना पर नहीं है।

प्रवर्त्तक कौन है ? यह तो मैंने कभी निश्चित नहीं किया है। हाँ, प्रसादजी ही सम्भवतः पहले होंगे, क्योंकि उनका रचना-काल १९११ ई० है और उनकी पहली कहानी 'ग्राम' 'इन्दु' में छपी थी। यह कहानी भी एक गद्य-काव्य का रूप है।

मेरी कहानियों को प्रेमचन्दजी गद्य-काव्य ही जानते थे (देखिए 'दिन-रात' प्रेमचन्द की जीवनी में)।

प्रसादजी ने राय कृष्णदास की मित्रता के कारण गद्य-काव्य लिखना छोड़ दिया था (देखिए—प्रसाद की जीवनी—'दिन-रात')। उन दिनों उनकी 'साधना' तैयार हो रही थी।...मेरे प्रकाशित गद्य-काव्य आदि आप चाहें तो टाइप कराकर भेज दूँगा।

....

भेलूपुर, बनारस
११-३-५२

आपका
विनोदशंकर व्यास

प्रियवर कमलेश,

सधन्यवाद वन्दे०। १२।१२ का पत्र जब यहाँ पहुँचा, तब मैं इन्दौर—देवास गया हुआ था। वहाँ से अभी-अभी लौटा हूँ। आपका यह पत्रोत्तर कुछ लम्बा होता एवं दूसरे जरूरी कामों से अवकाश पाकर लिखने बैठा हूँ।

....

गद्य-कव्य हिन्दी की स्वतन्त्र धारा है या बँगला से प्रभावित, अधिक ऐतिहासिक खोज एवं अध्ययन के बाद ही इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दिया जा सकता है, परन्तु ऊपरी तौर पर जो-कुछ भी ज्ञात है उससे यही मानना पड़ता है कि हिन्दी में गद्य-काव्य का प्रारम्भ प्रधानतया बँगला से प्रभावित होकर ही हुआ। यह सत्य है कि एक बार प्रारम्भ होकर हिन्दी में गद्य-काव्य ने अपना सर्वथा स्वतन्त्र रूप धारण किया, जैसे चतुरसेन शास्त्री के गद्य-काव्य; फिर भी इस बात से इन्कार करना कठिन है कि इस शैली या प्रवृत्ति-विशेष का हिन्दी में प्रारम्भ बँगला, विशेषतया रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' की प्रेरणा से ही हुआ था।

गद्य-काव्य का प्रथम हिन्दी-लेखक—इस सम्बन्ध में अधिक खोज के बिना कोई निर्णय या नाम नहीं लिख सकता। वियोगी हरि, राय कृष्णदास या चतुरसेन शास्त्री में तिथि-क्रम से सर्वप्रथम किसका नाम आना चाहिए यह निश्चित करना होगा। यह भी सम्भव है कि इनसे पहले भी कोई अब अज्ञात लेखक भी गद्य-काव्यकार रहा हो। इस सम्बन्ध में २०वीं सदी के प्रारम्भिक बीस वर्षो के मासिक पत्रों की देख-भाल आवश्यक होगी।

मेरे गद्य-काव्यों का प्रारम्भ जुलाई, १९२८ के लगभग हुआ। 'वीणा' का प्रकाशन तब प्रारम्भ हुआ। भावनापूर्ण काव्यमय भाव हृदय में उठते थे और उनको व्यक्त करने के लिए आवश्यक छन्दोगति या लय का अभाव ही था एवं वे गद्य में ही व्यक्त किये गए। अंग्रेजी-काव्य के साथ ही इन प्रारम्भिक दिनों में जिस काव्य ने मेरी भावनाओं को उभारा वह था 'प्रसाद' का 'आँसू'।

गद्य-काव्य की परिभाषा, पद्य से उसका अन्तर। गद्य-काव्य की परिभाषा करना कठिन है। वे सारे काव्यमय भाव छन्दोबद्ध नहीं और जिनमें काव्य या संगीत की गति और लय नहीं हो उन्हें गद्य-काव्य की परिभाषा में लिया जा सकता है। हाँ, कहानी या नाटक गद्य-काव्य की भाषा या शैली में लिखे जाने पर भी किसी प्रकार उस परिभाषा के अन्तर्गत न गिने जा सकते। इस प्रकार भाषा एवं विषय के ही आधार पर छन्दोबद्ध या गतिलय में न जकड़े गए काव्यमय भावोद्‌गार या वर्णनों को ही गद्य-काव्य कहा जा सकता है। हाँ, गद्य में लिखे जाने के कारण गद्य के विभिन्न नियमों का पालन उनमें किया जाना आवश्यक होता है, परन्तु ये नियम बहुत ही थोड़े एवं साधारण गद्य-सम्बन्धी नियमों से विभिन्न नहीं होते। वस्तु-विन्यास-सम्बन्धी नियम गद्य-काव्य या पद्य-काव्य में समान रूप से पाले जाते हैं। शैली, चमत्कार, वस्तु-विवेचना आदि बातों में गद्य के स्वरूप में होते हुए भी ये काव्य पद्य-काव्य से किसी प्रकार भिन्न नहीं हो सकते।

मेरी गद्य-काव्य की कृतियाँ प्रधानतया दो ही हैं—'जीवन धूलि' (जो पहले प्रकाशित 'बिखरे फूल' सरस्वती प्रेस, बनारस का संशोधित-संवर्द्धित संस्करण है) और 'शेष स्मृतियाँ'। 'जीवन-धूलि' की प्रति पार्सल द्वारा भेजी है। साथ में दूसरे प्रकाशित लेख-संग्रह 'जीवन-कण' की प्रति भी भेजी है। शैली-विकास का ठीक अध्ययन कर सकने के लिए 'जीवन-धूलि' के लेखों के नीचे लेखन-काल भी अंकित कर दिया है। 'शेष स्मृतियाँ' का तीसरा संस्करण अब छपकर तैयार हुआ है। प्रतियाँ अभी प्राप्त नहीं हुई हैं। प्राप्त होने पर आपको भेजी जाएंगी।

संक्षिप्त जीवन-परिचय पुस्तकों के साथ भिजवाया जा रहा है।

इस विषय में विस्तृत विचार, सुझाव, निर्देश तथा आवश्यक बातें—

गद्य-काव्य लिखने का प्रयत्न किया है, उनकी विवेचना करके उनकी समीचीनता की सोची नहीं। पुनः लिखते समय जो भी भाव उठते हैं वे लिख देता हूँ। बाद में उन्हें खरादते या सँवारते समय भी उनकी सुन्दरता या चमत्कार के लिए जो सूझता है वैसे उन्हें ठीक कर देता हूँ, इस सम्बन्ध में कोई नियम या कोई बातें मैं अपने सामने नहीं रखता हूँ। हाँ, अपने इन काव्यों के प्रारम्भ एवं अन्त को सुन्दर बनाने की ओर अवश्य विशेष ध्यान दिया जाता है।

गद्य-काव्य में प्रधान बातें विशेषतया भाषा, शैली एवं भाव होते हैं। उनको ठीक तरह से सँवारने के लिए गहरी अनुभूति, भाषा पर पूर्ण अधिकार एवं शब्द-कौशल आवश्यक होता है। इनके लिए कोई सुझाव, निर्देश या नियम नहीं बनाए जा सकते। इस प्रकार की रचनाओं की ओर जिनका सुझाव हो उन्हें चाहिए कि वे अपनी रुचि वाले लेखक की कृतियों को बारम्बार पढ़ें, सम्भवतः कण्ठस्थ तक कर लें। यदि उस लेखक में कुछ भी प्रतिभा एवं अनुभूति होगी तो इस प्रकार पढ़ने से उसकी भावनाएँ जागृत होकर वे अवश्य ही उपयुक्त स्वरूप ग्रहण करेंगी और उसकी अपनी निजी शैली आप ही बन जाएगी। अपनी अनुभूति को उत्तेजित करने एवं भावनाओं को जगाने के लिए उपयुक्त काव्य का पठन भी लाभप्रद हो सकता है।

विषय की नूतनता, शैली का अनूठापन एवं भावों की ताजगी ही गद्य-काव्य को

महत्त्व दे सकते हैं। इनके बिना गद्य-काव्य सुन्दर होते हुए भी अमरत्व नहीं पा सकते। आजकल निरन्तर लिखे जाने वाले गद्य-काव्यों के विस्मृत होकर निःशेष होने का एक-मात्र रहस्य यही है।

सोच-साचकर यदि लिखने बैठूँ तो सम्भवतः इन प्रश्नों पर बहुत-कुछ लिख डालूँगा, परन्तु वह तो अपेक्षित नहीं जान पड़ा। स्वतः जो सूझा वह लिख डाला। उसे बना-सँवारकर लिखने का भी यत्न नहीं किया।

मेरे इन उत्तरों से कहाँ तक आपका उद्देश्य पूरा हो सकेगा यह कहना कठिन है। साधारणतया पूछे गए प्रश्नों के उत्तर देने का मैंने प्रयत्न किया है।

....

रघुबीर निवास
सीतामऊ (मालवा)
२६-१२-५१

भवदीय
रघुबीरसिंह

प्रिय भाई कमलेशजी,

आपका तारीख १६-८-५१ का पत्र यथासमय मिल गया था। आपके पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर संक्षिप्त रूप में नीचे दे रहा हूँ—

मैंने सन् १९३३ ई० से लिखना प्रारम्भ किया। उस समय मैं जयपुर कॉलेज में इण्टरमीडियेट में पढ़ता था। प्रो० रामकृष्णजी शुक्ल 'शिलीमुख' ने पढ़ने के साथ-साथ लिखने की ओर भी रुचि पैदा की। उस वक्त कुछ सामाजिक और साहित्यिक लेख ही अधिकतर लिखे। पर दो-एक गद्य-काव्य भी लिखे गए थे, जो 'माधुरी', 'जागरण' और 'हंस' में प्रकाशित हुए थे। १९३४ ई० में मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में चला गया और वहाँ बी० ए० में पढ़ता था। वहाँ स्व० प्रेमचन्दजी के विशेष सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला। उन्होंने 'हंस' में मेरे जो दो-एक गद्य-काव्य छापे थे, उनकी प्रशंसा कर मुझे उत्साहित किया। श्री प्रेमचन्दजी से मिली हुई प्रेरणा ने मुझे सचमुच बहुत उत्साहित किया और इसी का परिणाम था कि सन् १९३४, ३५ और ३६ में मैंने गद्य-काव्य लिखने की ओर बहुत रुचि रखी और काफ़ी गद्य-काव्य लिखे, जिनमें से अधिकांश तो 'हंस' में ही छपे हैं। 'वेदना' में संग्रहीत गद्य-काव्य अधिकतया उसी ज़माने के हैं। 'वेदना' के प्रकाशन के लिए भी श्री प्रेमचन्दजी की प्रेरणा थी। पर दुर्भाग्य से उसके प्रकाशन के पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया।

मुझे ठीक याद नहीं कि गद्य-काव्य लिखने की मूल प्रेरणा मुझे कैसे हुई। ऐसा याद पड़ता है कि पत्र-पत्रिकाओं में उन दिनों जो गद्य-काव्य निकल रहे थे, उनको पढ़कर उस शैली की ओर झुकाव हुआ और मेरे हृदय की अनुभूतियों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उस माध्यम को अपना लिया। पद्य की ओर कभी मेरा झुकाव हुआ ही नहीं। भूले-भटके एकाध पद्यमय कविता शायद की होगी, ऐसा कुछ-कुछ स्मरण होता है। मैं उन दिनों बनारस में था और वहीं गद्य-काव्य लिखने की प्रवृत्ति शुरू हुई। इसलिए बंगला के गद्य-काव्य की मुझ पर कोई प्रत्यक्ष छाप नहीं पड़ी, परन्तु रवीन्द्रनाथ की पुस्तकें अंग्रेज़ी में मैंने

उन दिनों काफी पढ़ी थीं और उन्होंने गद्य-काव्य की मेरी प्रेरणा और प्रवृत्तियों को पुष्ट किया था। ह्वाल्ट ह्विटमैन की 'लीव्ज़ ऑफ़ ग्रास' नामक पुस्तक भी उसी ज़माने में देखी थी। उस शैली को मैं विशेष नहीं अपना सका। उन दिनों हिन्दी में श्री रायकृष्ण दास, वियोगी हरिजी और शान्ति प्रसादजी वर्मा वगैरा के गद्य-काव्य निकला करते थे और मैं गद्य-काव्य कहीं भी बिना पढ़े नहीं छोड़ता था। इन लेखकों की शैली का असर मुझ पर आया हो तो कोई ताज्जुब नहीं। भावों में रवीन्द्रनाथ से भी मैंने काफ़ी प्रेरणा पाई है।

गद्य-काव्य की शैली मुझे भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में पद्य-काव्य से अधिक रोचक और प्रभावशालिनी लगी है, जितनी लेखक की दृष्टि से, उतनी ही पाठकों की दृष्टि से भी। मैंने गद्य-काव्य इसलिए नहीं लिखे कि उसमें विशेष सुविधा थी। गद्य-काव्य की शैली में अपनी एक विशेषता है। पद्य में छन्द और रीति के नियमों की जो कठोरता और कृत्रिमता आ जाती है, उससे गद्य-काव्य मुक्त रहता है। साधारण दृष्टि से ही मैंने यह बात कही है, वरना पद्य में भी ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिनमें कोमल भाव प्रचुर मात्रा में न हों। गद्य-काव्य जहाँ एक ओर पद्य के रीति-संकोच से मुक्त होने के कारण उससे भिन्न है, उसी प्रकार वह साधारण गद्य से भी भिन्न है। वह गद्य की तरह मुक्त है, परन्तु काव्य की तरह कोमल और भावपूर्ण। किसी-किसी ने गद्य-काव्य की परिभाषा भावपूर्ण गद्य में की है। परन्तु मैं इसे गद्य-काव्य की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं मानता। भाव तो सर्वत्र ही हैं। उसके बिना साहित्य-सृष्टि सम्भव ही नहीं है। शैली में भिन्नता होती है और वह भिन्नता अभिव्यक्ति के रूप-भेद पर आधारित होती है। मैंने ऐसे गद्य-काव्य पढ़े हैं। मेरी 'वेदना' में भी कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनमें भावों की ऐसी अभिव्यक्ति हुई है जो दूसरी शैली में उतनी प्रभावशालिनी शायद न हो।

मैं मनुष्य-जीवन की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं में हमेशा गहरी दिलचस्पी रखता आया हूँ। मेरे लिखने में भी इसका असर आए बिना नहीं रहा। अपने गद्य-काव्यों में भी मैंने मनुष्य-हृदय की भावनाओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और विवेचन को सामने रखा है। गद्य-काव्य हो, अथवा कोई अन्य शैली हो, मैंने साहित्य को कभी साधारण मनोरंजन की वस्तु नहीं माना है। जीवन की गम्भीर और मार्मिक प्रेरणा को मैंने हमेशा साहित्य का प्राण माना है। 'वेदना' में मैंने प्रकृति के अभिराम चित्रों को अपनी कल्पनाओं के सहारे मनुष्य के मनोवैज्ञानिक कार्य-व्यापार के साथ जोड़ दिया है। प्रकृति ने मानो मनुष्य-जीवन के मूल मनोवैज्ञानिक तथ्यों को अभिव्यक्ति दी है।

'वेदना' के प्रकाशन के बाद भी मैं गद्य-काव्य लिखता रहा हूँ, यद्यपि लिखने की गति धीमी काफ़ी हो गई है लेकिन 'वेदना' के परवर्ती गद्य-काव्य में भाषा, शैली और भावों की क्षिप्रता सब-कुछ बहुत बदल गई है। 'वेदना' के गीत जीवन-संघर्ष के किनारे बैठकर लिखे गए थे। बाद के गीत जीवन-संघर्ष में अवगाहन करते हुए लिखे गए हैं। कल्पना से अधिक वास्तविकता आ गई है। जीवन की अनुभूति में फ़र्क़ नहीं पड़ा। परन्तु उसकी अभिव्यंजना में अवश्य अन्तर हो गया है। 'वेदना' में भी कहीं नैराश्य नहीं था। वेदना एक शक्ति थी। उस शक्ति ने संघर्ष के बीच में से भावों के ऊर्ध्वगामी विकास को संबल दिया और मुझे तो लगता है कि जीवन का नृत्य और अधिक प्रभविष्णुता के साथ

परवर्ती कविता में आया। सृष्टि की हर वस्तु ने अपने भीतर के सत्य को कवि की अभि-व्यक्ति में प्रकट किया। इन गद्य-काव्यों का संकल्प अभी तक नहीं हुआ है। पर मेरा ख़याल है कि उनका अपना एक अलग स्थान होगा।

बँगला में गद्य-काव्य की रचना के बारे में आप 'वेदना' में श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की भूमिका देख जाइए। मैं बँगला-साहित्य के बारे में जो-कुछ जानकारी रखता हूँ उसके आधार पर मेरा तो यह मत है कि बँगला में गद्य-काव्य की धारा का बहुत प्रसार नहीं हुआ। श्री चन्द्रशेखर मुखर्जी के 'उद्भ्रान्त प्रेम' की हिन्दी में काफ़ी चर्चा हुई है और आचार्य शुक्लजी ने तो हिन्दी के गद्य-काव्य-लेखकों पर उसका काफ़ी असर भी बताया है। मेरा अपना निजी मत यह है कि हिन्दी में गद्य-काव्य का विकास स्वतन्त्र रूप से ही हुआ है। बँगला में प्रेमेन्द्र मित्र की 'बेनामी बन्दर' नामक पुस्तक भी प्रसिद्ध है।

३४ ए, रतू सरकार लेन, कलकत्ता
३० अगस्त १९५१ ई०

आपका
भँवरमल सिंघी

हिन्दी के गद्य-गीत

नृत्य और गान—गद्य-गीत और गीति-काव्य की विवेचना में छन्दों के रूढ अर्थ और उनकी योजना को छोड़कर यह मान लेना उचित जान पड़ता है कि छन्द एक सुखावह भूमि का नाम है। छन्द गद्य अथवा पद्य में सर्वत्र सम्भव है। इसी प्रकार संगीत श्रवणेन्द्रिय तक सीमित नहीं, उसकी लय-तान हम किसी सुन्दर चित्र के ललित वर्णों और रेखाओं से भी ग्रहण कर सकते हैं और इसी प्रकार सौन्दर्य केवल चाक्षुप ही नहीं, वह हमें संगीत की लहरों में स्नान करता भी दिखाई पड़ सकता है।

तो गद्य-गीत और गीति-काव्य का अन्तर संक्षेपत: नृत्य-गान का अन्तर है। जहाँ एक भूमि पर संवेदना का नृत्य-संलाप हमारे प्रथम स्पर्श में रहता है और संगीत की मीड़-मूर्च्छना पृष्ठभूमि में डूबती-उतराती रहती है वहीं दूसरी भूमि पर संवेदना का द्रवित कंठ हमारे हृदयों में संगीत उँडेलता रहता है और हमारी रसाविष्ट दृष्टि के आगे चिरस्मृति एवं अनुभूति की श्वेत नील छाया पृष्ठभूमि में लहराती रहती है।

जिस प्रकार गेय में समस्त अगेय की वेदना मुखर है उसी प्रकार अगेय में समस्त गेय की वेदना चित्रित-नर्तित है।

गीति-काव्य और गद्य-गीत का अन्तर यही है कि एक गान है तो दूसरा नृत्य। गद्य-गीत सम्भवत: वह है जो या तो संगीत से तिरकर-कढ़कर आया हो या आगे चलकर संगीत में डूब जाए।

हिन्दी-गद्य-गीतों का उत्स

हिन्दी के गद्य-गीतों का उत्स ढूँढ़ने के लिए केवल कवीन्द्र रवीन्द्र के काव्य-मानस तक ही नहीं, उसके आगे के तुषार-शिखरों का आरोहण भी उचित होगा जहाँ हम अमानवीय कण्ठ का स्वरालाप भी सुन सकते हैं। किन्तु नक्षत्र, मरुत्, अग्नि, वरुण और धरित्री

के निभृत गृह की स्वर-सरणि के पश्चात् भी किसी अज्ञात गहन कानन का रहस्य हमारी उत्कण्ठा के अनन्त आरोह का विषय बना ही रह जाता है। ऋक्साम की परिचित धारा सम्भवतः उसी अपरिचित की चूड़ा से झरती है। इस स्वर-नदी-तट पर ही सरस्वती के साधकों की वीणा वजती रही है। इसके अरण्य-पथ में ही हम उपनिषद् के मधुर रहस्य-संलाप श्रवण करते आए हैं। क्या यह असंभव है कि उसी काल का कोई ऋषि हमारे युग में भी रवीन्द्र बनकर आया? उसके मन-प्राणों में उसी पुरातन अरण्य-निवेश से आहृत रहस्य-संलाप का पार्थक्य तो दीख पड़ता है जिससे उसने केवल अपने ही जीवन-याम को पुलकित नहीं किया, प्रत्युत जिसे वह विश्व के यात्रा-पथ पर अपने सहयात्रियों-अनुयात्रियों के लिए भी विकीर्ण करता गया है।

इस प्रकार हम वेद से लेकर उपनिषद्-ग्रंथों में, आर्य संस्कृति के 'रामायण', 'महाभारत' महाकाव्यों में, भगवान् बुद्ध के प्रवचनों एवं विशाल बौद्ध आख्यानों में तथा भास, कालिदास, बाण, भवभूति, दण्डी आदि संस्कृत-कवियों की कमनीयतर काव्य-कृतियों में हिन्दी के गद्य-गीतों का उत्स स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

यह ठीक है कि कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीतांजलि' का अंग्रेज़ी से हिन्दी-रूपान्तर हिन्दी-गद्य-गीतों को एक बड़ा प्रेरक सिद्ध हुआ, किन्तु एक दूसरी धारा भी स्पष्ट है जो सीधी उपनिषद्-स्रोतों से फूटती हुई, भगवान् बुद्ध के तपःक्रम का अभिषेक करती हुई, मध्ययुग के सन्तों के भक्ति-कण्टकित कष्टों का अभिसिंचन करती हुई, क्रूर शासन के निगड में कराहते देश-समाज को आश्वसित-उद्‌बोधित करती हुई, जन-जागरण का मन्त्र फूँकती हुई, क्रान्ति का जयघोष करती हुई तथा अहिंसा और विमुक्ति के अडिग चरणों का पथ सँवारती हुई हिन्दी के विस्तृत धरातल पर उतरी है।

हिन्दी-गद्य-गीतों पर साहित्य का प्रभाव

यदि हिन्दी-गद्य-गीतों का एक सुन्दर संग्रह प्रस्तुत किया जाए तो मेरा अनुमान है कि उसका शतांश भी बंग-साहित्य के प्रभाव से प्रभावित सिद्ध नहीं होगा। गद्य-गीतों की संख्या में मैं केवल 'गीतांजलि' की प्रेरणा पर लिखी गई कतिपय गद्य-गीत-कृतियों को ही सम्मुख रखना नहीं चाहता, प्रत्युत मैं उन समस्त गद्य-गीतों की ओर संकेत करना चाहता हूँ जो भारतेन्दु-युग के लेखकों से लेकर हिन्दी-जगत् के आधुनिक गद्य कलाकार प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला, पंत, राय कृष्णदास, महादेवी, जैनेन्द्र, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, जानकीवल्लभ शास्त्री, मोहनलाल महतो, रामवृक्ष बेनीपुरी, वियोगी हरि आदि द्वारा उनके नाटकों, कथाओं और उपन्यासों के पात्रों के मुख से व स्वतन्त्र रूप से उदीरित हुए हैं।

फिर भी हिन्दी-गद्य-गीतों के इस विशाल रूप को बंग-साहित्य से कुछ प्राप्त नहीं हुआ, यह कहना भी नितान्त कृपणता होगी। हिन्दी-साहित्य में एक कमनीयता, एक संगीत, एक रहस्यात्मकता, एक परिमार्जित अभिव्यक्ति-शैली जो बंगला-साहित्य की ओर से आई है वह स्पष्ट रूप से पहचानी जा सकती है। सन्त रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के ज्ञानाविष्ट उद्‌गारों, कवि रवीन्द्र के लीला-छन्दों एवं शरच्चन्द्र की अन्त-

भेंदी मर्म-कथाओं का अभिनन्दन कौन-सा साहित्य और साहित्यकार न करेगा ! हिन्दी में उनकी दिव्य रत्न-राशि से बहुत-कुछ आहरण किया गया है यह कहना भ्रान्तिमूलक नहीं माना जा सकता।

अन्य युग-साधकों के सुरीले स्वर—हम देखते हैं कि हिन्दी-गद्य-गीतों की मन्दाकिनी में केवल बंग का ही कलानादी संगीत बहकर नहीं आया है, इसमें प्रायः सभी दिशाओं से अनेकानेक शान्त प्रखर, मधुर मुखर प्रवाह आकर मिले हैं :

हिन्दी के गद्य-गीत आप पं० मालवीय और विश्ववन्द्य महात्मा गांधी के शान्त प्रार्थना-स्वर में भी सुनें।

हिन्दी के गद्य-गीत आप बादशाह राम और बादशाह खान-जैसे देवदूतों की बोली में भी सुनें।

हिन्दी के गद्य-गीत पं० जवाहर की लिखी 'मेरी कहानी' में भी पढ़ें, जो बरबस हृदय के आँसू चुराते हैं।

हिन्दी के गद्य-गीत आप दक्षिण सिन्धु के तट पर भाव-मुग्ध खड़े डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के मुख से भी सुनें।

हिन्दी के गद्य-गीतों का पूर्ण परिचय कुछ दर्जन-आधा दर्जन गद्य-गीत-पुस्तकों से कदापि प्राप्य नहीं।

आपका
ब्रह्मदेव शास्त्री

परिशिष्ट—३

काल-क्रमानुसार गद्य-काव्य की कृतियाँ

मौलिक कृतियाँ

सन्	कृति	लेखक
सन् १९११	सौन्दर्योपासक (प्रथम संस्करण)	ब्रजनन्दन सहाय
सन् १९१६	नवजीवन या प्रेमलहरी (प्रथम संस्करण)	राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह
	साधना (चतुर्थ ,,)	राय कृष्णदास
सन् १९१९	तरंगिणी (प्रथम ,,)	वियोगी हरि
सन् १९२१	अन्तस्तल (चतुर्थ ,,)	चतुरसेन शास्त्री
सन् १९२६	अन्तर्नाद (प्रथम ,,)	वियोगी हरि
	मनोव्यथा (,, ,,)	हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश'
	प्रेम लहरी (,, ,,)	मदोन्मत्त
सन् १९२७	कुमार हृदय का उच्छ्वास (प्रथम संस्करण)	देवदूत विद्यार्थी 'शिशु'
	भ्रमित पथिक (द्वितीय ,,)	सद्गुरु शरण अवस्थी
	प्रलाप (प्रथम ,,)	केशवलाल झा 'अमल'
सन् १९२८	हृदय की हिलोर (,, ,,)	वृन्दावनलाल वर्मा
	तरंगिणी (,, ,,)	जगदीश झा 'विमल'
सन् १९२९	छाया पथ (,, ,,)	राय कृष्णदास
	प्रवाल (,, ,,)	,, ,,
सन् १९३०	धुँधले चित्र (,, ,,)	मोहनलाल महतो 'वियोगी
	एक दिन (,, ,,)	
सन् १९३२	भावना (,, ,,)	वियोगी हरि
	चित्रपट (,, ,,)	शान्ति प्रसाद वर्मा
	विप्लव इच्छा (,, ,,)	चन्द्रशेखर सन्तोषी
	वियोग (,, ,,)	लक्ष्मीनारायण [illegible] 'सुधांशु'

सन् १९३३	ठण्डे छींटे	(प्रथम संस्करण)	वियोगी हरि
	भग्नदूत	(,, ,,)	अज्ञेय
	मणिमाला	(,, ,,)	नोखेलाल शर्मा
सन् १९३४	तूणीर	(,, ,,)	देवदूत विद्यार्थी
	मदिरा	(,, ,,)	तेजनारायण काक 'क्रांति'
	हिम हास	(,, ,,)	रामकुमार वर्मा
	उद्गार	(,, ,,)	कनकमल अग्रवाल
सन् १९३६	तरलाग्नि	(,, ,,)	चतुरसेन शास्त्री
	जीवन का सपना	(,, ,,)	रामेश्वरी गोयल
सन् १९३७	शबनम	(चतुर्थ ,,)	दिनेशनन्दिनी डालमिया
	पूजा	(प्रथम ,,)	रावी
	वेदना	(,, ,,)	भँवरमल सिंघी
	विभावरी	(,, ,,)	नारायण दत्त बहुगुणा
सन् १९३८	यौवन तरंग	(,, ,,)	महावीरप्रसाद दाधीच
	मौक्तिक माल	(द्वितीय ,,)	दिनेशनन्दिनी डालमिया
सन् १९३९	शारदीया	(,, ,,)	,, ,,
	शेष स्मृतियाँ	(तृतीय ,,)	महाराजकुमार रघुबीरसिंह
	बुद्बुद	(प्रथम ,,)	हरिभाऊ उपाध्याय
	मरी खाल की हाय	(,, ,,)	चतुरसेन शास्त्री
सन् १९४०	जागृत स्वप्न	(,, ,,)	देवीदयाल दुबे
सन् १९४१	चिन्ता	(,, ,,)	अज्ञेय
	बन्दी की कल्पना	(,, ,,)	परमेश्वरीलाल गुप्त
सन् १९४२	शुभ्रा	(,, ,,)	रावी
सन् १९४३	निर्झर और पाषाण	(,, ,,)	तेजनारायण काक 'क्रान्ति'
	साहित्य देवता	(,, ,,)	माखनलाल चतुर्वेदी
	अभाव	(द्वितीय ,,)	विश्वम्भर 'मानव'
सन् १९४४	दुपहरिया के फूल	(प्रथम ,,)	दिनेशनन्दिनी डालमिया
सन् १९४५	निशीथ	(,, ,,)	ब्रह्मदेव
	उन्मन	(,, ,,)	दिनेशनन्दिनी डालमिया
	वंशी रव	(,, ,,)	,, ,,
सन् १९४६	चरणामृत	(,, ,,)	द्वारिकाधीश 'मिहिर'
	जवाहर	(,, ,,)	चतुरसेन शास्त्री

सन् १९४७	हृदय तरंग	(प्रथम संस्करण)	रघुवर नारायणसिंह
	मिलन पथ पर	(,, ,,)	रामनारायण सिंह
	मन के गीत	(,, ,,)	बालकृष्ण बलदुवा
	अपने गीत	(,, ,,)	,, ,,
	मनन	(,, ,,)	हरिभाऊ उपाध्याय
सन् १९४८	आँसू भरी धरती	(,, ,,)	ब्रह्मदेव
	श्रद्धांजलि	(,, ,,)	विद्या भार्गव
	प्रणय गीत	(,, ,,)	शिवचन्द्र नागर
सन् १९४९	स्पन्दन	(,, ,,)	दिनेशनन्दिनी डालमिया
	बन्दनवार	(,, ,,)	मोहनलाल महतो 'वियोगी'
	श्रद्धा कण	(,, ,,)	वियोगी हरि
सन् १९५१	जीवन धूलि	(,, ,,)	महाराजकुमार रघुबीरसिंह
	विषाद	(,, ,,)	स्नेहलता शर्मा
	मौन के स्वर	(,, ,,)	ब्योहार राजेन्द्र सिंह
सन् १९५२	भारत-भक्ति	(,, ,,)	हरिमोहनलाल वर्मा
सन् १९५३	गुरुदेव	(,, ,,)	महावीरशरण अग्रवाल
	उन्मुक्ति	(,, ,,)	शकुन्तला कुमारी 'रेणु'

अप्रकाशित

ऊँचे-नीचे	बैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा
जीवन दीप	कांति त्रिपाठी

अनूदित कृतियाँ

सन् १९१५	उद्भ्रान्त प्रेम	(चतुर्थ संस्करण)	चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय
सन् १९१६	गीतांजलि		रवीन्द्रनाथ ठाकुर
सन् १९२४	बाग़बान	(गार्डेनर द्वारा किया गया अनुवाद)	गिरिधर शर्मा
सन् १९२८	दूज का चाँद	('शिशु' तथा 'क्रेसेण्ट मून' के कुछ अंशों का रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' द्वारा किया गया अनुवाद)	
सन् १९३१	कलरव	(स्ट्रेवर्ड्स का रामचन्द्र टण्डन द्वारा किया गया अनुवाद)	

सन् १९४०	जीवन सन्देश	('दि प्रौफेट' का श्री किशोरी रमण टण्डन द्वारा किया गया अनुवाद)	खलील जिब्रान
सन् १९४५	पागल	(दी 'मैडमैन' का चौधरी शिवनाथसिंह शाण्डिल्य द्वारा किया गया अनुवाद)	खलील जिब्रान
सन् १९४७	बटोही	('दि वांडरर' का श्री किशोरी रमण टण्डन द्वारा किया गया अनुवाद)	
सन् १९५१	तुर्गनेव के गद्य-गीत	(श्री हरीश रायज़ादा द्वारा किया गया अनुवाद)	तुर्गनेव
सन् १९५१	अन्तरात्मा से		श्री रंगनाथ दिवाकर
सन् १९५६	माता के मन्दिर में		कोमलसिंह सोलंकी
सन् १९५९	पर गूंज रह जाती है		नन्दकिशोर
सन् १९५९	अनुभव, चिन्तन-मनन		मुनि नथमल
सन् १९६३	भाव और अनुभाव		,, ,,

परिशिष्ट—४

लेखकानुसार गद्य-काव्य की कृतियाँ

१. अज्ञेय	भग्नदूत	१६३३
	चिन्ता	१६४१
२. कनकमल अग्रवाल	उद्‌गार	१६३५
३. केशवलाल 'झा' अमल	प्रलाप	१६२७
४. चतुरसेन शास्त्री	अन्तस्तल	१६२१
	तरलाग्नि	१६३६
	मरी खाल की हाय	१६३६
	जवाहर	१६४६
५. चन्द्रशेखर सन्तोषी	विप्लव इच्छा	१६३८
६. जगदीश झा 'विमल'	तरंगिणी	१६२८
७. तेजनारायण काक 'क्रान्ति'	मदिरा	१६३५
	निर्झर और पाषाण	१६४३
८. दिनेशनन्दिनी डालमिया	शबनम	१६३७
	मौक्तिकमाल	१६३८
	शारदीया	१६३६
	दुपहरिया के फूल	१६४४
	वंशी रव	१६४५
	उन्मन	१६४५
	स्पन्दन	१६४६
	शर्वरी	१६६२
६. देवदूत विद्यार्थी	कुमार हृदय का उच्छ्वास	१६२७
	तूणीर	१६४४
१०. देवीदयाल दुबे	जागृत स्वप्न	१६४०
११. नारायणदत्त बहुगुणा	विभावरी	
	श्रद्धांजलि	१६४[illegible]
१२. नोखेलाल शर्मा	मणिमाला	१६३३

१३. परमेश्वरी लाल गुप्त	बन्दी की कल्पना	१६४१
१४. प्रियदर्शी	मधुरिमा	१६६२
१५. ब्रह्मदेव	निशीथ	१६४५
	आँसू भरी धरती	१६४८
१६. बालकृष्ण बलदुवा	मन के गीत	१६४७
	अपने गीत	१६४७
	आदर्श अवसाद और आस्था	१६६२
१७. ब्योहार राजेन्द्रसिंह	मौन के स्वर	१६५१
१८. भँवरमल सिंघी	वेदना	१६३७
१६. भगवतीचरण वर्मा	एक दिन	१६३०
२०. माखनलाल चतुर्वेदी	साहित्य देवता	१६४३
२१. महाराजकुमार रघुबीर सिंह	शेष स्मृतियाँ	१६३६
	जीवन धूलि	१६५१
२२. महावीर प्रसाद दाधीच	यौवन तरंग	१६३८
२३. मोहनलाल महतो 'वियोगी'	धुंधले चित्र	१६३०
	बन्दनवार	१६४६
२४. मदोन्मत्त	प्रेम लहरी	१६२६
२५. महावीरशरण अग्रवाल	गुरुदेव	१६५३
२६. रघुवर नारायणसिंह	हृदय तरंग	१६४७
२७. राय कृष्णदास	साधना	१६१६-१७
	छाया पथ	१६२६
	प्रवाल	१६२६
२८. रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी'	पूजा	१६३७
	शुभ्रा	१६४१
२६. रामकुमार वर्मा	हिम हास	१६३५
३०. रामनारायण सिंह	मिलन पथ पर	१६४७
३१. रामेश्वरी गोयल	जीवन का सपना	१६३६
३२. राजा राधिकारमण प्रसादसिंह	नवजीवन या प्रेमलहरी	१६१६
३३. लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'	वियोग	१६३२
३४. वियोगी हरि	तरंगिणी	१६१६
	अन्तर्नाद	१६२६
	प्रार्थना	१६२६
	भावना	१६३२
	ठण्डे छींटे	१६३३
	श्रद्धा कण	१६४६
३५. विश्वम्भर 'मानव'	अभाव	१६४३

३६. वृन्दावनलाल वर्मा	हृदय की हिलोर	१९२८
३७. ब्रजनन्दन सहाय	सौन्दर्योपासक	१९११
३८. विद्या भार्गव	श्रद्धाञ्जलि	१९४८
३९. शान्तिप्रसाद वर्मा	चित्रपट	१९३२
४०. शिवचन्द्र नागर	प्राण-गीत	१९४८
४१. सद्‌गुरुशरण अवस्थी	भ्रमित पथिक	१९२७
४२. स्नेहलता शर्मा	विषाद	१९५१
४३. हरिमोहनलाल	भारत-भक्ति	१९५२
४४. हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश'	मनोव्यथा	१९२६
	प्रेम लहरी	१९२६
४५. शकुन्तला कुमारी 'रेणु'	उन्मुक्ति	१९५३
४६. कोमलसिंह सोलंकी	माता के मन्दिर में	१९५६
४७. नन्दकिशोर	पर गूँज रह जाती है	१९५९
४८. मुनि नथमल	अनुभव, चिन्तन मनन	१९५९
	भाव और अनुभाव	१९६३

परिशिष्ट—५

सहायक ग्रन्थ-सूची

परिशिष्ट संख्या ३-४ में उल्लिखित गद्य-काव्यात्मक कृतियों के अतिरिक्त जिन अन्य ग्रन्थों से प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में उद्धरणादि की सहायता ली गई है उनकी नामावली इस प्रकार है—

संस्कृत, पालि आदि

ऋग्वेद
अथर्व वेद
ऐतरेय ब्राह्मण
शतपथ ब्राह्मण
तैत्तिरीय संहिता
मैत्रायणी संहिता
मांडूक्योपनिषद्
बृहदारण्यकोपनिषद्
छान्दोग्योपनिषद्
केनोपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
कठोपनिषद्
श्वेताश्वतरोपनिषद्
मिलिन्द प्रश्न
मज्झिमनिकाय
कल्पसूत्र (श्री भद्रबाहु विरचित)
श्रीमद्भागवत
श्रीमद्भगवद्गीता
अग्नि पुराण
साहित्य दर्पण
काव्यादर्श
काव्य प्रकाश
अपरोक्षानुभूति (श्री शंकराचार्य)

हिन्दी

रामचरितमानस
विनय पत्रिका
सूरसागर
कबीर ग्रन्थावली
जायसी ग्रन्थावली
कामायनी — श्री प्रसाद
परिमल — श्री निराला

गुञ्जन	श्री पन्त
यामा	सुश्री महादेवी वर्मा
गद्य-काव्य-मीमांसा	स्व० पं० अम्बिकादत्त व्यास
साहित्यालोचन	श्री बाबू श्यामसुन्दर दास
सिद्धान्त और अध्ययन	श्री बाबू गुलाबराय
काव्य के रूप	,, ,,
काव्य दर्पण	स्व० श्री रामदहिन मिश्र
रीति-काव्य की भूमिका	डॉक्टर नगेन्द्र
कबीर	डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी
तुलसी दर्शन	डॉक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र
दृष्टिकोण	श्री विनयमोहन शर्मा
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डॉक्टर दीनदयाल गुप्त
वाङ्मय विमर्श	श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
नवरस	श्री बाबू गुलाबराय
रस कलश	श्री हरिऔध
रस मंजरी	श्री कन्हैयालाल पोद्दार
अलंकार मंजरी	,, ,,
दर्शन-दिग्दर्शन	श्री राहुल सांकृत्यायन
भारतीय दर्शन	श्री बलदेव उपाध्याय
हिन्दी-साहित्य का इतिहास	आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी-साहित्य का इतिहास	डॉ० रमाशंकर शुक्ल
आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास	श्री कृपाशंकर शुक्ल
आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास	डॉ० श्रीकृष्णलाल
हिन्दी-साहित्य	डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी-साहित्य	श्री रामरतन भटनागर
मैं इनसे मिला	श्री कमलेश
मन के भेद	श्री राजाराम शास्त्री
मनोविज्ञान	डॉ० सरयू प्रसाद चौबे
शिक्षा मनोविज्ञान	,, ,,
नवीन मनोविज्ञान	श्री लालजीराम शुक्ल

अंग्रेज़ी

एनसायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका	
बाइबिल	
इण्डियन फिलासफी	श्री राधाकृष्णन्
सायकालाजी एण्ड मोरल्स	एच० जे० हेडफ़ील्ड

एनरजीज़ ऑफ़ मैन	मेकडूगल
इण्ट्रोडक्टरी लैक्चर्स ऑन सायको एनेलेसिस	फ्रायड
कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ़ उपनिषदिक फिलासफी	श्री राना डे

बँगला

छन्दोगुरु रवीन्द्रनाथ	प्रबोधचन्द्र सेन
रवीन्द्र रचनावली भाग २१	

गुजराती

गुजरातनुं घडतर	रमणलाल वसन्तलाल देसाई
प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ	मुनिश्री जिन विजय

पत्र-पत्रिकाएँ

हरिश्चन्द्र चन्द्रिका	आनन्द कादम्बिनी
हिन्दी प्रदीप	ब्राह्मण
मर्यादा	प्रभा
सरस्वती	विशाल भारत
सुधा	माधुरी
साहित्य सन्देश	साधना
विश्वमित्र	सम्मेलन पत्रिका
हंस	कर्मवीर आदि की फ़ाइल
युगारम्भ	

पुनश्च:

सन् १९४३ में 'प्रथम तार सप्तक' के प्रकाशन से काव्य-जगत् में अतिवैयक्तिक, बुद्धिवादी और हृदय को द्रवित न कर मस्तिष्क को झकझोरने वाली जिस कविता का प्रचार-प्रसार हुआ, उसने अतिभावुकता-प्रधान और कल्पनाप्रसूत गद्य-काव्यों के सृजन को भी धक्का पहुँचाया। किन्तु फिर भी गद्य-काव्य लिखे जाते रहे, यहाँ तक कि प्रयोगवाद और उसके विकसित रूप नयी कविता में भी अनेक गद्य-काव्य के नमूने ढूँढ़े जा सकते हैं। अन्तर केवल यह होगा कि पद्य के रूप में उनके मुक्त छन्द को गद्य पंक्तियों के रूप में लिखना होगा। यदि ऐसा किया जाए तो हजारों ही गद्य-काव्य, गद्य-गीत और उनकी विविध शैलियाँ उनमें समाहित जान पड़ेंगी। फिर छायावाद और प्रगतिवाद के पश्चात् प्रवाहित होने वाली काव्यधारा में बौद्धिक चिन्तन की जिस विशिष्टता को महत्त्व दिया जाता है उसका समावेश गद्य-काव्य की ऐसी चिन्तन-प्रधान रचनाओं में बराबर मिलता है, जिनमें या तो किसी मानव-प्रवृत्ति के विविध पक्षों की व्याख्या मिलती है या विभिन्न दार्शनिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में व्यवहृत शब्दावली की परिभाषा दी जाती है। इन गद्य-काव्य-रूपों में बुद्धि का प्राधान्य होता है और वे नयी कविता के ही सहोदर कहे जा सकते हैं। अन्तर इतना है कि नयी कविता में जिस उलझी हुई संवेदना या विशृंखल चिन्तन को शब्दबद्ध किया जाता है, वह गद्य-काव्य में नहीं मिलता।

यह तो रही बौद्धिकता-प्रधान गद्य-काव्यों की बात। इनके अतिरिक्त भावुकता-प्रधान आत्मनिवेदन वाले वे गद्य-काव्य भी इस बीच लिखे गए हैं, जिनमें मर्म को स्पर्श करने की अपार शक्ति है और जिनमें दिनेशनन्दिनी की मिलन-विरह की आकुलता, राय-कृष्ण दास की शान्त आध्यात्मिकता, वियोगी हरि की देश-प्रेम से परिपूर्ण सेवा-भावना आदि का युगसापेक्ष दृष्टि से समावेश हुआ है। ऐसे गद्य-काव्यों के संकलन एक-दो ही हैं, किन्तु वे इतने सशक्त हैं कि उन्हें पढ़कर यह माने विना नहीं रहा जा सकता कि कुछ अनुभूतियाँ ऐसी होती हैं, जिनके लिए गद्य-काव्य से उपयुक्त माध्यम दूसरा नहीं हो सकता। ऐसी रचनाएँ समग्र पूर्णता लिए हुए अपनी अमिट छाप छोड़ती हैं। यह सच है कि आज गलिदश्रु भावुकता-प्रधान ऐसे गद्य-काव्यों के लिए जलवायु अनुकूल नहीं है, किन्तु वे यह भी तो प्रमाणित करते हैं कि घोर वैज्ञानिकता से उत्पन्न शुष्क चिंतन की मरुभमि में भटकता मानव अपनी प्यास बुझाने के लिए हृदय के स्रोत के निकट पहुंचे बिना शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अस्तु।

इधर गद्य-काव्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय कृतियाँ जिन लेखकों ने दी हैं, उनमें दो पुराने गद्य-काव्य-लेखक श्रीमती दिनेशनन्दिनी और श्री बालकृष्ण बलदुवा अब भी सजग हैं और विकसित रूप में गद्य-काव्यों का सृजन कर रहे हैं। नये लेखकों में चार महत्त्वपूर्ण हैं—**मुनि नथमल, नन्दकिशोर, कोमल सिंह सोलंकी और प्रियदर्शी**। जहाँ तक पुराने लेखकों का सम्बन्ध है, जैन-जगत् के माने हुए सन्त आचार्य तुलसी के शिष्य मुनि नथमल ने '**अनुभव, चिंतन, मनन**' और 'भाव और अनुभाव', दो गद्य-काव्यात्मक कृतियाँ प्रदान की हैं। मुनिजी आध्यात्मिक जगत् में विहार करने वाले हैं, अत: उनके गद्य-काव्यों पर आध्यात्मिक चिन्तन की स्पष्ट छाप होना स्वाभाविक है। आध्यात्मिक चिन्तन में जैन-दर्शन की शब्दावली से प्रेरणा लेना भी उनके लिए अनिवार्य हो गया है। किन्तु, इस सबके होते हुए भी उनका चिन्तन सूक्ष्मता और मौलिकता लिए हुए है। साथ ही जीवन और जगत् की समस्याओं के प्रति वे बराबर जागरूक हैं, इसलिए प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से उनका भी पर्याप्त मात्रा में उल्लेख हुआ है। यों उनके अधिकांश गद्य-काव्य सूक्ति-प्रधान शैली के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु अन्य शैलियों के गद्य-काव्यों का भी उनमें अभाव नहीं है। '**अनुभव, चिंतन, मनन**' में 'अनुभव को देश, काल, क्षेत्र और परिस्थिति की दूरी की समाप्ति और अपने में बाहर की संक्रान्ति माना गया है तो 'चिन्तन' को विकृत से प्रकृत की ओर होने वाली स्फुरणा तथा 'मनन' का तात्पर्य 'ज्ञान और आचरण' की रेखाओं का समीकरण बनाया गया है। इस कृति के गद्य-काव्यों में एक आन्तरिक सुसंगति है, जो लेखक के सुलझे हुए विचारों की देन है। इसी प्रकार 'भाव और अनुभाव' में उनका चिन्तन और भी गहराई लिए हुए है। अपनी इस कृति में भी उन्होंने अनेक समस्याओं पर अपनी दृष्टि से विचार किया है और यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि उनकी दृष्टि में सूक्ष्म का चमत्कार है। वे एक साथ मस्तिष्क को भी झकझोरते हैं और हृदय को भी छूते हैं। उनकी दोनों कृतियों का एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

१. ओ विदेह !
इस रेशमी कीड़े ने अपने हाथों यह जाल कब बुना था ?
यह अभिमन्यु इस चक्रव्यूह में कब घुसा था ?
इसका आदि बिन्दु कहाँ है ?
इसका मध्य बिन्दु कहाँ है ?
ओ विजेता, इस वलय का आदि और अन्त नहीं है।
मैं तेरे उस मुक्त वातावरण में आना चाहता हूँ।
जहाँ जालों, व्यूहों और वलयों की परम्परा नहीं है।[1]

२. जितना प्रयत्न पढ़ने का होता है, उतना उसके आशय को समझने का नहीं होता। जितना प्रयत्न लिखने का होता है, उतना तथ्यों के यथार्थ संकलन का नहीं होता। अपने प्रति अन्याय न हो, इसका जितना प्रयत्न होता है, उतना दूसरों के प्रति न्याय करने का नहीं होता। गहरी डुबकी लगाने वाला गोताखोर जो पा

१. 'अनुभव चिन्तन, मनन' में 'अपनी खोज' शीर्षक गद्य-गीत, पृष्ठ ४८।

सकता है, वह समुद्र की झाँकी पाने वाला नहीं लगा सकता।'[1]

श्री नन्दकिशोर—'पर गूँज रह जाती है' जैसी उत्कृष्ट कलाकृति लेकर गद्य-काव्य के क्षेत्र में आने वाले श्री नन्दकिशोर ने अकेली इसी कृति से अपना नाम सर्वश्रेष्ठ गद्य-काव्य-लेखकों की प्रथम पंक्ति में लिखा लिया है। अपने नाम के अनुरूप इस कृति के एक-एक गद्य-काव्य को पढ़ने के बाद उसकी गूँज पाठक के हृदय में बनी रहती है। यह गद्य-काव्य के रूप में कविता से भी अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली रचनाओं से परिपूर्ण कृति है। इसमें दिनेशनन्दिनी की शैली का चरम विकसित रूप मिलता है।

'पर गूंज रह जाती है' के गद्य-काव्य दो खण्डों में विभाजित हैं। पहले खण्ड में प्रेमानुभूति-विषयक गद्य-काव्य हैं और दूसरे खण्ड में संघर्षशील व्यक्ति के साहस, संकल्प और प्रगतिकामी हृदय के उद्‌गार हैं। पहले खण्ड के अन्त में कवि के जीवन को अपने सौन्दर्य के जादू से प्रभावित करने वाले परदेशी जादूगर के सम्बन्ध में कवि ने कहा है—**"दुनिया साबित करती है कि खून का नाता अधिक गहरा होता है, पर मैंने साबित कर दिया कि स्नेह का सूत अधिक मजबूत होता है···देखने में क्षीण पर अटूट कितना··· चिरंजीवी कितना जय हो, परदेशी के प्यार की जय हो।"** इस कथन को दृष्टि में रखकर जब उसके गद्य-काव्यों पर विचार करते हैं तो उनकी मार्मिकता का सूत्र हाथ आ जाता है। सहसा ही किसी सौन्दर्य-राशि की ओर सहजभाव से ढल जाने के परिणामस्वरूप मिलन और विरह की जो गहरी अनुभूति होती हैं, उसकी ऐसी उज्ज्वल अभिव्यक्ति हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है। गीत जैसी ही लयमुक्त टेक से आरम्भ होने वाले इन गद्य-काव्यों की विशेषता यह है कि वे लम्बे होने पर भी अनुभूति की एकान्विति से भरपूर हैं। बीच-बीच में कबीर, मीरा और नरेन्द्र शर्मा तक के मर्मी गीतों की पंक्तियों को गूँथकर अपनी अनुभूति की गहराई को व्यंजित किया गया है। भाषा तो ऐसी सरस और प्रवाहपूर्ण है कि कवि-हृदय की समस्त पीड़ा उसमें मूर्त हो गई है। कहीं प्रश्नोत्तर, कहीं सम्बोधन, कहीं आत्म-निवेदन, कहीं संलाप, कहीं स्वगत-कथन, कहीं लघुकथा और कहीं सूक्तियाँ— सभी शैलियों के एक ही स्थान पर दर्शन हो जाते हैं।

दूसरे खण्ड में प्रेम से द्रवित हो जाने वाला यही कवि, असंभव को संभव बनाने की शक्ति रखने की घोषणा कर कहता है—**"मुझे पुरइन के पत्ते पर पानी की बूंदों को बिठाना है। धूल बनेगी मोती और विजयश्री चूमेगी पाँव एक दिन जरूर—क्योंकि हूँ मैं पुतला मोम का ही, पर कलेजा इस्पात का है, पंजा फौलाद का है।"**[2] इस खण्ड में जादूगरनी के जादू से मुक्त होकर वह कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ता है। अब वह संघर्ष-पथ के विष को अमृत से अधिक महत्त्व देता है। कल्पना के स्वर्ग से यथार्थ की भूमि पर आकर वह कभी भिखारी, कभी मन्दिर के पुजारी, कभी कलाकार, कभी बलिदानी वीर और कभी समाज के कीटाणुओं पर अपनी रीझ-खीझ प्रकट करता है। यों जीवन के जीवन्त प्रश्नों को छूकर अपने कवि-कर्म का निर्वाह करता है।

उसके गद्य-काव्य की शैली के नमूने देखिए—

१. "दुलहनिया—डोली और अर्थी दोनों ही पिया के घर जाती हैं···एक

---

१. 'भाव और अनुभाव में 'गहरी डुबकी' शीर्षक सूक्ति। २. द्वितीय खण्ड—उद्घोष, पृष्ठ ५६।

पड़ोस में और एक क्षितिज के पार बादलों के देश में···तू यहीं रहेगी, मैं वहाँ चला जाऊँगा। पड़ोस का चाँद दूर के चाँद से खूबसूरत होता है न ! ठीक ही है···दुल-हनिया, सदा-सुहागिन रह। मैं तो चला पिया के देश···नगरिया दूर है···।" आँख भर-कर देख ले तू, मैं न आऊँगा कभी फिर। "देश का नाम अटक है, कोई भी राही भूले-भटके वहाँ से नहीं लौटा है आज तक···मैं भी न लौटूंगा।"[1]

२. सपना—जब अपना सपना हो जाए और सपना विरह-कल्पना, तब नभ में बादल झुकने पर, अपने मन की खिड़की खोले, विरहिणी दूर-दूर तक विरही की डग-रिया ताके, पर विरही उसके मन-सिंहासन पर राजे···दिल में तड़प, नयन में पानी, पग में झनन-झनन पायल बाजे।[2]

श्री कोमलसिंह सोलंकी—श्री नन्दकिशोर की भाँति श्री कोमलसिंह सोलंकी भी एक आदर्शवादी कलाकार हैं और सामाजिक क्षेत्र में कुछ नया करके दिखाने के पक्षपाती हैं। 'माता के मन्दिर' में उनके कुछ गद्य-गीतों का संकलन है। उन्होंने स्वयं इनको 'विचार भावात्मक खण्ड' की संज्ञा दी है, जिनमें कहीं व्यंग्य की छटा है, कहीं लघुकथा की और कहीं गद्यगीतोचित आत्माभिव्यक्ति की। जहाँ नन्दकिशोर में द्रवणशीलता और तल्लीनता का आधिक्य है, वहाँ कोमलसिंह सोलंकी में सर्वत्र संयम और विवेक जाग्रत रहा है। वे यौवन के प्रति आकृष्ट तो हैं पर उसमें डूब जाने के पक्षपाती नहीं। वे निर्बल के प्रतिनिधि हैं और कल के सुन्दर सृजन, अधिकतम सुखभोग तथा अपूर्ण की पूर्णता के लिए नृत्य-गीत-पूर्ण विलास को स्थगित करने की सम्मति देते हैं। उनके गद्यगीतों में कहीं प्रेयसी के प्रति मनुहार और प्रेम-निवेदन है, तो कहीं उसके सौन्दर्य के आकर्षण के फलस्वरूप अपनी मन.स्थिति के बदलते रूपों का अंकन। वस्तुतः उनके लिए मर्यादा का अभूतपूर्व महत्व है, इसीलिए मिलन अथवा विरह की अनुभूति के वर्णन में सर्वत्र पवित्रता का ध्यान रखा गया है। वे अपने से अधिक अपनी प्रेयसी की सामाजिक स्थिति की रक्षा के लिए प्रयत्न-शील हैं। उनके प्रेम का मूल आधार त्यागाश्रित आत्मदान है।

उनके दूसरे प्रकार के गद्यगीतों में समाज, राजनीति, साहित्य आदि पर उनके विचारों का प्रकाशन हुआ है। अपने संघर्षशील जीवन में नैतिकता को लेकर चलने वाले व्यक्ति के विषय में बहुधा नाना प्रवाद उठ खड़े होते हैं, उसे गलत भी समझा जाता है, यहाँ तक कि उसके निकटस्थ व्यक्ति भी उसे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उन स्थितियों में किसी भी व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष में कुछ भी कहे जाने पर स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है। श्री सोलंकी के प्रेम से इतर गद्य-काव्यों का आधार यही स्पष्टीकरण है। उनके शीर्षक भी उन्हीं वाक्यों पर रखे गये हैं जो अन्य व्यक्तियों द्वारा यदाकदा उनके विषय में सम्मति व्यक्त करते समय कहे गये हैं। इन गद्यगीतों की भाषा-शैली में सारल्य और मंथरता ये दो तत्त्व ऐसे हैं जो लेखक के व्यक्तित्व की सादगी और विवेकशीलता के परिचायक हैं। उनके गद्यगीतों की शैली यह है—

१. पर तुम सामने क्यों नहीं आते। पार्श्व में सिसकने की आवाज यह बतला

---

१. 'डोली और अर्थी'—गद्यकाव्य, पृ० २८।

२. 'झनन-झनन पायल बाजे'—गद्यकाव्य, पृ० ३९।

रही है, तुम रो रहे हो, शायद इसी ने मुझे तुम्हारे पास पहुँचा दिया। तुम्हारे शंकालु नेत्रों की झीनी-सी छाया इस पर्दे में से दिखाई पड़ रही है। क्या इसीलिए कि जब मैं आऊँ तो तुम उन्हें बन्द कर लो।

ठीक है यह भेद! अब मेरी समझ में आ गया।[1]

२. अच्छा तो तुम स्नेह, भोग और धन का सामंजस्य खोज रहे हो। हो सकता है, तुम्हारा प्रयत्न ठीक हो। पर मेरी बात सुनो, बड़े अनुभव की बात है।

स्नेह भोग की कठोरता को सहन नहीं कर सकता और धन पाकर तो वह अपने अस्तित्व को भूल जाता है।[2]

समग्रतः देखा जाए तो गद्यकाव्य की ये प्रतिनिधि कृतियाँ साहित्य की अन्य विधाओं के साथ-साथ वैचारिकता की ओर ही अधिक उन्मुख हैं। कल्पना से अधिक यथार्थ उनको भी प्रिय है। यही कारण है कि भाषा-शैली में रंगीनी की अपेक्षा विचारों के वहन की सामर्थ्य ही प्रदर्शित होती है। जब रस को काव्य का आधार मानने पर ही आज प्रश्न-चिह्न लग गया है, कथा-साहित्य ने सर्वत्र अपनी कीर्ति-पताका फहरा रखी है और नैतिक मूल्यों को बहिष्कृत करने में ही आधुनिकता की सिद्धि मानी जा रही है तब भी गद्य-काव्य का सृजन इस बात का पुष्ट प्रमाण देता है कि भाव और विचार की कुछ ऐसी भी स्थितियाँ हैं जिनकी अभिव्यक्ति के लिए गद्यकाव्य से अधिक उपयुक्त दूसरा माध्यम नहीं हो सकता।

श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया—हिन्दी गद्यकाव्य के क्षेत्र में श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया का योगदान सर्वाधिक महत्त्व का है। उन्होंने सबसे अधिक गद्यकाव्यों का सृजन ही नहीं किया, सर्वश्रेष्ठ गद्यकाव्य भी उन्होंने दिये हैं। गद्यकाव्य की विधा की प्रतिनिधि लेखिका के नाते उनका उल्लेख भी निर्भ्रान्त रूप से होता रहा है और आगे भी होता रहेगा।

'शर्वरी' उनकी प्रौढतम रचना है। १०१ गद्यकाव्यों के इस संग्रह के प्रारम्भ में उन्होंने 'दो शब्द' के अन्तर्गत अपने कलाकार जीवन का सिंहावलोकन करते हुए लिखा है—"उषाकाल की 'शबनम' में जो जीवन की झंझा बह रही थी वह अब जीवन की संध्या में शान्त-सी प्रतीत होती है। मुझमें अब एक सहज अन्यमनस्कता आ गई है और 'शर्वरी' के गीत शायद उसी के प्रतीक हैं। जीवन के दुःख धूमायित होना बन्द होकर धधक उठे हैं, फिर भी मेरे लिए यह समझना कठिन है कि उनका अर्थ है अथवा इति। ऋतुओं ने पीठ पर नृत्य कर मेरी देह को क्षीण और स्नायुओं को दुर्बल बना दिया है।···कल्मष नभोमण्डल के नीचे रहकर भी आत्मा को नष्ट करने वाली घृणा को मैंने अपने मन में प्रश्रय नहीं दिया और न मैंने कलाकार में निहित सत्य को ही दूषित होने दिया है।···'शर्वरी' में मैंने शाश्वत तत्त्व को शाण पर चढ़ाकर उसके शत-शत पहलुओं को कातर जगत् की शान्ति और व्याकुल विश्व की सान्त्वना के लिए वाष्प गद्‌गद कण्ठ से पेश किया है।"

हम दिनेशनन्दिनीजी के इस स्पष्टीकरण से पूर्णतः सहमत हैं। सचमुच इनके [illegible] गद्यकाव्यों में उनकी ढलती वय की प्रौढ अनुभूति दार्शनिक अभिव्यक्ति में बदल गई है।

---

१. 'क्यों छिपाते हो' शीर्षक गद्यगीत, पृ० १८।

२. 'तुम क्या चाहते हो' शीर्षक गद्यगीत, पृ० ३६।

उन्होंने जीवन को एक सच्चे कलाकार की भाँति गहराई से भोगा और जिया है। प्रारम्भ में ही उन्होंने अपने को 'आत्मिक चेतना की अधिष्ठात्री देवी' के रूप में सम्बोधित कर आनन्दवर्षी संगीत द्वारा ज्ञान-सिद्ध कविता को जन्म देने की बात कही है, जिससे प्राणिमात्र शुद्ध-बुद्ध सत्य स्वरूप का रसास्वादन कर सके। हम इस प्रथम गीत को मंगलाचरण के रूप में ले सकते हैं। 'शर्वरी' के अन्तिम गीत में उन्होंने अपने गीतों को 'ऋचा' संज्ञा दी है और आशा की है कि वे अणुयुग के मनुष्य के कठोर हृदय को श्याम के चिरन्तन प्रेम के सन्देश से दयार्द्र कर उनमें मनु-निर्मित मानवता की मूर्ति प्रतिष्ठित कर सकेंगे। यों प्रथम और अन्तिम गीत दो तट हैं, जिनके बीच 'शर्वरी' के गद्यगीतों की धारा प्रवाहित है। इस धारा में राधा और माधव के विविध जीवन-प्रसंगों के माध्यम से शाश्वत प्रेम का सन्देश दिया गया है। जब मनुष्य सांसारिक सुख और ऐश्वर्य की निस्सारता को हृदय से अनुभव करता है तब उसे इस संसार के परे की किसी सत्ता को आत्म-समर्पण कर सन्तोष-लाभ करना पड़ता है। दिनेशनन्दिनीजी अनुभव करती हैं कि "राजप्रासाद में द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्ष-लोक के समस्त ऐश्वर्यों की स्वामिनी होने पर भी वे अपने ही गेह में बन्दिनी बन गई हैं, इसलिए सामंजस्य और सद्भावना के प्रतीक गोविन्द को अपने सर्वस्व की पूर्णाहुति देकर उसी की हो गई हैं। जब प्रभु के चरणों में ऐसा समर्पण होता है तब निश्चय ही ऐसा आभास होने लगता है कि हम जो कुछ कर रहे हैं वह उसी के निमित्त कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि दिनेशनन्दिनीजी यह अनुभव करें कि 'मैंने उस दिव्य चिर-प्रेमी के लिए ही ये गीत गाए हैं', तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

'शर्वरी' के कई गीत ऐसे हैं जिनमें यौवन-वसन्त के बीत जाने की कसक समाई हुई है। जरा-पतझड़ के आने की पदचाप को भी इन गीतों में सुना जा सकता है। एक गीत में वे लिखती हैं—**"असमय में यौवन-सूर्य को जरा के घने मेघों ने ढक लिया है। ये नेत्र अश्रुकूप बन गये हैं फिर भी मैं कल की प्रकाश-कलियों का अभिवादन करने के लिए जिन्दा रहूँगी।"** (गीत संख्या ८) विवशता-भरे इस जीवन से मुक्त होकर आत्मा उस अनन्त के सम्पर्क में आना चाहती है, किन्तु वैभव के आकर्षण-पाश को छिन्न-भिन्न करना उसके लिए कठिन है। दिनेशनन्दिनीजी ने इस तथ्य का संकेत भी बार-बार दिया है।

यह सब होने पर भी राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला के प्रसंग में उनके गीतों में शृंगार-भावना अभिव्यक्त हुई है। न केवल राधा वरन् कुब्जा और कृष्ण के प्रेम को भी इन गीतों में चित्रित किया गया है। इस सबके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दिनेशनन्दिनीजी में परमवैष्णव भाव का उदय हुआ है, जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने हृदय की उमंगों को प्रभु के समक्ष निवेदित किया है। अब तक वे प्रणय-स्वप्नों को सांकेतिक भाषा में व्यक्त करती रही थीं, किन्तु अब वे प्रभु के सान्निध्य से, उसके उज्ज्वल चरित्र के गान से परिपूर्णता प्राप्त करना चाहती हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने कभी अपने गत जीवन का सिंहावलोकन किया है, कभी अपने स्वप्नों का उल्लेख किया है, कभी अपनी ऊर्ध्वमुखी साधना का परिचय दिया है। अब प्रभु की आराधना के लिए उनके पास 'हृदय-मधु' और 'कविता-कुसुम' ही शेष रह गए हैं। उन्हीं से वे मेघों के परे सूर्य-मण्डल में स्थित अपने

आराध्य की पूजा करती है। यों उनकी वृत्तियाँ अलौकिकता की ओर उन्मुख हैं। किन्तु अब भी उनके गीतों में मांसलता का स्पर्श बराबर बना हुआ है, भले ही वह उसकी निस्सारता सिद्ध करने के लिए ही क्यों न हो ? एक गीत में वे लिखती हैं—**"किसी को प्यार कर जीवन-ऋचा का अर्थ न समझ लूं तब तक मैं प्राणी-लोक से परलोक की तीर्थयात्रा के लिए न निकलूँगी; मरण कुहासा प्राण सूर्य को अपने आचरण से न ढके जब तक किसी का प्रेम मेरे हृदय में आलोक के गीत भर काल-पथ को रंजित न करें।"** (गीत ६७) सांसारिक प्रेम में अपूर्ण रह जाने का अनुभव करने वाला कलाकार ही यह लिख सकता है। यही कारण है कि यमुना पुलिन के वन-देवता से दधि-दान माँगने वाले कृष्ण की शिकायत करते समय कृष्ण द्वारा कसी हुई कंचुकियों की कसों और नीबियों की ग्रन्थियों को ढीली करने की अशिष्टता की चर्चा है, (गीत संख्या ६३) तो राधा रानी के रूठकर झेंप के चले जाने पर उसके श्रृंगार-प्रसाधन और शून्य शैया को देखकर कृष्ण के मन में उठने वाले उद्‌गारों का भी वर्णन है। लेकिन इतना होने पर भी उसमें विलास-लालसा का वह उद्दाम आलोड़न नहीं जो पहले की रचनाओं में मिलता था। यह सब तो भक्त कवियों के श्रृंगार के समक्ष ही रखा जा सकता है। समग्रत: 'शर्वरी' आयुष्पथ का नानारंगी गीत है जिसे उस महापुरुष की आश्रित चरणदासी रविनन्दिनी ने सागर-तट से प्रकट होकर, अर्चना की पार्थिव प्रतिमा का विसर्जन कर समाधि पर यह क्षुद्र दीप की भाँति प्रज्ज्वलित किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दिनेशनन्दिनी ने गद्य-काव्य की विधा को 'शर्वरी' के गद्य-गीतों से नई शक्ति और नई भंगिमा प्रदान की है।

श्री बालकृष्ण बलदुवा—श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया की भाँति श्री बालकृष्ण बलदुवा भी गद्य-काव्य-लेखकों में अपनी निजी शैली के लिए प्रख्यात हैं। वे भी निरन्तर इस विधा को समृद्ध करते रहते हैं। इस बीच उनके गद्य-काव्यों का एक संग्रह **'आदर्श, अवसाद और आस्था'** नाम से निकला है। जैसा कि नाम से ध्वनित है, बलदुवाजी आदर्श और मर्यादा के समर्थक हैं। उन्होंने 'कविता मेरे लिए' शीर्षक से अपने विषय में लिखा है—"मैं दुनिया के रास्ते नहीं चल पाया। ठोकरों ने मुझे रुलाया अवश्य पर भुलाया नहीं। कुछ बातें अच्छी लगीं यौवन में और वे तभी मुझमें ऐसी रल-मिल गईं कि अब मुझे नवीनतम आधुनिक (ultra modern) नहीं बनने देतीं। नैतिकता, कर्तव्य, सचाई, आदर्श, सिद्धान्त आदि का जो अर्थ और महत्त्व तब मन में समाया, वह समाया ही रह गया।" इस सबका अभिप्राय यह है कि बलदुवाजी ने जो मार्ग चुन लिया है, उसी पर बढ़ते जाते हैं और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने सिद्धान्तों को समझौते के चरणों में झुकने की अनुमति नहीं देते। वे ज़िन्दगी को देखते और ज़िन्दगी को लिखते हैं। कुछ लोग और भी हैं जो ज़िन्दगी को देखने और ज़िन्दगी को लिखने का दावा करते हैं, पर वह दावा बहुधा सत्य नहीं होता। बलदुवाजी सचमुच ही ज़िन्दगी जीते और ज़िन्दगी लिखते हैं।

'आदर्श, अवसाद और आस्था' के तीन खण्ड हैं। एक इसी नाम का है। दूसरा 'मन और मस्तिष्क' शीर्षक लिए और तीसरा 'चिन्तन का सूत्र' है। प्रथम खण्ड में आराध्य की प्राप्ति को अपना लक्ष्य घोषित करके सांसारिक वैभव और कीर्ति को तुच्छ ठहराया गया है। वही उनका आदर्श है। उसी पर दृष्टि होने से वे जीवन के मधुर-तिक्त अनुभवों

को जीवन-पथ का पाथेय समझते हुए बटोरे चलते हैं। नितान्त अभावग्रस्त जीवन में भी वे सन्तुष्ट हैं और समस्त मानव-सृष्टि के प्रति प्रेम की व्यंजना द्वारा अपने को धन्य करना चाहते हैं। उनका हृदय अत्यन्त भाव-प्राण है क्योंकि वे मनुष्य हैं, ऋषि या देवता नहीं। कर्त्तव्य-परायणता उनका स्वभाव है। इसीलिए वे कहते हैं—"कुछ सन्तोष भी है कि अपनी ही व्यथा-वेदना में गर्व नहीं हो गया। रोया, चीखा, तड़पा; पर आदमी बना रहा और आदमी भी हारा-थका नहीं। थक-थककर भी आगे ही मंज़िल की ओर बढ़ने वाला।" कारण, भीतर में संघर्षों से हारने पर भी उनका चरित्र निखरता गया है। उनकी आस्था दृढ और आदर्श स्पष्ट होता गया है। और उनका आदर्श क्या है, यह उन्हीं के शब्दों में देखिए—"मेरा आदर्श है—स्वयं में मानव बने रहना और पास-पड़ोस में, दूर-निकट में, चतुर्दिक् मानवता की रक्षा, संवर्द्धन और परिपुष्टि।" वे बार-बार अपने घावों, आघातों और प्रहारों की चर्चा करते हैं, किन्तु साथ ही आगे बढ़ने, अन्याय के समक्ष नत, न होने, पौरुष की पूँजी पर गर्व करने और प्रभु के प्रति समग्र भाव से आत्मसमर्पण की भी बात कहते हैं। अपनी कमियों का उनको ज्ञान है, पर उन्हें समझकर आगे बढ़ने के पक्ष में हैं।

दूसरे खण्ड में भी केन्द्रीय भाव तो वही आस्था और आदर्श का है, पर उसमें वे अपने व्यक्तिगत जीवन से अधिक समष्टिगत जीवन की ओर अधिक उन्मुख हैं। मानवता और विश्वास से आत्मा का तादात्म्य उनका ध्येय है। इसके साथ-साथ वे त्याग, आदर्श और यथार्थ आदि का विवेचन करते हैं। होता यह है कि किसी सांसारिक व्यापार, प्राकृतिक दृश्य अथवा पारस्परिक व्यवहार से ही एक विचार उठता है और गद्य-काव्य बन जाता है। आत्म-निरीक्षण और आत्म-परिष्कार की चेष्टा भी इन गद्य-काव्यों का ध्येय है। तीसरे खण्ड में कुछ सूक्तियों का संग्रह है, जो अनुभव की गहराई लिए हुए है। उदाहरण के लिए सफलता-असफलता पर यह सूक्ति द्रष्टव्य है—"**सफलता से प्रेरणा लें, असफलता से सीख, तो दोनों का सदुपयोग हुआ जीवन के विकास में। सफलता से अहम जगे, असफलता से हतोत्साह, तो दोनों का दुरुपयोग हुआ जीवन के विनाश में।**"

समग्रत: बलदुवाजी के इन गद्य-गीतों में उनके चिन्तक रूप की प्रधानता है, और ऐसा होना स्वाभाविक है। इतना होने पर भी ये गद्य-गीत अपनी सहज अभिव्यक्ति के कारण हृदय को छूने की सामर्थ्य रखते हैं। आत्म-निवेदन, आत्म-विश्लेषण और आत्म-विश्वास की त्रिवेणी में स्नान करना हो तो '**आदर्श, अवसाद और आस्था**' के गद्य-गीतों का पारायण किया जा सकता है।

श्री प्रियदर्शी—नये गद्य-काव्य-लेखकों में श्री प्रियदर्शी का भी उल्लेख आवश्यक है, जिन्होंने ४० गद्य-गीतों का '**मधुरिमा**' नामक संग्रह प्रकाशित कराया है। ये गद्य-गीत आकार में छोटे हैं, पर इनमें तीक्ष्णता पर्याप्त मात्रा में है। प्रेयसी को लक्ष्य करके लिखे जाने वाले इन गद्यगीतों में कहीं उसके अधरों के फूलों से उसके आँसुओं की तुलना है तो कहीं इन्द्रधनुष से उसकी भ्रू भंगिमा की। उषा और संध्या, प्रकाश और अन्धकार—सभी में उसे अपनी प्रेयसी का संकेत मिलता है। मिलनातुर हृदय की कथा तो सर्वत्र व्याप्त है।

इन गीतों की विशेषता यह है कि इनमें मांसलता का नितान्त अभाव है। प्रेयसी की सौन्दर्य-सुषमा का नाना प्रकार से आख्यान होने पर भी इनमें एक दिव्यता है, जो इन्हें आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचा देती है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

"तुम्हारी पलक झुकी तो संध्या और जब तुम्हारी पलक खुली तो प्रभात।
तुम अपनी आँखें मूंद लो तो प्रलय की सांस दूभर हो जाय।
ओह ! कितना प्रभाव डालता है तुम्हारी पलकों का गिरना और उठना, देव !

• • •